केरण-8

# श्री जवाहर किरणावली

# सम्यक्त्व पराक्रम

## भाग-३,४,५

प्रवचनकार

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

सम्पादक

पं. श्री शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशक :
**श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३**

प्रकाशन सौजन्य :
**श्री सुजानमलजी कर्णावट, बैंगलोर**

संस्करण :
सप्तम सन् २००६



मूल्य पचास रुपये मात्र

मुद्रक
कल्याणी प्रिन्टर्स
अलख सागर रोड, बीकानेर
दूरभाष २५२६८६०

# प्रकाशकीय

साधुमार्गी जैन–परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे, अपने युग के क्रातदर्शी, सत्यनिष्ठ, तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व, प्रतिभा–सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक, सार्वभौम और मानवमात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नही, अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज बन गया। उन्होने व्यक्ति, समाज, ग्राम, नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक् प्रयास अपने प्रेरणादायी उद्‌बोधनो के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा मे आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया, साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियो के जीवन–वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया हे। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्‌बोधन से लाभान्वित हो रही हे। इसी क्रम मे सम्यक्त्व पराक्रम भाग–3,4,5 किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत हे। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेगे।

युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का महाप्रयाण भीनासर मे हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने और आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग मे जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण, कर्मनिष्ठ, आदर्श समाजसेवी स्व सेठ चम्पालालजी बाठिया का चिरस्मरणीय, श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासो और समाज के उदार सहयोग से श्री जवाहर

विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। सस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व मे सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियो का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद मे सस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासो से किरणावलियो की सख्या बढाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्राय बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ मे यह निर्णय किया गया कि किरणावलियो को नया रूप दिया जावे। इसके लिए सस्था के सहमत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियो को एक साथ समाहित किया और पुन सभी किरणावलियो को 32 किरणो मे प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म सा के साहित्य के प्रचार–प्रसार मे जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने मे श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। सघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी सगठन और कार्यकर्ताओ के बल पर जवाहर किरणावलियो के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन मे अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज सघ के प्रयासो से यह जीवन–निर्माणकारी साहित्य जेन–जैनेतर ही नही, अपितु विश्व धरोहर बन चुका है। सघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हे।

धर्मनिष्ठ–सुश्राविका श्रीमती राजकुवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ मे समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व मे लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सोजन्य से प्रकाशित की गई थी। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला सस्करण श्रीमान् घीसूलालजी, सम्पतलालजी एव मनसुखलालजी कटारिया हुबली के सोजन्य से प्रकाशित किया गया ओर प्रस्तुत किरण 8 (सम्यक्त्व पराक्रम भाग–3,4,5) के अर्थ–सहयोगी श्री सुजानमलजी कर्णावट, बैंगलोर हैं। सस्था सभी अर्थ–सहयोगियो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

*निवेदक*

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मत्री

# आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

## जीवन–तथ्य

| | |
|---|---|
| जन्म स्थान | थादला, मध्यप्रदेश |
| जन्म तिथि | वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी |
| पिता | श्री जीवराजजी कवाड |
| माता | श्रीमती नाथीबाई |
| दीक्षा स्थान | लिमडी (म प्र) |
| दीक्षा तिथि | वि स 1948, माघ शुक्ला द्वितीया |
| युवाचार्य पद स्थान | रतलाम (म प्र) |
| युवाचार्य पद तिथि | वि स 1976, चैत्र कृष्णा नवमी |
| आचार्य पद स्थान | जैतारण (राजस्थान) |
| आचार्य पद तिथि | वि स 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया |
| स्वर्गवास स्थान | भीनासर (राज) |
| स्वर्गवास तिथि | वि स 2000, आषाढ शुक्ला अष्टमी |

# आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

## आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

- विपत्तियो के तमिस्र गुफाओ के पार जिसने सयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।
- सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।
- परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव–गाव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस मे खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारभ–महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर सम्मेलन मे गहरे चितन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मा गाधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय–समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू–मडल पर विचरण करते थे।

# "हुक्म संघ के आचार्य"

1 आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा – दीक्षा वि.स 1870, स्वर्गवास वि स 1917

ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।

2. आचार्य श्री शिवलालजी म.सा – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933

प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।

3 आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि स 1954

विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादीमान–मर्दक, विरक्तो के आदर्श विलक्षण।

4. आचार्य श्री चौथमलजी म सा – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि स 1957

महान क्रियावान, सागर सम गभीर, सयम के सशक्त पालक, शात, दात, निरहकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।

5 आचार्य श्री श्रीलालजी म सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977

सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।

6 आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि स. 2000

ज्योतिर्धर, महान क्रातिकारी, क्रातदृष्टा, युगपुरुष।

7 आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि स 2019

शात क्राति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।

8 आचार्य श्री नानालालजी म.सा – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि स 2056

समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण–ध्यानयोगी।

9 आचार्य श्री रामलालजी म.सा – दीक्षा 2031, आचार्य वि स 2056 से

आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिबोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशातमना।

### अर्थ–सहयोगी परिचय

# संघरत्न् शासनगौरव परम् गुरुभक्त श्री सुजानमलजी कर्णावट, बैंगलोर

मनुष्य जीवन को सार्थक करने हेतु धन के विसर्जन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। व्यक्ति सिर्फ अर्थोपार्जन करे और विसर्जन न करे तो यह मानवीय मूल्यो का उचित सम्मान नही है। लेकिन जो व्यक्ति लक्ष्मी के अर्जन के साथ–साथ उसके विर्सजन को भी पूर्ण महत्व प्रदान करता हे उसका जीवन ही सार्थक है। इसी सार्थकता का दूसरा नाम है वैंगलोर निवासी परम् गुरुभक्त, अन्नय निष्ठावान, सघरत्न शासनगौरव श्री सुजानमलजी कर्णावट।

मध्यप्रदेश की औद्योगिक नगरी इन्दौर मे जन्मे श्री सुजानमलजी कर्णावट ने अपने पिता श्री प्यारचदजी एव माता से सद्सस्कार प्राप्त किये। यही उन्ही के सुसस्कारो का प्रतिफल है कि आज श्री कर्णावटजी ने व्यावसायिक, धार्मिक, सामाजिक शैक्षणिक आदि क्षेत्रो मे महनीय कर्मठ कार्यो से न केवल कुल परम्परा को यशस्वी बनाया है, अपने उज्जवल कृतत्व से जिनशासन को भी गौरवान्वित किया है।

हुक्मगच्छ के परम् प्रतापी जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म सा से लेकर वर्तमान आचार्य प्रवर श्री रामलालजी म सा के शासन के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित कर्णावट परिवार धर्मसघ की सभी प्रवृत्तियो मे सक्रिय योगदान देने के लिए सदा ही अग्रसर रहा है। साहित्य प्रकाशन मे तो आपका स्थान सर्वोपरि है। सपूर्ण दक्षिण प्रात मे श्री कर्णावटजी अपने मधुर व्यवहार एव सौम्यशैली के कारण विनम्रता के प्रतीक के रूप मे माने जाते है आपके सरल स्वभाव एव शासन के प्रति समर्पणा को देखकर वर्तमान मे आप श्री अ भा साधुमार्गी जेन सघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष पद पर सुशोभित है। पद एव प्रतिष्ठा से कोसो दूर श्री कर्णावटजी पूर्व मे भी सघ एव अन्य सस्थाओ के अनेक पदो पर प्रतिष्ठित रहे व मानव सेवा के अनेक आयामो को गति प्रदान की।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती गुणमालाजी कर्णावट भी आपके आदर्श पद चिन्हो पर चलते हुए नारी समाज का गोरव बनी हुई है एव आप भी सदैप मुक्तहस्त से समाज एव मानवता का कल्याण मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

उन्ही श्रावकरत्न श्रीसुजानमलजी कर्णावट की दिखाई राह पर चलने वाले युवा हृदय श्रीकिशोरकुमारजी—श्रीमती नन्दाजी तथा दीपककुमारजी—श्रीमती रेखाजी पुत्र एव पुत्रवधुए भी आपही की तरह सघ, समाज, जिनशासन तथा गुरुभगवन्तो के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हे।

कर्णावट परिवार भाग्यशाली है कि उन्हे ज्योतिर्धर युग पुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा के साहित्य के मुद्रण का सोभाग्य प्राप्त हुआ है।

मैं श्री कर्णावट को इस हेतु अपनी ओर से हार्दिक शुभभाव प्रेषित करते हुए शासनदेव से प्रार्थना करता हू कि वे इसी तरह से आचार्य भगवन् के शासन के चहुमुखी विकास मे अपना समर्पण एव योगदान प्रदान करते हुए कालजयी बने रहे।

# अनुक्रम

# इक्कीसवां बोल

## परिवर्तना

प्रतिपृच्छना का विचार करने के पश्चात् यहा परिवर्तना–परावर्तना (शास्त्र की आवृत्ति) करने के विषय मे विचार करना है। इस विषय मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है–

### मूलपाठ

**प्रश्न– परियट्टणयाए णं भंते! जीवे किं जणइ?**

**उत्तर– परियट्टणयाए णं वंजणाइ जरणेंइ, वंजणलद्धि च उप्पाएइ।**

### शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! सूत्र सिद्धान्त की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–बार–बार सूत्र की आवृत्ति करने से विस्मृत व्यजन (अक्षर) याद हो जाते है और उससे जीव को अक्षरलब्धि और पदानुसारी लब्धि प्राप्त होती हे।

### व्याख्यान

सूत्र की वाचना लेने के पश्चात् प्रतिपृच्छना द्वारा सूत्रो और अर्थ को असदिग्ध बना लिया जाता हे। मूल सूत्र ओर अर्थ की बार बार आवृत्ति न की जाये अर्थात् उन्हे पुन–पुन फेरा न जाये तो सूत्र ओर अर्थ का विस्मरण हो जाता हे। अतएव सूत्र ओर अर्थ की आवृत्ति करते रहना चाहिए। यहा भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि अर्थ की आवृत्ति करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता ह?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– सूत्र अर्थ की आवृत्ति करने से व्यजनो का लाभ होता है। भूले हुए व्यजन याद आ जाते हैं और साथ ही साथ पदानुसारी लब्धि भी प्राप्त होती हे।

जैसे दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता हे, उसी प्रकार व्यजन भी भाव–पदार्थ को प्रकाशित करता हे। व्यजन व्यजक अर्थात् प्रकाशक हे। जेसे अधकार मे रखी हुई वस्तु प्रकाश के अभाव मे दृष्टिगोचर नही होती, उसी प्रकार आत्मा व्यजनो के ज्ञान के अभाव मे वस्तु का ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। व्यजनो का ज्ञान होने से आत्मा बाते जान सकता हे। यह कहावत तो प्रचलित ही है कि पढे–गुने के चार आखे होती हे, अर्थात् उसके दो चर्मचक्षु तो होते ही हैं, पर पढने–लिखने से हृदय के नेत्र भी खुल जाते हे। हिन्दू शास्त्रो मे महादेव को त्रिनेत्र अर्थात् तीन आखो वाला बतलाया हे। दो आखे तो सभी के होती है। मगर तीसरी आख जिसे प्राप्त होती हे, वह महादेव बन जाता है। महादेव की तीन आखो की कल्पना क्यो की गई हे, यह कहना कुछ कठिन हे। मगर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता हे कि हृदय की आख बद रखेन वाला मूर्ख कहलाता है और जो हृदय–चक्षु को खुला रखता हे वह महादेव हो जाता है। हृदय की आख खुली होने पर भी अगर खराब काम किये जाए तो कैसे कहा जा सकता कि इसकी हृदय की आख खुली हे? वह तो मानो देखते हुए भी अन्धा है। हा, जो हृदय की आख खुली रखकर सत्कार्य मे प्रवृत्ति करता है वह शिव अर्थात् कल्याणकारी बन जाता हे।

भगवान् का कथन हे कि सूत्र–सिद्धात की परावर्तना या आवृत्ति करने से विस्मृत व्यजनो का स्मरण हो जाता है। यही नही, वरन् व्यजन की लब्धि भी उत्पन्न होती हे। अक्षरो के मिलने से शब्द बनता हे ओर शब्दा के मेल से वाक्य बनता हे। सूत्र–सिद्धात की आवृत्ति करते रहने से ऐसी पदानुसारिणि लब्धि प्राप्त होती है कि जिससे एक अक्षर बोलने से पूरा शब्द ओर एक शब्द बोलने से पूरा वाक्य तथा एक वाक्य बोलने से दूसरा वाक्य बन सकता हे या जाना जा सकता हे। अर्थात् एक पद सुनने से दूसरा पद बनाने की शक्ति आ जाती हे। इस प्रकार की शक्ति पदानुसारिणि लब्धि स प्राप्त हो सकती हे ओर यह लब्धि सूत्र–सिद्धात की आवृत्ति करत रहन स उत्पन्न होती हे।

आवृत्ति न करने से किस प्रकार की हानि होती हे ? इस विषय म बचपन मे सुनी हुई एक कहावत याद आ जाती हं। इस कहावत म गुरु शिष्य से पूछता हे –

पान सडे घोड़ा अड़े, विद्या बीसर जाय।
तवा पर रोटी जले, चेला किण काय।।

इस प्रश्न के उत्तर मे चेला ने कहा, 'न फेरने से'। अर्थात् पान न फेरा जाये तो वह सड जाता है, घोडा न फिराया जाये तो वह अडियल हो जाता है, विद्या न फेरी जाये अर्थात् विद्या की आवृत्ति न की जाये तो वह विस्मृत हो जाती है और यदि तवा पर डाली हुई रोटी न फिराई जाये तो वह जल जाती है। इस प्रकार सब वस्तुओ को फेरने की आवश्यकता रहती है। वास्तव मे यह अखिल ससार ही परिवर्तनशील है। ससार का परिवर्तन न हो तो ससार का अस्तित्व भी न रहे। बालक जन्म लेने के बाद यदि बालक ही बना रहे, उसकी उम्र मे तनिक भी परिवर्तन न हो तो जीवन को मर्यादा कैसे कायम रह सकती है? अतएव प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन होते ही रहना चाहिए। सूत्र की आवृत्ति करते रहने से व्यजनो की प्राप्ति होती है, विस्मृत व्यजन याद आ जाते हैं और पदानुसारिणी लब्धि उत्पन्न होने से अक्षर से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्य से दूसरा वाक्य बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है। एक वाक्य सुनकर दूसरा वाक्य और पद सुनकर दूसरा पद किस प्रकार बनाया जाता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा–

एक बार राजा भोज ने एक आश्चर्यजनक घटना देखी। उसने देखा कि एक ब्राह्मण के घर उसके पिता आदि का श्राद्ध होने के कारण उसने श्राद्ध के योग्य भोजन सामग्री तैयार कराई। उस ब्राह्मण की ऐसी मान्यता थी कि पूर्वज लोग कौआ बनकर आते हैं। इस विचार से वह कौवो को भोजन खिला रहा था। कौवे भोजन करने लगे। उस ब्राह्मण की स्त्री भोजन की सामग्री बचाना चाहती थी, अत कौवो को देखकर वह भय करने लगी। वह ब्राह्मण–पत्नी भोजन–सामग्री बचाने के लिए ऐसा भय प्रदर्शित करने लगी, मानो कौवो से डरती हो।

राजा ने उस ब्राह्मणी को इस प्रकार दिनदहाडे कौवो से भयभीत होते देखकर विचार किया– जो स्त्री दिन के समय कौवो से डरती है, देखना चाहिए कि उसका चरित्र कैसा है। इस प्रकार विचार कर राजा छिपे वेश मे उस स्त्री के चरित्र का पता लगाने लगा।

ब्राह्मण जब कौवो को भोजन खिला रहा था तब उसकी पत्नी कहने लगी– मुझे कौवो का डर लगता है। इतना कहकर वह कापने लगी। स्त्री को

कापते देखकर उसके पति ने कहा– अगर तुझे इतना डर लगता हे तो मैं कोवो को खिलाना ही बद कर देता हू। इस तरह उस ब्राह्मणी की मुराद पूरी हुई। अर्थात् भोजन–सामग्री बचा लेने के लिए उसने जो युक्ति रची थी, वह सफल हुई।

रात्रि का समय हुआ। ब्राह्मणी ने बची हुई भोजन–सामग्री एक डिब्बे मे बन्द की और डिब्बा सिर पर रखकर रवाना हुई। उसका कोई जार पति नदी के दूसरे किनारे रहता था। ब्राह्मणी अपने जार के पास जाना चाहती थी। मगर बीच मे नदी आती थी और नदी मे ग्राह–मगर आदि जन्तुओ का भय था। उस स्त्री ने साथ लायी हुई भोजन–सामग्री एक ओर नदी मे फेंक दी। ग्राह–मगर आदि जन्तु भोजन–सामग्री खाने मे लग गये ओर वह नदी के परले पार चली गई। अपने जार के पास पहुच कर ओर मनोरथ पूर्ण करके वापस लोटी। छिपे वेश मे राजा भोज ने यह सब घटना देखी। राजा सोचने लगा कि मैं तो यह घटना जान गया हू, मगर इस प्रकार की घटनाए घटती हैं, यह बात लोग जानते हैं या नही, यह भी मालूम करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उसने अपने पण्डितो की सभा मे कहा–

**दिवा काकस्य भयात्**

अर्थात् 'दिन के समय काक से डरती हे।' इतना कहकर उसने पण्डितो से कहा कि अब आप लोग कहिए कि इससे आगे क्या होना चाहिए? दूसरे पण्डित तो चुप रहे मगर कालिदास ने कहा–

**रात्रि तरति निर्मलजलं**

अर्थात् वह रात्रि के समय जल मे तेरती हे। यह सुनकर राजा ने कालिदास से कहा–

**तत्र वसन्ति ग्राहादयो**

अर्थात् जल मे तो ग्राह आदि जन्तु रहते ह। इसके उत्तर म कालीदास ने कहा–

**मर्म जानन्ति सासनीन्द्रिका?**

अर्थात् जो दिन मे कावो से डरती हे ओर रात्रि मे नदी पार कर जाती हे वह स्त्री ग्राह–मगर आदि जन्तुओं से वचने का उपाय भी जानती ह।

जैसे कालिदास ने एक पद सुनकर दूसरा पद बना दिया, उसी प्रकार एक पद सुनकर दूसरा बना लेने की शक्ति पदानुसारिणि लब्धि प्राप्त होने से ही प्राप्त होती है। आलस्य करने से नही प्राप्त होती।

शास्त्र कहता है– हे मुनियो! अगर तुम सूत्र की आवृत्ति करते रहोगे तो तुम्हे पदानुसारिणि लब्धि प्राप्त होगी। जैसे हथियार घिसते रहने से तीखा रहता है, उसी प्रकार सूत्रविधा की आवृत्ति करते रहने से आपकी विद्या भी तीक्ष्ण रहेगी।



# बाईसवां बोल

## अनुप्रेक्षा

सूत्र की परावर्तना के विषय मे इक्कीसवा बोल कहा जा चुका है। अब अनुप्रेक्षा विषयक प्रश्न उपस्थित होता हे। सूत्र की आवृत्ति करने वाले को अनुप्रेक्षा करनी ही चाहिये। सूत्र ओर अर्थ के विषय मे विचार करके, उसमे से तत्त्व की खोज करना अनुप्रेक्षा हे। केवल सूत्र पढ लेने मात्र से कुछ नही होता। कितने ही विद्वान् ऐसे देखे या सुने जाते है, जिनका भाषण सुनकर लोग चकित हो जाते है। मगर उनका आचरण देखा जाए तो आश्चर्य के साथ यही कहना पडता है कि जिनका भाषण इतना चमत्कारपूर्ण हे। उनका यह आचरण हे! आचरण और भाषण मे इस प्रकार अन्तर होने का कारण यही हे कि उन्हे असली पद्धति से शिक्षा नही दी गई हे अथवा उन्होने शिक्षा की वास्तविक पद्धति नही अपनाई हे। इसलिए जेन शास्त्र का कथन हे कि ली हुई सूत्रवाचना के विषय मे पूछताछ—परिपृच्छना करो, बार—बार आवृत्ति करो और उस पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करो अर्थात् सूत्रार्थ का मनन करके विचार करो। सूत्रार्थ का मननपूर्वक विचार करने से अत्यन्त आनद का अनुभव होता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षा मे बडा ही आनद हे। उस आनद का वर्णन नही किया जा सकता। उस आनद को वही जान सकता हे जो उसका अनुभव करता हे। जिस अनुप्रेक्षा मे अनिर्वचनीय आनद समाया हे, उसके विषय मे भगवान् से यह प्रश्न किया गया हे—

**मूलपाठ**

**प्रश्न— अणुप्पेहाए ण भते! जीव किं जणयइ?**

**उत्तर— अणुप्पेहाए ण आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ घणियबधणबद्धाओ सिढिलबधणबद्धाओ करेइ, दीहकालठिइयाओ**

हस्सकालठिइयाओ पकरेइ तिव्वाणुभावाओ मदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगासो अप्पएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च ण कम्म सिय बधइ सिय णो बधई, असायावेयणिज्जं चं णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ अणाइयं च ण अणवयग्गं व हमद्ध च उरंतसंसारकंतार खिप्पपामेव वीइवयइ।

## शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्। अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ के चिन्तन) से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–जीव अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय से आयुकर्म को छोड कर शेष सातो कर्मो की गाढी बधी हुई प्रकृतियो को शिथिल करता है। अगर वह प्रकृतिया लम्बे काल तक की स्थिति वाली हो तो अल्पकालीन स्थिति वाली स्थिति बनती है। तीव्र रस वाली हो तो मद रस वाली बनती हैं। बहुत प्रदेशो वाली हो तो अल्प प्रदेश वाली बनती है। आयु कर्म कदाचित् बधता है, कदाचित् नही बधता। अर्थात् पहले आयुकर्म न बधा हो तो बधता है, अन्यथा नही। असाता वेदनीय कर्म नही बधता और वह जीव अनादि–अन्नत और चतुर्गति रूप ससार को शीघ्र ही पार कर लेता है।

## व्याख्यान

अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ का चिन्तन) करने से लाभ होता है, यह बात प्रसिद्ध है। मगर शिष्य को गुरु के मुख से बात सुनने मे आनद आता है। इसलिए भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने जो–कुछ कहा है उस पर विस्तार के साथ विचार करने का अभी समय नही है। अतएव सक्षेप मे यही कहना पर्याप्त होगा कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को प्रसन्नता होती है और उससे उसे बडा लाभ होता है। अनुप्रेक्षा करने से जीव को बहिरग आनद भी होता है। किंतु शास्त्र बहिरग आनद को लाभ नही समझता, अन्तरग आनद को ही लाभ रुप मानता है। अन्तरग आनद ही सच्चा आनद है। लोग बाह्य आनद को आनद मानकर भ्रम मे पडे है पर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है? वस्तुत आत्मा को तो अन्तरग आनद और अन्तरग लाभ की ही आवश्यकता है।

अनुप्रेक्षा करने से बुद्धि मे और विवेक मे जागृति जाती है। आप बुद्धि को बडी समझते है या ससार के पदार्थो को बडा समझते हैं? बचपन मे हमसे पूछा जाता था कि अक्ल बडी या भैस? मे इस प्रश्न का उत्तर दिया करता

था कि भैस वडी नही, अक्ल वडी है। जव दोवारा पूछा जाता कि भैंस क्यो वडी नही और अक्ल क्यो बडी है? तो मैं उत्तर देता– एक अक्लमद वहुत–सी भैसो को चरा सकता है और कमअक्ल को एक ही भैंस मार सकती हे।

इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि महान् हे। रेल तार वायुयान का बुद्धि द्वारा ही आविष्कार हुआ हे। अन्तरग और वहिरग वस्तु मे भी ऐसा ही अन्तर समझना चाहिए। अन्तरग वस्तु बुद्धि के समान हे ओर वहिरग वस्तु भैस के समान है। ऐसा होते भी आप किसे चाहते हैं? आप बाह्य वस्तुओ को चाहते हैं या अतरग वस्तुओ को? बाह्य वस्तुओ के लिए कही आप बुद्धि के दुश्मन तो हीन बन जाते? अगर आप बुद्धि के दुश्मन न बनते हो, तो आपको उपदेश देने की आवश्यकता ही न रहे। जहा रोग ही न हो वहा डाक्टर की क्या आवश्यकता है? और जहा रगडे–झगडे न हो वहा वकील की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार अगर आप बुद्धि के शत्रु न बनते हो तो हमे उपदेश देने की आवश्यकता ही क्यो पडे? जनता को उपदेश इसी कारण देना पडता है कि वे बुद्धि के शत्रु बन कर खान–पान, पहनावा आदि मे बाह्य पदार्थों को महत्त्व देते हैं और विवेक–बुद्धि को तिलाजलि दे बेठते हैं। जो लोग सदैव विवेक–बुद्धि से काम लेते हैं उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नही होती।

आप लोग शरीर पर पाच–छह कपडे पहनते हैं। परन्तु क्या आपका शरीर इतने अधिक कपडे पहनना चाहता है? विवेक बुद्धि कहती है कि शरीर को इतने वस्त्रो की आवश्यकता नही है, फिर भी लोग ध्यान नही देते ओर अधिक कपडे लादते हैं। यह कार्य बुद्धि के शत्रु होने के समान हे या नही? इसी प्रकार अन्यान्य कार्य भी ऐसे किये जाते हैं जिनसे बुद्धि की हीनता प्रकट होती हे और साथ ही साथ शरीर की, स्वास्थ्य की, धन की ओर धर्म की भी हानि होती है। फिर भी लोग इस ओर लक्ष्य नही देते। अनुप्रेक्षा करने से विवेक–बुद्धि जाग्रत होती हे। और विवेक–बुद्धि की जागृति के फलस्वरूप हानिकारक वस्तुओ को त्यागने का विचार उत्पन्न होता हे। सूत्रार्थ का चिन्तन अर्थात् अनुप्रेक्षा करने से विवेक–बुद्धि जाग्रत होती हे।

साधारणतया अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ होते हैं, मगर यहा स्वाध्याय के साथ सबध होने के कारण अनुप्रेक्षा का अर्थ हे तत्त्वविचार करना। भगवान् से प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से, अर्थात् सूत्रार्थ का चिन्तन करने से जीव को क्या लाभ होता हे? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा हे– अनुप्रेक्षा करने से अध्यवसाय की विशुद्धि होती हे और उससे आयुकर्म के

सिवाय शेष सात कर्मो की गाढी बधी हुई प्रकृतिया शिथिल हो जाती हैं। कदाचित् निकाचित् कर्म का बन्धन हो तो वह भी शिथिल हो जाता है।

टीकाकार का कथन है कि अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी अपवर्तनाकरण के योग्य बना देती है। कारण यह है कि अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अग है और स्वाध्याय अतरग तप है। तप से निकाचित् कर्म का बधन भी शिथिल हो सकता है। अतएव अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी इस प्रकार शिथिल कर डालती है, जिससे वह कर्म अपवर्तनाकरण के योग्य बन सकता है। इस तरह अनुप्रेक्षा से गाढ बन्धन भी शिथिल हो जाते है और दीर्घकाल की स्थिति वाले कर्म भी अल्पकालीन स्थिति वाले बन जाते हैं।

टीकाकार का कथन है कि देव मनुष्य और तिर्यच की दीर्ध स्थिति के सिवाय दूसरी समस्त दीर्ध स्थिति अशुाा है। देवायु मनुष्यायु और तिर्यचायु कर्म को छोडकर समस्त कर्मों की दीर्ध स्थिति अशुभ ही मानी गई है। इस कथन के लिए प्रमाण देते हुए टीकाकार कहते हैं –

**सव्वासि पि थिईओ, सुभासुभाणं पि होन्ति असुभाओ।**
**मणुस्सा तिरच्छदेवाउयं च, मोत्तूण सेसाओ।।**

दीर्घकाल की सभी स्थितिया अशुभ है। केवल मनुष्य, देव और तिर्यच के आयुष्य की दीर्धकालीन स्थिति ही अशुभ नही है।

टीकाकार देव, मनुष्य और तिर्यच के शुभ आयुष्य को छोडकर और सब स्थिति अशुभ मे गिनते हैं। अतएव यहा दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करने का जो कथन किया गया है, सो यह कथन अशुभ स्थिति की अपेक्षा समझना चाहिए।

गुरु कहते हैं– हे शिष्य! अनुप्रेक्षा से शुभ अध्यवसाय होता है। सूत्रार्थ का चिन्तन करने से ऐसा शुभ अध्यवसाय होता हे कि वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों के गाढे बधन को ढीला कर देता है। इसी प्रकार सात कर्मो को जो प्रकृति लम्बे समय की स्थिति वाली होती है, उसे अल्प काल की स्थिति वाली बना देती है। अर्थात् दीर्घकाल मे भोगने योग्य कर्मो को अल्पकाल मे भोगने योग्य बना देती है। इसके अतिरिक्त अनुप्रेक्षा से तीव्र अनुभाग भी मन्द अनुभाग के रूप मे परिणत हो जाता है, अर्थात् तीव्र रस वाले कर्म मन्द रस वाले हो जाते हैं। यहा तीव्र अनुभाग से तीव्र अशुभ अनुभाग ही ग्रहण करना चाहिये। अनुप्रेक्षा के द्वारा तीव्र रस देने वाले कर्म मन्द रस देने वाले बन जाते हैं। परन्तु यह बात अशुभ प्रकृतियो के लिए ही समझना चाहिए। अगर शुभ अनुभाग हो तो शुभ अनुभाव मे वृद्धि होती है ओर अशुभ

अनुभाग हो तो अशुभ अनुभाव की वृद्धि होती है। मगर अनुप्रेक्षा तीव्र अशुभ अनुभाग को मन्द बना देती है और शुभ अनुभाग की वृद्धि करती हे, क्योकि अनुप्रेक्षा शुभ है। शुभ से शुभ की ही वृद्धि होती है ओर अशुभ से अशुभ की वृद्धि होती है।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ होता है? इसके लिए भगवान् कहते हे– अनुप्रेक्षा बहुत प्रदेशो वाली कर्मप्रकृति को अल्प प्रदेश वाली बनाती है।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा से ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि वह कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग ओर प्रदेश–इन चारो के अशुभ बन्धनो को शुभ मे परिणत कर देता है।

यहा एक प्रश्न किया जा सकता है, वह यह कि यहा आयुकर्म को छोड देने का क्या कारण है? शुभ परिणाम से शुभ आयु का बन्ध होता है ओर मुनिजन जो अनुप्रेक्षा करते हैं वह शुभ परिणाम वाली ही होती है। ऐसी दशा मे यहा आयुष्य का निषेध किस उद्देश्य से किया गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुप्रेक्षा से आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् नही भी होता। कारण यह है कि आयुष्मान कर्म एक भव मे एक बार ही बधता है और वह भी अन्तर्मुहूर्त काल मे बधता है। अगर अनुप्रेक्षा करने वाला ससार मे रहता है तो भी वह अशुभ कर्म नही बाधता है, यदि वह मोक्ष जाता है तो आयुष्य कर्म का बन्ध ही नही करता। इस प्रकार अनुप्रेक्षा करने वाले को कदाचित् आयुष्य कर्म बधता है, कदाचित् नही बधता। इसी कारण यहा आयुष्य कर्म छोड दिया गया हे।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ है? इस विषय मे कहा गया है कि अनुप्रेक्षा करने वाला असातावेदनीय कर्म का बार–बार उपचय नही करता, अर्थात् बार–बार उसका बन्ध नही करता। यहा सूत्रपाठ मे 'च' अक्षर भी आता है। वह इस बात का धोतक हे कि असातावेदनीय कर्म के समान अन्य अशुभ प्रकृतिया भी अनुप्रेक्षा करने वाला नही बाधता।

यहा पर यह शका की जा सकती हे कि मूलपाठ मे 'भुज्जो भुज्जो' अर्थात् बार–बार पद का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया हे?

इस आशका का समाधान यह हे कि उक्त पद का प्रयोग का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रमत्त गुणस्थान मे वर्तमान जीव कदाचित् असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है परन्तु वह बार–बार बन्ध नही करता हे। इसके अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहा पर पाठान्तर भी हे –

**सायावेयणिज्ज च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई।**

अर्थात्– अनुप्रेक्षा करने वाला बार–बार सातावेदनीय कर्म बाधता है।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है। क्योकि यहा प्रमत्तगुणस्थान का प्रश्न नही है, वरन् अनुप्रेक्षा रूप आभ्यन्तर तप का ही प्रश्न है। अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ प्रकृति का बन्ध होना ही सम्भव है, अत यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट होती है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ प्रकृति शेष रहती है, वह ससार के बन्धन मे उस प्रकार डालने वाली नही होती जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है। उदाहरण के लिए– वजन की दृष्टि से लोहे की बेडी और सोने की बेडी समान है, पर लोहे की बेडी सहज मे तोडी नही जा सकती जब कि सोने की बेडी जब चाहे तभी तोडी जा सकती है। लोहे की बेडी वाला इच्छा के अनुसार किसी भी जगह नही जा सकता, पर सोने की बेडी वाला चाहे जहा जा सकता है और सम्मान प्राप्त कर सकता है। शुभ प्रकृति और अशुभ प्रकृति मे भी ऐसा ही अन्तर है। शुभ प्रकृति वाला ससार से छूटने का उपाय कर सकता है, परन्तु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नही कर सकता।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस अनादि ससार मे से निकल सकता है। जीव और ससार का सबध कब से है, इसकी कोई आदि नही है। कुछ लोगो का कथन है कि जीव मोक्ष तो जाता है, पर वहा से मोह के प्रताप से वह वापिस ससार मे जन्म धारण करता है। जैसे जल निर्मल अवस्था से मलीन अवस्था मे और मलीन से निर्मल अवस्था मे पहुच जाता है। उसी प्रकार जीव भी मोक्ष मे जाता और फिर ससार मे आ जाता है और फिर मोक्ष चला जाता है। आत्मा मोक्ष मे तो चला जाता है, मगर जब वह अपने शासन की उन्नति और दूसरो के शासन की अवनति देखता है तो उसे राग होता है ओर जब अपने शासन की अवनति तथा दूसरो के शासन की उन्नति देखता हे तव उसे द्वेष होता है। इस प्रकार राग और द्वेष के कारण जीव मोक्ष मे से फिर ससार मे अवतार लेता है।

यह कथन अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है। जो आत्मा राग ओर द्वेष का क्षय होने पर मुक्त हुआ हे, उसे फिर राग–द्वेष नही हो सकते और इस कारण वह ससार मे भी नही आ सकता। मोक्ष को प्राप्त कर्मरजहीन आत्मा भी अगर कर्मरज से लिप्त होकर फिर ससार मे आ जाये तो ससार और जीव का सबध आदि हो जायेगा और यह भी कहा जा सकेगा कि अमुक जीव अमुक समय

से कर्मरज सहित है। मगर ऐसा मानना भूलभरा ओर भ्रामक है, क्योकि जो जीव कर्मरज रहित हो गया है वह फिर कर्मरज सहित नही हो सकता। इस प्रकार आत्म का मोक्ष मे जाकर फिर ससार मे आना युक्तिसगत नहीं हे।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव ओर कर्म का सबध अगर अनादिकालीन है तो वह किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है ओर जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव ओर कर्म का सबध प्रवाह रुप से अनादि होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनादि नहीं है। गगा नदी के किनारे खडे होकर चार दिन पहले जो जलधारा देखी थी, वही जलधारा चार दिन बाद भी देखी जाये तो वह पहले जैसी ही दिखाई देगी, मगर वास्तव मे चार दिन पहले जो जलधारा देखी गई थी वह तो कभी की चली गई है। पानी की धारा लगातार बहती रहती है, इसी कारण उसका सबध टूटा हुआ मालूम नही होता, बल्कि ऐसा जान पडता है कि यह वही जलधारा है जो चार दिन पहले देखी थी। मगर वस्तुत वह जलधारा पहले की नही हे। फिर भी उपचार से कहा जाता है कि यह वही जलधारा है। वास्तव मे जो जलधारा पहले देखी गई थी वह तो उसी समय चली गई है। वर्तमान मे तो नवीन जलधारा है, जो पहले नही देखी गई थी। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले जिन कर्मों का सबध हुआ था, वे कभी के भोगे चा चुके हैं, मगर नवीन–नवीन कर्म सदेव आते और बन्धते रहते है, इसी कारण यह कहा जाता है कि जीव ओर कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। शास्त्र के कथनानुसार कर्म की आदि भी हे और अन्त भी है, परन्तु जीव के साथ कर्म एक के बाद दूसरे लगातार आते रहते हैं। इसी कारण जीव और कर्म का सबध अनादिकालीन हे।

आशका की जा सकती है कि कर्म जब लगतार आते ओर बधते ही रहते है तो जीव कर्मरहित किस प्रकार हो सकता हे? इसका समाधान यह है कि कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित हो जाता हे। नदी के ऊपर से आने वाले प्रवाह को रोक दिया जाये तो धारा टूट जाती हे। उसी प्रकार कर्मप्रवाह को रोक देने से, अर्थात् नवीन कर्मों को न आने देने से जीव कर्मरहित हो जाता है।

दूध ओर घी साथ ही होते हे। दूध ओर घी के विषय मे यह नही कहा जा सकता कि पहले दूध हुआ या घी। फिर भी क्रिया द्वारा दूध ओर घी पृथक्–पृथक् किये जा सकते हैं। इसी प्रकार यह भी नही कहा जा सकता हे कि पहले आत्मा या पहले कर्म? कर्म आत्मा के साथ ही हे।

अनादिकाल से आत्मा कर्मों के साथ और कर्म आत्मा के साथ बद्ध हैं, यह कहा जा सकता है। फिर भी प्रयोग द्वारा जैसे दूध मे से घी अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्मों का भी पृथक्करण हो सकता है। अरणि की लकडी के साथ ही आग उत्पन्न होती है, फिर भी उस लकडी को घिसने से आग उसमे से बाहर निकल जाती है। इसी प्रकार जीव और कर्म के सयोग भी आदि नही हैं, तथापि प्रयत्न द्वारा जीव और कर्म पृथक् किये जा सकते हैं।

शास्त्रकार कर्म को ही दुख कहते हैं। श्रीभगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा है कि दुखी जीव दुख का स्पर्श करता है या अदुखी जीव दुख का स्पर्श करता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है 'दुखी जीव ही दुख का स्पर्श करता है, दुखरहित जीव दुख का स्पर्श नही करता।' यहा दुख का अर्थ कर्म है। अर्थात् जिसमे कर्म है वही जीव कर्म का बन्ध करता है, फिर भले ही कर्म शुभ हो या अशुभ हो। शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्म आत्मा के ऊपर आवरण डालते हैं और दोनो प्रकार के कर्म वस्तुत दुखरूप ही हैं। अत कर्म को दुखरुप मानकर आत्मा को कर्महीन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

लोग समझते हैं कि हमे अमुक ने दुख दिया है या अमुक ने मारा है। मगर ज्ञानीजन कहते हैं कि कारण के बिना कार्य नही हो सकता। इसके साथ ही ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि तुम दुख देने या मारने के कार्य का बाह्य कारण तो देखते हो, मगर उसका आन्तरिक कारण नही देखते। तुम यह तो कहते हो कि मुझे रोग हुआ है, लेकिन यह क्यो नही देखते कि रोग आया कहा से है? यद्यपि रोग के कीटाणु हवा मे भी आ सकते हैं, तथापि अगर तुम सावधानी रखो और रहन–सहन तथा खान–पान वगैरह का ध्यान रक्खो तो रोग ही कयो हो? तुम जानते हो कि फला चीज हानिकारक है फिर भी उसे क्या खाना रोग को आमन्त्रण देने के समान नही है। अत यदि सावधानी रखी जाये तो रोग उत्पन्न ही क्यो हो? यही बात प्रत्येक कार्य के लिए लागू करो और कर्म के विषय मे भी यही देखो कि अगर सावधानी रखी जाये और प्रयत्न किया जाये तो कर्म आये कैसे? और आत्मा को दुख हो कैसे? आत्म को दुख न हो इसलिए यह प्रार्थना की गई है–

**श्वासोश्वास विलास भजन को, दृढ विश्वास पकड़ रे।**
**अजपाभ्यास प्रकाश हिये विच, सो सुमरण जिनवर रे।।**

भक्त कहते हैं– दु ख से वचने के लिए परमात्मा का भजन करो। अगर कोई कहे कि मुझे तो समय ही नहीं मिलता, तो फिर भजन किस प्रकार करू? ऐसा कहने वालो को भक्त उत्तर देते हैं– परमात्मा का भजन करने के लिए तुझे समय नहीं मिलता तो न सही। कोई हानि नहीं है। क्योंकि इस कार्य के लिए किसी खास अलग समय की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा का भजन किस प्रकार करना चाहिए, यह सीखने के लिए तो समय की आवश्यकता रहती हे, लेकिन परमात्मा का स्मरण करने के लिए किसी खास समय की अनिवार्य आवश्यकता नही हे। इसका अभ्यास तो श्वासोच्छ्वास की तरह हो जाता हे। जव परमात्मा के स्मरण का अभ्यास श्वासोच्छ्वास लेने ओर छोडने के अभ्यास की तरह स्वाभाविक वन जाये, तो समझना चाहिए कि परमात्मा का भजन स्वाभाविक रूप से हो रहा हे।

शास्त्र मे कितनेक ऐसे उपाय वतलाये गये हैं कि परमात्मा का नाम न लेने पर भी उसका भजन किया जा सकता हे। अजपाभ्यास हो जाने से परमात्मा का नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं रहती। परमात्मा का नाम लेने पर भी परमात्मा का स्मरण करने के अनेक उपायो मे से एक उपाय हे– प्रामाणिकतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना। प्रामाणिकतापूर्वक कर्तव्य का पालन करने से परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण हो जाता हे। मानलो, तुम किसी के नोकर हो। तुम्हारा स्वामी सदेव तुम्हारे साथ नहीं रहता। फिर भी तुम्हे यही मानना चाहिये कि तुम्हारा स्वामी तुम्हारे सामने ही हे, अत प्रामाणिकता के साथ काम करना चाहिए। स्वामी भले ही मेरा काम न देखता हो, मगर परमात्मा मेरा काम देखता ही हे। अतएव मुझे अपने काम मे अप्रामाणिकता का व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अपने कर्तव्य मे प्रामाणिकता रखना परमात्मा का नाम लिये विना ही परमात्मा के स्मरण करने का ओर सुखी होने का सरल उपाय हे। अगर परमात्मा के भजन के लिए तुम्हे अलग समय नही मिलता, तो इसी भाति परमात्मा का स्मरण करो। कोई भी कार्य करते समय यही समझना चाहिए कि परमात्मा हमारा कार्य देख रहा हे। इस प्रकार समझकर प्रामाणिकतापूर्वक कार्य करना भी परमात्मा का स्मरण ही हे। मगर लोग प्राय ऐसा करते देखे जाते हें कि ऊपर से तो परमात्मा का नाम स्मरण करते हं, मगर कार्य करते समय मानो परमात्मा को भूल ही जाते हें। लेकिन यह सच्चा नाम–स्मरण नहीं हे। अगर परमात्मा को दृष्टि के सामने रखकर प्रामाणिकता के साथ कर्तव्य का पालन किया जाय तो स्व–पर कल्याण हो सकता हे।

अनुप्रेक्षा का अन्तिम फल क्या है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते है कि अनुप्रेक्षा करने से जीवात्मा अनादि, अनन्त, दीर्घ मार्ग वाले अपार चतुर्गतिरूप ससार–अरण्य को शीघ्र ही पार कर जाता है।

जिसका किनारा दिखाई देता हो उसे पार करना कठिन नही है, किन्तु जो अपार है, जिसका किनारा नजर नही आता, उसे पार करना बहुत कठिन है। अब इस बात पर विचार करो कि जो वस्तु अपार के पार पहुचा देती है, वह कैसी होगी? यहा ससार को प्रवाह की अपेक्षा अपार कहा गया है। यह अपार ससार अनादि है। देव, मनुष्य, तिर्यच और नारक ये चार गतिया इस अपार ससार के चार किनारे हैं। इन चार गति रूप किनारो से ससार का अन्त तो मिलता हैं, मगर इस ससार–अटवी का मार्ग इतना लम्बा है कि जीव भ्रम के कारण भूल मे पड जाता है और इस कारण बाहर निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है। फिर भी अनुप्रेक्षा का अवलम्बन लेकर जीव इस ससार–अटवी को भी पार कर सकता है।

मान लीजिए किसी नगर मे जाने का मार्ग विकट और दुर्गम है। उस मार्ग मे बीच–बीच मे विश्राम–स्थल बने हैं। ऐसी स्थिति मे एक विश्राम–स्थल से दूसरे विश्राम–स्थल तक, दूसरे से तीसरे विश्राम स्थल तक, इस तरह आगे बढते जाने से विकट और दुर्गम मार्ग भी तय किया जा सकता है। लेकिन अगर मार्ग मे ही भटक गये, रास्ता ही भूल गये और यही पता न चला कि अब किस ओर जाना है, तो नगर मे पहुचना कठिन हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिए उस नगर का मार्ग विकट और दुर्गम ही है। इसी प्रकार ससार भी अपार हे, यद्यपि चार गतिया उसके चार किनारे हैं। और उसे पार भी किया जा सकता है। मगर जो भ्रम मे पडकर एक गति से दूसरी गति मे ही भटकता रहता है, उसके लिए ससार अपार ही है। नरक गति का भी पार आता है, मनुष्य गति का भी पार आता है। वनस्पतिकाय की लम्बी स्थिति होने पर भी उसका पार आ जाता हे। देवगति की स्थिति का भी अन्त है। इस प्रकार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यच, ये चारो गतिया ससार के किनारे तो है, लेकिन उसका मार्ग लम्बा है। इस कारण जीवन फिर उसमे पड जाता है और इस प्रकार ससार मे ही गोते लगाता रहता हे। इसी कारण ससार अपार कहलाता हे। अनुप्रेक्षा से यह अपार ससार भी शीघ्रतापूर्वक पार किया जा सकता है।

कोई मनुष्य अपार समुद्र मे गिर पडा है। इसी बीच उसे कोई नौका मिल जाती है। नौका का मालिक समुद्र मे पडे मनुष्य से कहता हे– 'आ जा, जल्दी कर, इस नौका पर सवार हो जा।' क्या समुद्र मे पडा मनुष्य ऐसे समय

विलम्ब करेगा? अगर वह मनुष्य विचारशील होगा तो इतना विचार अवश्य करेगा कि जो मनुष्य मुझे नोका पर चढने के लिए कह रहा हे, वह राग–द्वेष से भरा तो नही हे? और मुझे किसी राग–द्वेष से प्रेरित होकर तो नाका पर चढने को नहीं कहता? इस प्रकार विचार करने के वाद अगर उसे खातिरी हो जाये कि वह मनुष्य निस्पृह हे, ओर निस्पृह भाव से ही मुझे नोका पर चढने के लिए कहता हे ओर अगर वह बुद्धिमान् हे तो नोका पर चढने न विलम्ब नहीं करेगा। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे अवसर पर नाका की शरण लिये बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार यह अनादि ससार भी अपार हे। इस अपार ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा नोका के समान हे। ऐसी अवस्था न ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा रूपी नोका की शरण क्यों न ली जाय?

अनुप्रेक्षा ऐसी जीवसाधक हे, फिर भी ससारिक लोगा की दशा विचित्र ही नजर आती हे। लोग दूसरे सामान्य कार्यों न तो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं, मगर अनुप्रेक्षा रूपी नोका को नहीं अपनाते।

'यह ऐसी हे, वह वेसी हे ओर फला आदमी ऐसा हे।' इस प्रकार की अनेक विकथाओं में लोग अपना समय नष्ट करते हं। उन्हें यह विचार नहीं आता कि कोई पुरुष चाहे जेसा हो, कोई स्त्री केसी भी हो, उसकी निन्दा करने से हमें क्या लाभ होगा? दूसरों की बुराई देखने ओर निंदा करने से मुझे क्या लाभ होगा? मं यही क्यो न देखू कि मं कसा हू? मुझ न कितने विकार भरे हैं, यह मं न देखूं ओर दूसरो के दोषों की टीका करू, यह कहा तक उचित हे ? दूसरो के दोष न देखकर अपने ही दोषो को दूर करने मे भलाई ह।

बुद्धिमान् पुरुष दूसरे की निन्दा मे नहीं पडते। वे परमात्मा की शरण लेकर अपनी बुद्धि निर्मल वनाते हं आर अपने अवगुण देखकर कहत हैं—

**हे प्रभु! मेरा ही सब दोष,**
**थोलसिन्धु कृपालुनाथ अनाथ आरतपोष।। हे प्रभु ।।**

अर्थात् प्रभो! सारा दोष मेरा ही हे, आर किसी का नहीं। इस प्रकार भक्तजन अपना ही दोष मानते हं। इसी तरह तुम भी अगर परमात्मा की शरण ग्रहण करके अपनी वुद्धि निर्मल वनाओ तो तुम्हे भी यह जान पडेगा कि सारा दोष मेरा ही हे। अगर तुम्हारा कोई पडोसी दुखी हो ता इसम तुम्हारा दोष हे या नहीं? पडोसी के दुखी होने म तुम्हारा पाप भी कारण हा सकता ह। शास्त्र के कथनानुसार इष्ट गन्ध, इष्ट रूप आदि पुण्य क प्रभाव से प्राप्त हात हं। तुम इष्ट गन्ध वगरह चाहते हो तो भाववस्तु की ओर क्या नही दखत? तुम यह क्यो नहीं समझते कि अगर मेरा पुण्य प्रबल होता ता मुझ दुखी

पडौसी क्यो मिलता? अतएव यदि पडौसी दु खी है तो यह मेरा ही दोष है। तुम्हारा पुण्य और तुम्हारा पाप दूर–दूर तक काम करता है। शास्त्र मे कहा गया है कि लवणसमुद्र की बेलाए सौलह हजार डनमाला के ऊपर चढती हैं। उन्हे अगर दबा न दिया जाये तो गजब हो जाये! परन्तु बयालीस हजार देव जम्बूद्वीप की तरफ से, साठ हजार देव ऊपर से और बहत्तर हजार देव धातकीखण्ड की और से उन समुद्रवेलाओ को दबाये रखते हैं। इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि हे भगवान्! क्या वह समुद्रवेला देवो के दबाने से दब जाती है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा– 'देव तो अपना कर्तव्य पालते हैं। वास्तव मे समुद्रवेला देवो के दबाने से दबती नहीं है। समुद्रवेला तो जम्बूदीप और धातकीखण्ड मे रहने वाले अरिहतो, चक्रवर्तियो, वासुदेवो, बलदेवो, साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका एवम् सम्यग्दृष्टि जीवो के पुण्य–कार्य से दबी रहती है।' इस प्रकार तुम्हारा पुण्य वहा भी कार्य कर रहा है। अतएव मानना चाहिए कि मेरी पुण्यकरणी के फल का प्रभाव दूसरी जगह और दूसरो पर भी पडता है। इसलिए मुझे खराब काम नही करना चाहिए, अच्छी करणी करते रहना चाहिए। मुझे दूसरो के दोष न देखकर अपने ही दोष देखना चाहिए, और दूसरो की निन्दा का त्याग करके अनुप्रेक्षा करना, जिससे इस विकट ससार–अटवी का अन्त किया जा सके।

अगर कोई व्यक्ति शास्त्र की अनुप्रेक्षा कर सके तब तो अच्छी ही है, लेकिन जो शास्त्र नही जानते, उन्हे परमात्मा का नाम–स्मरण करने रूप अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। जो–कुछ भी किया जाये, शुद्ध हृदय से करना चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि –

**वेश वहन विराग मन अघ, अवगुणों का कोष।**
**प्रभु प्रीति प्रतीति पोली, कपट करतब ठोस।। हे प्रभु.।।**

अर्थात् वेश मे और वचन मे वैराग्य दिखलाया जाये और मन मे पाप रहे तो वह अनुप्रेक्षा किसी काम की नही रहती। परमात्मा के वचन पर विश्वास न करना ओर झूठ–कपट पर विश्वास करना अनुप्रेक्षा नही, कपट है। अनुप्रेक्षा करने मे किसी प्रकार की दुर्भावना या सासारिक कामना नही होनी चाहिए। ससार मे रहकर सद्विचार करने वाला व्यक्ति ससार का उपकार करता है और हिमालय की गुफा मे बेठकर भी असद्विचार करने वाला पुरुष न केवल अपना ही, वरन् ससार का भी अहित करता है। अतएव दूसरो की निदा करना छोडकर अपने विकारो को देखो और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा उन्हे दूर करके निर्मल बनो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

कहने का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा से आत्मा चतुर्गति रूप ससार को पार कर सकता है, अत अपने चित्त को अनुप्रेक्षा करने मे पिरो दो। तुम कह सकते हो कि चित्त बडा चचल है, इसे अनुप्रेक्षा मे किस प्रकार पिरोया जाये? इसका उत्तर यह है कि चित्त तो चचल है, चचल था और चचल रहेगा, परन्तु योग की क्रिया द्वारा चचल चित्त भी स्थिर किया जा सकता है। योग की क्रिया द्वारा चित्त स्थिर करके अनुप्रेक्षा करोगे तो बहुत लाभ होगा। अगर इतना न बन सके तो कम से कम इतना अवश्य करो कि चित्त को बुरी बातो की ओर मत जाने दो। अगर चित्त को इतना भी काबू मे रखने की सावधानी रखोगे तो भी बहुत–कुछ कल्याण कर सकोगे। जब बालक पैरो से चलना सीख लेता है तब उसे एक जगह बैठने ने लिए कहा जाये तो वह नही बैठ सकता। वह इधर–उधर फिरता रहता है। अतएव इस बात की सावधानी रखनी पडती है कि बालक कहीं गड्ढे मे न गिर जाये। मन को भी नन्हे–से बालक के समान ही समझो। योग क्रिया के बिना मन रोका नही जा सकता, अत इस पर सद्गुरु के वचनो का पहरा रखो जिससे यह खराब कामो की तरफ न चला जाये। बालक कुसगति मे जाता हो तो रोकना पडता है। इसी प्रकार यह मन खराब सगति मे न चला जाये, इस बात की खास सावधानी रखनी उचित है। कितने–कितने कष्ट सहने के बाद यह मन मिला है! और उसमे भी सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक के मन का कितना अधिक महत्त्व है। इस पर विचार करो। बडी–बडी कठिनाइयो के बाद मिला हुआ मन कही बुरे काम की ओर न चला जाये, इस बात की कितनी चिन्ता रखनी चाहिए? किसी बडे आदमी का लडका कुसगति मे पड जाता है तो उसके लिए कितनी चिता की जाती है! इसी प्रकार तुम भी अपने मन को बुराई की ओन न जाने देने जाने की चिता रखो। अगर मन को काबू मे कर लिया तो आत्मकल्याण साधने मे देर न लगेगी।



# तेईसवां बोल

## धर्मकथा

पिछले प्रकरण मे अनुप्रेक्षा पर विचार किया गया है। यहा धर्मकथा के सम्बन्ध मे विचार करना है। अनुप्रेक्षा करने वाला ही धर्म का उपदेश दे रहा है। लोग समझते हैं, धर्मोपदेश देना सरल काम है, मगर दरअसल यह बडा कठिन काम है। धर्मोपदेश द्वारा लोगो को सन्मार्ग पर भी लाया जा सकता है और कुमार्ग पर भी घसीटा जा सकता है। गाधीजी ने अपने एक लेख मे 'हिन्दू–धर्म का उपदेश कौन दे सकता है', इस विषय मे अपने विचार प्रकट किये थे। गॉधीजी के विचार बतलाने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इस विषय मे शास्त्र क्या कहता है। श्रीसूयगडाग के ग्यारहवे अध्ययन मे कहा है–

**आयगुत्ते सया दंते छिन्नासोए अणासवे।**
**ते सुद्धधम्माक्खति पडिपुण्ण मणेलिसं।।**

भगवान् से यह प्रश्न किया गया हे कि जिस काल मे वीतराग देव नही होते उस काल मे उनके मार्ग का उपदेश देने का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा– अपनी आत्मा को गुप्त रखने वाला, क्षमावान्, इन्द्रियो का दमन करने वाला और निरास्रव पुरुष ही वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सकता हे। जो हिसा न करता हो, असत्य भाषण न करता हो किसी की तिनका जसी तुच्छ चीज भी बिना आज्ञा न लेता हो, स्त्री मात्र को माता के समान समझता हो और धमोपकरणो पर, यहा तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखता हो, वही व्यक्ति शुद्ध धर्म का उपदेश दे सकता है।

धर्म का उपदेश कौन दे सकता है, इस विषय मे भगवान् महावीर का कथन बतलाया जा चुका। अव यह देखना है कि इस सम्बन्ध मे गॉधीजी क्या कहते हैं? गॉधीजी ने अपने लेख मे लिखा था कि हिन्दू धर्म का उपदेश न तो बडे–बडे विद्वान् ही दे सकते हैं और न शकराचार्य ही दे सकता है। हिन्दू धर्म का उपदेश देने का अधिकारी वही है जो हिसा न करता हो, असत्य न बोलता हो तथा जो चोरी, मैथुन और परिग्रह वगैरह दुर्गुणो से बचा हुआ हो।

इस प्रकार धर्मकथा करना अर्थात् धर्मोपदेश देना कुछ सरल काम नही है, मगर आज तो धर्मोपदेश बोलने के लिए तत्पर ही रहते हैं, चाहे वो धर्मोपदेश देने के अधिकारी हो या न हो। शास्त्र कहता है– धर्मोपदेश देने से पहले वाचना, पृच्छना, परावर्तना, और अनुप्रेक्षा, इन चार बातो को सिद्ध कर लेना आवश्यक है। इन्हे सिद्ध कर लेने वाला ही धर्मोपदेश दे सकता है। वाचना आदि चार बातो को सिद्ध किये बिना जो उपदेश दिया जाता है वह लोगो के हृदय पर सच्चा प्रभाव डालने के बदले उलटा असर डाल सकता है। शास्त्र मे धर्मकथा सम्बन्धी प्रश्न उक्त चार बातो के बाद इसी कारण रखा गया है। जिसमे वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा– ये चार बाते है, वही धर्मकथा कर सकता है। इस धर्मकथा के विषय मे भगवान् से यह प्रश्न किया गया है –

## मूलपाठ

**प्रश्न – धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर – धम्मकहाए णं णिज्जरं जणयइ, धम्म कहाएणं पवयण पभावेइ, पवयणपभावेणं जीवे आगमेसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।**

## शब्दार्थ

प्रश्न – भगवान्! धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर – धर्मकथा से निर्जरा होती है ओर जिन– भगवान् के प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन–प्रभाव से जीव भविष्यकाल मे शुभ कर्म का वन्ध करता है।

## व्याख्यान

धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने पहली वात तो यह कही है कि धर्मकथा करने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा करने वाला किसी भी प्रकार के प्रलोभन म न

बात कोई मानता नही है या सुनता नही है।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी आत्मा को पावे [illegible] जाये तभी धर्मकथा की जा सकती है। जिस बात का उपदेश देना हो [illegible] लिए पहले साधु को स्वय ही सावधान होना चाहिए कि मेरी बात कोई माने या न माने, पर मुझे तो इससे लाभ ही होगा। उदाहरणार्थ, जो साधु या साध्वी स्वय रेशमी वस्त्र पहनेगा, वह दूसरो को उसके त्याग का उपदेश किस प्रकार दे सकेगा? साधु को सिर्फ लज्जा की रक्षा के लिए शास्त्रविहित और परिमित वस्त्र रखने चाहिए। उन्हे ऐसे वस्त्रो का उपयोग नही करना चाहिए जो मोह उत्पन्न करे, अर्थात् कीमती या सुन्दर हो। हम मे अभी तक वस्त्रो का सर्वथा त्याग कर देने की शक्ति नहीं आई है, अतएव हमे वस्त्र पहनने पडते है, परन्तु वे वस्त्र इतने सादे होने चाहिए कि फेशन के भाव भी उत्पन्न न हो और मोह भी न उत्पन्न हो।

मतलब यह है कि साधुओ को इस बात का दु ख नहीं मानना चाहिए कि हमारा उपदेश कोई मानता नही या सुनता नही। उन्हे केवल यही सोचना चाहिए कि मेरा उपदेश कोई माने या न माने, अगर में स्वय अपने उपदेश के अनुसार बर्ताव करूगा तो मेरा कल्याण ही होगा।

धर्मकथा किसे कहते हैं? और धर्मकथा के कितने भेद हैं? इस विषय मे श्रीस्थानागसूत्र मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया हे। मगर उस सारे वर्णन का सार यही है कि धर्मकथा मे धर्म की ही बात होनी चाहिए, दूसरी कोई बात नही होनी चाहिए। धर्मकथा करते समय कभी–कभी स्त्री, राजा या राज्य की बात भी चल पडती है। लेकिन ये सब बाते धर्म की सिद्धि के लिए ही होनी चाहिए। धर्मकथा मे ऐसा कोई भी वर्णन नही आना चाहिए जिससे मोह की वृद्धि हो। मोह की वृद्धि करने वाली कथा धर्मकथा नही, वरन् मोहकथा है।

आजकल धर्मकथा के नाम पर ऐसे–एसे रास गाये जाते हैं कि उन्हे सुनकर श्रोता और अधिक मोह मे पड जाते हैं। इस प्रकार मोहपोषक रासो का गाना धर्मकथा किस प्रकार कहा जा सकता हे? धर्मकथा वही हे, जिसे सुनकर मोह उत्पन्न न हो, बल्कि धर्मभावना ही उत्पन्न हो। किसी वस्तु का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा धर्मभावना पुष्ट करने वाली धर्मकथा भी कही जाती हे और मोह उत्पन्न करने वाली मोहकथा भी कही जा सकती है। मगर सच्ची धर्मकथा तो वही है जो धर्मभावना को ही बढाती हो।

भगवान् से पूछा गया है कि धर्मकथा करने से किस फल की प्राप्ति होती है? प्रत्येक कार्य की अच्छाई–बुराई का निर्णय उसके अच्छे या बुरे फल को देखकर ही किया जाता है। फल अच्छा हो तो वह कार्य भी अच्छा माना जाता है और यदि फल अच्छा न हो तो कार्य भी अच्छा नही माना जाता। अब यहा यह देखना है कि धर्मकथा का फल कैसा मिलता हे? धर्मकथा का एक फल भगवान् ने निर्जरा होना बतलाया हे। अत जिससे निर्जरा हो वह धर्मकथा हे और जिससे निर्जरा न हो वह धर्मकथा भी नहीं हे।

यहा निर्जरा का अभिप्राय कर्म की निर्जरा होना हे। धर्मकथा के कर्मो की निर्जरा हुई है या नही, इसकी पहचान विकारो का दूर होना हे। अगर विकार दूर हो और चित्त को शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमने

धर्मकथा की है। ऐसा न हो तो वह धर्मकथा ही नही। जिससे प्यास बुझे वही पानी है, जिससे भूख मिटे। वही भोजन है। इसी पकार अगर चित्त के विकार दूर हो और शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मो की निर्जरा हो रही है और जिससे कमो की निर्जरा हो, वही धर्मकथा है।

धर्मकथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त को शान्ति मिलती है। इस कारण सबसे पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौनसे हैं? डॉक्टर रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है। जब तक रोग का निदान न किया जाये, तब तक दवा कैसे दी जा सकती है? इसी तरह जब तक विकारो का पता न लगा लिया जाये तब तक यह बात कैसे जानी जा सकती है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए है या नही? इस कारण सर्वप्रथम अपने विकारो को जान लेने की आवश्यकता है। विकारो मे सबसे बडा विकार मोह है। मोह अन्य विकारो का बीज है। उसी से दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। फिर भले ही वह मोह काम का हो या क्रोध का हो, लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो। मगर विकारो का राजा मोह ही है। जिसे सुनने से मोह मे कमी हो, वही धर्मकथा हे और जिसे सुनने से मोह मे कमी न हो बल्कि मोह उलटा बढ जाए वह धर्मकथा नही, मोहकथा है।

तुन व्याख्यान सुनने के लिए प्रतिदिन आते हो, मगर यह देखो कि क्या तुमने धर्मकथा सुनी है? अगर सुनी है तो क्या तुम्हारे विकार मिटे हैं या कम हुए हैं? अगर नही, तो यही कहा जा सकता है कि या तो धर्मकथा सुनने वालो मे कोई खामी है या सुनाने वाले मे कोई कमी है। मै अपने सम्बन्ध मे तो यही मानता हू कि खामी मुझ मे ही है। भगवान् का उपदेश सुनकर तो शेर ओर बकरी भी आपस का वैरभाव छोड देते थे। तुम लोग मेरा उपदेश सुनकर अगर वैरभाव नही छोडते तो इसमे मेरी ही कमी समझनी चाहिए। मुझे अपनी खामी दूर करना चाहिए। अगर तुम अपनी खामी मानते होओ तो तुम्हे भी उसे दूर करना चाहिए। मेरा व्याख्यान देना और तुम्हारा व्याख्यान सुनना कर्म की निर्जरा के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार धर्मकथा का एक फल तो कर्मो की निर्जरा होना हे।

धर्मकथा का दूसरा फल क्या हे? इस सम्बन्ध मे भगवान् कहते हें– जो धर्मकथा करता ह वह प्रवचन की प्रभावना करता है।

वचन और प्रवचन मे बहुत अन्तर है। वचन साधारण होता है ओर प्रवचन मे दूसरो की लाभ–हानि समाई रहती है। उदाहरणार्थ एक न्यायाधीश अपने घर पर घर के लोगो से बात–चीत करता है और वही न्यायाधीश न्यायालय मे न्याय के आसन पर बैठकर न्याय करता है। इन दोनो प्रकार की बातो मे कितना अन्तर है? घर की बातो से किसी को वैसा लाभ–हानि नही, मगर न्यायालय मे बैठकर न्याय देने मे दूसरो का लाभ और अलाभ होता है। वचन और प्रवचन मे भी इतना ही अन्तर है। साधारण बातचीत को वचन कहते है और जिस वचन से दूसरो का लाभ–अलाभ हो, उसे प्रवचन कहते हैं। दूसरो के प्रवचन से तो हानि भी हो सकती है, मगर वीतराग के प्रवचन मे एकान्त लाभ ही लाभ है। इस प्रकार के प्रवचन की उपेक्षा करना भारी भूल है। इसी भूल के कारण जीव अनादिकाल से ससार मे भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भूल करना मोह का ही प्रताप है।

न्याय करते समय अधेरा हो जाये तो न्यायाधीश को प्रकाश की सहायता लेनी पडती है, इसी प्रकार निर्ग्रन्थ, प्रवचन तो है मगर उसे प्रकाशित करने वाला महात्मा ही है जो धर्मकथा करता है अर्थात् धर्मदेशना देता हे। उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वह प्रवचन की आराधना करता है। प्रवचन की आराधना करने वाला इस काल मे भी भद्र अर्थात् कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और आगामी काल मे भी कल्याणकारी फल प्राप्त करता है।

धर्मकथा करते समय धर्मोपदेशक को यह खयाल रखना चाहिए कि धर्मकथा के द्वारा मुझे प्रवचन की सेवा करनी है। मुझे धर्मकथा को लोकरजन का साधन नही बनाना है। इसी भावना के साथ धर्मकथा करनी चाहिए।

सयोगवश आज ज्ञानपचमी का दिन है। यह दिन ज्ञान की आराधना करने का है। शास्त्र मे कहा है –

**पढमं नाण तओ दया, एव चिट्ठइ सव्वसजए।**
**अन्नाणी कि काही, कि वा नाही य सेय पावगं।।**

–दशवेकालिक सूत्र।

अर्थात् पहले ज्ञान की आवश्यकता हे ओर फिर दया आवश्यक हे। दया श्रेष्ठ है, पर ज्ञान के बिना दया नही हो सकती। दया के लिए ज्ञान होना आवश्यक है। वही दया श्रेष्ठ है जो ज्ञानपूर्वक की जाती हे। इसी प्रकार ज्ञान

भी वही श्रेष्ठ है जिससे दया का आविर्भाव होता है। ज्ञान और दया का सम्बन्ध वृक्ष और उसके फल के सबध के समान है। ज्ञान वृक्ष है तो दया उसका फल है। ज्ञानरहित दया और दयारहित ज्ञान सार्थक नही हैं।

क्रियात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। व्यवहार मे भी क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता है और अध्यात्म मे भी। जब व्यवहार मे भी सक्रिय ज्ञान उपयोगी होता है तो क्या धर्म के मार्ग मे सक्रिय ज्ञान की आवश्यकता नही होगी? अतएव धर्ममार्ग मे भी सक्रिय ज्ञान होना आवश्यक है। आज धार्मिक क्षेत्र मे ज्ञान की कमी नजर आती है। तुम्हारे बालक श्रावक कुल मे जन्मे है और उन्होने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है फिर भी अगर उन्होने धार्मिक ज्ञान का उपार्जन न किया, अर्थात् जीव–अजीव का भेद भी न जाना तो ज्ञान की कितनी त्रुटि समझनी चाहिए? तुम प्रयत्न करो तो अपने बालको के व्यावहारिक ज्ञान को ही आध्यात्मिक ज्ञान मे परिणत कर सकते हो। आत्मा का कल्याण केवल व्यवहारिक ज्ञान से नही हो सकता। आत्मकल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव तुम अपने बालको को अगर शान्ति देना चाहते हो तो उन्हे आध्यात्मिक ज्ञान देना चाहिए। यह बात दूसरी है कि आज पहले के समान आध्यात्मिक ज्ञान न दिया जा सकता हो या उसकी आवश्यकता न समझी जाती हो, मगर समय के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान तो देना ही चाहिए। आत्मा अपना कल्याण आध्यात्मिक ज्ञान से ही कर सकता है। आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्मा का कल्याण साधता है, साधा है और साधेगा। अत सक्रिय ज्ञान की आराधना करो। इसी मे कल्याण है। ज्ञानपचमी की आराधना शास्त्र को धूप देने से नही होती। ज्ञानोपर्जन करना और उपार्जित ज्ञान को सक्रिय रुप देना ही ज्ञानपचमी की सच्ची आराधना है। ज्ञान की आराधना द्वारा ज्ञानपचमी की आराधना करने मे ही आत्मकल्याण है। ज्ञान आत्मा का प्रकाश है। यह प्रकाश जितना अधिक प्रकाशित करोगे, आत्मा उतना ही अधिक प्रकाशित होगा।

धर्मदेशना का फल प्रकट करते हुए आगे कहा गया है–

**जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्म निबधइ।**

अर्थात् धर्मदेशना देने से जीव को आगामीकाल मे प्राप्त होने वाला कल्याण प्राप्त होता है। अर्थात् धर्मदेशना से भविष्य मे कल्याण होता है।

ऊपर के पाठ मे 'भद्दता' शब्द आया हे। इस 'भद्दत्ता' के वदल 'भद्द' शब्द ही लिखा गया होता तो क्या हर्ज था? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है– व्याकरण के नियमानुसार यह भाववाची शब्द है। उसे भाषासोन्दर्य के लिए भाववाचक प्रत्यय लगा दिया गया हे।

आने वाला काल आगामीकाल कहलाता हे ओर जो आगामीकाल हे वह वर्तमान मे आता हे। आगामीकाल की कभी समाप्ति नहीं होती। इस प्रकार भविष्यकाल आगामीकाल कहा जाता हे। धर्मदेशना देने से आगामीकाल मे आत्मा का कल्याण होता हे।

जेसे काल का अन्त नहीं हे वेसे ही आत्मा का भी अन्त नहीं हे। यह वात जानते हुए भी दो दिन टिकने वाली चीज के लिए तो प्रयत्न करना ओर जिसका कभी अन्त नहीं, उस आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न करना, कितनी गम्भीर भूल है? कहा जा सकता हे कि आत्मा के लिए हमे क्या करना चाहिए? इसका समाधान यह है कि शास्त्रो मे कहा हे– 'सव्वे जीवा सुहमिच्छन्ति।' अर्थात् सभी जीव सुख चाहते हैं यह मानकर सब जीवो का कल्याण करो। कोई भी काम ऐसा न करो जिससे किसी जीव का अकल्याण हो।

ससार का प्रत्येक पदार्थ, जो एक प्रकार से कल्याणकारी माना जाता हे, दूसरे प्रकार से अकल्याणकारी सावित होता हे। मगर धर्मदेशना एक ऐसी वस्तु है जो एकान्त कल्याणकारी हे। अतएव सासारिक पदार्थों के मोह मे न पडते हुए धर्मदेशना को अपनाओ ओर जीवन मे उतार कर आत्मा का कल्याण साधो।

धर्मदेशना का फल बताते हुए जो–कुछ कहा गया हे उसमे अनवरत शब्द आया है। 'अनवरत' का अर्थ हे निरन्तर। अत यहा यह कहा गया हे कि धर्मदेशना से निरन्तर कल्याणरूप कर्म का बन्ध होता हे।

प्रश्न उपस्थित होता हे कि किये हुए कर्म तो भोगने ही पडते हें, फिर यहा निरन्तर शब्द का प्रयोग क्यो किया गया हे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव पुण्यानुबन्धी कर्मबन्धता हे ओर उसका ज्यो ही अन्त आता हे त्या ही दूसरे पुण्यानुवन्धी कर्म का बन्ध हो जाता हे। इस प्रकार धर्मदेशना से जीव निरन्तर भद्र कल्याणकारी कर्म का बन्ध करता हे। इसी कारण यहा निरन्तर (अनवरत) शब्द का प्रयोग किया गया हे। जेसे मुर्गी ओर उसके अण्डे मे से किसी को पहले नही कह सकते। दोनो का अविनाभाव सवध हे। अर्थात्

दोनो मे अविनाभाव सबध है। इसी पकार धर्मदेशना से पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध होता रहता है जिससे कि एक से दूसरे पुण्य का क्रम चलता रहता है। पुण्य से पुण्य होने मे अन्तर नही पडता। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक और दूसरे दीपक से तीसरा प्रकट होता है उसी प्रकार एक पुण्यानुबधी से दूसरे और दूसरे पुण्यानुबन्धी से तीसरे पुण्यानुबधी कर्म का बन्ध होता ही रहता है। उसमे अन्तर नही पडता। इसलिए कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है। यहा यह प्रश्न और उपस्थित होता है वह यह कि धर्मदेशना से यदि निर्जरा होती है तो फिर शुभानुबन्धी फल का मिलना क्यो कहा गया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि धर्मदेशना से निर्जरा भी होती है और शुभ कर्म का बन्ध भी होता है। अर्थात् जो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, उन कर्मो मे किसी प्रकार का बन्ध नही होता, पर जो कर्म शेष रहते हैं, उनमे शुभ कर्मो का ही बन्ध होता है। इस प्रकार धर्मदेशना का फल निर्जरा होने के साथ ही शुभ कर्मो का बन्ध होना भी है।

वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा– ये स्वाध्याय के पाच भेद हैं। पाच प्रकार के स्वाध्याय से सूत्र की आराधना होती है। सूत्र की आराधना के विषय मे अगले बोल मे विचार किया जायेगा।



# चौबीसवां बोल

## श्रुत की आराधना

पहले बतलाया जा चुका है कि पाच प्रकार का स्वाध्याय करने से श्रुत की आराधना होती है। यहा श्रुत की आराधना पर विचार किया जाता है।

### मूलपाठ

**प्रश्न– सुयस्स आराहणाएं णं भंते! जीवे कि जणयइ ?**

**उत्तर– सुयस्स आराहणाए णं अन्नाणं खवेइ, न य सकिलिस्सइ।**

### शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता हे ?

उत्तर–श्रुत की आराधना से अज्ञान दूर होता है और उससे जीव को सक्लेश नही होता?

### व्याख्यान

शास्त्र का समयक् प्रकार से सेवन करना श्रुत की आराधना हे। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, और धर्मकथा– इस प्रकार पाच तरह का स्वाध्याय करने से सूत्र की आराधना होती है ओर सूत्र की आराधना से अज्ञान नष्ट होता है। जिस वस्तु का पहले ज्ञान नही होता, सूत्र की आराधना से उस का ज्ञान हो जाता है। किसी बात का ज्ञान न होना उसका अज्ञान हे। सूत्र की आराधना से इस प्रकार का अज्ञान दूर हो जाता हे। अज्ञान का नाश हो जाता है, इस का प्रमाण यह है कि सूत्र की आराधना से विशिष्ट बोध उत्पन्न होता हे। भगवान् कहते है– इस प्रकार की सूत्र आराधना से एक तो अज्ञान का नाश होता है ओर दूसरे सक्लेश उत्पन्न नही होता। तत्वज्ञान होने पर राग–द्वेष रूप सक्लेश टिक भी नही सकता।

यो तो ससार असार कहलाता है, पर ज्ञानीजन इस असार कहे जाने वाले ससार मे से ही सम्यक सार खोज निकालते हैं। अगर ससार एकान्त रूप से असार होता और उसमे किचित् भी सार न होता तो जीव मोक्ष कैसे प्राप्त कर पाते? सूत्र की आराधना करने से अज्ञान नष्ट होता है और अज्ञान के नाश से ससार मे से सार निकाला जा सकता है। इस प्रकार तत्त्व का बोध होने से किसी प्रकार का सक्लेश नही होता और सक्लेश न होने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश होना, तत्त्व का बोध होना, सक्लेश पैदा न होना और वैराग्य की उत्पत्ति होना, यह सब सूत्र की आराधना का ही फल है। सूत्र की आराधना का फल बतलाते हुए एक सग्रहगाथा मे कहा गया है—

**जह जस सुयमवगाहइ अइसयरससंजुयमपुव्व।**
**तह तह पल्हाइ मुणी नव नव संवेगसद्धाए।।**

अर्थात् मुनि ज्यो—ज्यो श्रुत मे अवगाहन करता जाता है, त्यो—त्यो उस मुनि को सवेग श्रद्धा से अपूर्व—अपूर्व आहलाद प्राप्त होता है। श्रुत की सूत्र से, अर्थ से सूत्रार्थ से ज्यो—ज्यो आराधना की जाती है त्यो त्यो अपूर्व भावो क उत्पति होती है श्री भगवतीसूत्र का अनेक महात्माओ ने अनेक वार अध्ययन किया, पर अन्त मे उन्हे यही कहना पडा है कि हे भगवती! मैं तुझमे ज्यो—ज्यो अवगाहन करता हू, त्यो—त्यो मुझे अपूर्व ही भाव मालूम होता है इसलिए मैं तुझे नमस्कार करता हू।

श्रुत की आराधना करने से नवीन—नवीन भाव जिस प्रकार प्रकट होता है, यह बात यो समझो—मानलो, तुम किसी समुद्र के किनारे फिरने गये हो। समुद्र के किनारे ठण्डी हवा बह रही है। तुम समुद्र के जितने नजदीक जाओगे, उतनी ही अधिक ठण्डी हवा मालूम होगी। अगर समुद्र मे स्नान करने के लिए घुसोगे तो और अधिक ठण्ड लगेगी। कदाचित् तुमने समुद्र मे गहरा गोता लगाया तो वह गहरा मालूम होगा, अधिक ठण्ड भी मालूम होगी, पर सम्भव है समुद्र की गहराई मे से तुम्हे किसी वस्तु की प्राप्ति भी हो जाय। मोती तो गहरे पानी मे डुबकी मारने से ही मिलते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष सूत्ररूपी समुद्र के जितना सन्निकट जाएगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा। जो श्रुत—समुद्र मे डुबकी मारेगा उसे तो तत्त्व रूपी मोती भी अधिकाधिक प्राप्त होगे।

तुमने दूसरे अनेक रसो का आस्वादन किया होगा, मगर एक बार शास्त्रो के रस को भी तो चख देखो। शास्त्र का रस कैसा है? शास्त्र का रस चखने के बाद तुम्हे ससार के सभी रस फीके जान पडेगे। शास्त्र को

ऊपर–ऊपर से मत देखो। अगर कोई पुरुष मुह मे मोती रखकर उसका मिठास चखना चाहे तो उसे क्या उचित कहा जायेगा? और चखने पर जिस मोती मे मिठास मालूम हो, वह सच्चा है? नही। इसी प्रकार सूत्ररूपी मोती को ऊपर–ऊपर से मत चखो। सूत्र सुनकर उसे अपने जीवन मे उतारो तो तुम्हारा मानव–जीवन सार्थक हो जाएगा। सूत्र की आराधना करने से आत्मा का कल्याण होना आवश्य होता है। सूत्र की आराधना करना मानव–जीवन को सार्थक करने की जडी–बूटी है, अत सूत्र की आराधना करके जीवन सफल करोगे तो कल्याण होगा।

रागादि भाव के कारण आत्मा मे किस प्रकार सक्लेश उत्पन्न होता है, यह बात सरल करके समझाता हू। जो पुरुष जिस वस्तु को अपना समझता है, उसे उसके प्रति राग रहता है। इस अवस्था मे अगर उस वस्तु को कोई छीन ले या उसे हानि पहुचाए तो ऐसा करने वाले के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। अगर किसी भी वस्तु को अपनी मानी हो तो उसके प्रति राग भी न होगा और उसे छीनने या नष्ट करने वाले पर द्वेष भी न होगा। इस प्रकार राग–द्वेष न होने के कारण सक्लेश भी उत्पन्न न होगा। वस्तु मे जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है तभी उसके कारण राग–द्वेष होता है। राग–द्वेष होने से आत्मा को सक्लेश होना स्वभाविक है। श्रुत की आराधना करने से वस्तु सबधी राग–द्वेष–मूलक मोह नष्ट हो जाता है और राग–द्वेष नष्ट हो जाने से आत्मा को सक्लेश नही होता, बल्कि वैराग्य पैदा होता है। इस प्रकार सूत्र की आराधना का महत्त्व बहुत अधिक है।



# पच्चीसवा बोल

## मानसिक एकाग्रता

शास्त्र का कथन है कि सूत्र की आराधना के लिए मन का एकाग्र होना आवश्यक है। जब तक मन एकाग्र नही होता, तब तक सूत्र की आराधना नही हो सकती। अतएव मन की एकाग्रता के विषय मे भगवान से प्रश्न किया गया है। मूलपाठ इस प्रकार है–

### मूलपाठ

**प्रश्न–एगग्गमणसनिवेसणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर–एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चितनिरोहं करेइ।**

### शब्दार्थ

प्रश्न–भगवान्! मन को एकाग्र करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर–मन को एकाग्र करने से जीव चित्त का निरोध करता है।

### व्याख्यान

मन की एकाग्रता के विषय मे विचार करने के लिए मन क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। मन दो प्रकार के हें –(1) द्रव्य मन और (2) भाव मन। 'मन्यते अनेन, इति मन' इस व्याख्या के अनुसार जिसके द्वारा मनन किया जाय तो उसे मन कहते है। इसके सिवाय 'मनन मन' अर्थात् मनन करना भी मन कहलाता है। तात्पर्य यह कि आत्मा अपने मे जिन विशेष पुद्‌गलो का सचय करता है ओर जिन पुद्‌गलो के समूह से आत्मा मे मनन करने की शक्ति आती हे उन पुद्‌गलो का समूह मन कहलाता है। द्रव्य मन से द्रव्य मनन होता हे ओर भाव मन से भाव मनन होता हे।

जो वस्तु देखी–सुनी जाती हे, उसके विषय मे मन ही किसी प्रकार का विचार करता है। उदाहणार्थ, आख खम्भे को देखती है, पर यदि मन न

हो तो 'यह खम्भा है', यह बात जानी नही जा सकती। इस प्रकार वस्तु को देखने पर भी अगर देखने के साथ मन न हो तो 'यह अमुक वस्तु है', इस प्रकार ज्ञान नही हो सकता। अनेक बार हम अनेक वस्तुए देखते हैं, लेकिन उस देखने के साथ अगर मन नही होता तो वस्तुए ध्यान मे नही आती, अर्थात् उनका ज्ञान नहीं होता। इस तरह जिसकी सहायता से वस्तु जानी जाय और जानी हुई वस्तु के विषय मे कल्पना करके मनन किया जा सके, उसे मन कहते हैं।

द्रव्य मन और भाव मन सज्ञी जीव को ही होता है। असज्ञी जीव के भी मन तो होता है, मगर उसके भाव मन ही होता है, द्रव्य मन नहीं। इस कारण असज्ञी जीव किसी वस्तु पर विचार नही कर सकते। अन्धे के सामने दर्पण रख दिया जाए तो दर्पण मे अन्धे का प्रतिबिम्ब तो पडता है मगर अन्धा इस प्रतिबिम्ब को देख नहीं सकता, क्योकि उसके पास देखने का साधन नही है। इसी प्रकार असज्ञी जीव को भाव मन तो होता है पर द्रव्य मन नही होता। इस कारण असज्ञी जीव वस्तु सामने होने पर भी उसके सबध मे कुछ विचार नही कर सकते। जब भाव मन के साथ द्रव्य मन होता है तभी वस्तु के विषय मे विचार किया जा सकता है।

मन और चित्त पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् ने कहा है– मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

प्रश्न खडा होता है– मन को किस प्रकार वश मे किया जाये ओर किस प्रकार एकाग्र रखा जाए? आखे बद करके वश मे की जा सकती हे, नाक को दबा कर वश मे किया जा सकता हे, इसी प्रकार अन्य इद्रियो को भी अकुश द्वारा वश मे किया जा सकता है। मगर मन किस प्रकार वश मे किया जाये? यह एक विकट प्रश्न है। कुछ लोगो ने तो यहा तक कहा हे–

**मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो.।**

अर्थात् मन ही मनुष्यो के बन्ध ओर मोक्ष का कारण हे।

मन का सकल्प–विकल्प केसा होता हे, यह बात सभी जानते हैं। मनुष्य हो या पशु, जिसके मन है, उनका मन सकल्प–विकल्प करता ही रहता है। अच्छे या बुरे काम मन के सकल्प–विकल्प से ही होते हे। बिल्ली उन्ही दातो से अपने बच्चो को दबाती हे तो उन्ही दातो से चूहे को दबाती हे। दात तो वही हैं, मगर मन के सकल्प–विकल्प मे अन्तर पड जाने से वस्तु म भी अन्तर पड जाता है।

मन मे यह जो अन्तर रहता है उसका कारण मन की चचलता है। जब मन की चचलता दूर हो जाये और मन मे किसी प्रकार का भेदभाव न रहे तब समझना चाहिए कि मन वश मे हो गया है। जब तक मन मे भेदभाव बना रहे, तब तक मन वश मे नही हुआ है।

कहा जा सकता है कि चित्त की चचलता दूर करना और मन मे तनिक भी भेदभाव न आने देना तो बहुत ही कठिन कार्य है। जब साधु भी इतना कठिन कार्य नही कर सकते तो गृहस्थ मन को कैसे वश कर सकते हैं?

इसका उत्तर यह है कि इस सबध मे साधु या गृहस्थ का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो-कोई मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को जीवन मे उतारता है वही मन को वश मे कर सकता है। मन को वश मे करने के अभ्यास और वैराग्य, यही दो उपाय हैं। मन को वश मे लाने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार बहुत लम्बा है। योग-क्रिया का समावेश इसी अभ्यास मे होता है। इस सबध मे टीकाकार कहते हैं कि मन को अप्रशस्त मे जाने से रोक कर प्रशस्त मे पिरो देने से धीरे-धीरे मन एकाग्र हो जाएगा अर्थात एक ओर से तो मन को अप्रशस्त मे जाने से रोको और दूसरी ओर उसे परमात्मा के ध्यान मे पिरोते जाओ तो मन वश मे किया जा सकेगा और उसकी एकाग्रता भी साधी जा सकेगी।

मन को वश मे करने के लिए वैराग्य भी एक उपाय है। इन्द्रियो का समूह बलवान होने के कारण मन को अपनी ओर खींचता रहता है। अत पदार्थों के प्रति विरक्तिभाव रखना उचित है। विरक्ति होने से इन्द्रिया उन पदार्थो की ओर नही खिचेगी और तब मन भी उनकी ओर नहीं जाएगा और स्थिर रहेगा। वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विचार करके उसके प्रति वैराग्य धारण करने से मन भी स्थिर रहेगा। वस्तु के असली स्वरूप का विचार न करने के कारण ही वस्तु के प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप विचारा जाए तो वैराग्य पैदा हुए बिना नहीं रह सकता और मन भी वश मे किया जा सकता है। इस प्रकार मन को वश मे करने का और एकाग्र करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य है। अभ्यास और वैराग्य से ही मन पर काबू किया जा सकता है।

लोगो को रुपयो के प्रति बहुत ममता है। मगर रुपया क्या है किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और रुपये के प्रचलन से समाज और देश की आन्तरिक स्थिति को कितनी अधिक हानि पहुची है इन बातो पर पूरा विचार

किया जाए तो रुपये के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रहेगा। सिक्के का जितना अधिक प्रचार हुआ, उतने ही अधिक अनर्थ बढे हैं। सिक्को के लिए ही पशुवध किया जाता है। फुक्का का घातक प्रयोग करके गाय के आचल मे से दूध काढने का पापपूर्ण कार्य भी रुपये के लिए ही किया जाता है। इस प्रकार रुपये से होने वाले अनर्थों का विचार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य होगा ही।

बडे-बडे शहरो मे कुलागनाए वेश्या बन कर अपना शरीर दूसरो को किसलिए सौपती है? केवल पैसो के लिए। उन्हे पैसे पर ममता न होती तो शायद देव भी उन्हे विचलित न कर सकते। पैसा ही उनका सतीत्व नष्ट करता है। भाई-भाई और पिता-पुत्र के बीच पैसो के कारण तकरार होती है। राजा लोग भी प्रजा के कल्याण के लिए राज्य नही चलाते, वरन् पैसो के लिए ही राज्य चलाते है।

इस प्रकार पैसे के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से उसके प्रति वैराग्य होगा ही। अनर्थ उत्पन्न करने वाले ओर राग द्वेष की वृद्धि करने वाले कनक और कामनी ही हैं। कनक और कामनी के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से गृहस्थ को भी वेराग्य हो सकता हे। इस तरह मन को वश करने के विषय मे साधु और गृहस्थ का कोई भेदभाव बाधक नही हो सकता। कोई भी क्यो न हो ,अभ्यास और वेराग्य द्वारा अगर वह मन को वश मे करना चाहता है, तो अवश्य कर सकता हे।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। चित्त का निरोध तो मन की एकाग्रता का परम्परा-फल है। मन की एकाग्रता का साक्षात् फल यह हे कि एकाग्र मन वाला जो कुछ भी बोलता हे, सत्य ही बोलता हे ओर जो मनोरथ करता हे, वह पूर्ण ही होता हे। मानसिक एकाग्रता से ही अमोघ भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती हे। अत मन को एकाग्र करो। मन को एकाग्र करने के लिए मैं बारम्बार यही कहता हू कि परमात्मा का भजन करो। परमात्मा के भजन से मन एकाग्र होगा। दूसरे कामो से मन हटाकर परमात्मा के भजन मे ही मन पिरो दो। परमात्मा के भजन का सहारा लेकर मन का एकाग्र करने से चित्त की चचलता दूर होगी। इसलिए परमात्मा का भजन करने मे देरी मत करो। कहा भी हे-

**दम पर दम हरि भज-नही भरोसा दम का,**
**एक दम मे निकल जावेगा दम आदम का।**

**दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू,**
**एक नाम सांई का जप हिरदे मे घर तू।।**
**नर! इसी नाम से तर जा भवसागर तू,**
**दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू।।**

श्वास का विश्वास नही। श्वास तो वायु है। कदाचित् आवे, कदाचित् न भी आवे। इसका क्या भरोसा! इसलिए मुख मे से श्वास निकलने के पहले ही परमात्मा का भजन करो। इस प्रकार परमात्मा का भजन करने से मन एकाग्र होगा।

आत्मा एक बडी भूल कर रहा है। वह यह कि तुच्छ चीजो मे मन का प्रयोग करके आत्मा–परमात्मा को भूल रहा है। वह इतना भी तो नही सोचता कि मेरा मन परमात्मा मे एकाग्र हो जाएगा तो उस दशा मे मुझे तुच्छ वस्तुओ की क्या कमी रह जाएगी? इस प्रकार विचार न करके आत्मा अपने मन को इधर–उधर दौडाया करता है। यह मन की चचलता है। इस चचलता को दूर करने के लिए ही शास्त्रकार मन को एकाग्रता की आवश्यकता बतलाते है। मन को परमात्मा मे एकाग्र किया जाये तो वह अशुभ से हट कर शुभ मे प्रवृत्त हो जाये। इधर–उधर भटकना मन का स्वभाव है। मगर सावधानी यह रखनी रहनी चाहिए कि वह खराब मार्ग मे न दौडे। अगर मन सन्मार्ग मे दौडे तो वह भी आत्मा को यथास्थान पहुचा सकता है।

मन को परमात्मा के साथ जोडने से कठिन से कठिन सयोग भी सरल हो जाते हैं। लोग कहते हैं– यह पचमकाल बडा कठिन है। मगर जो लोग वास्तव मे ही इस काल को कठिन मानते है, वे क्या अपना मन परमात्मा से जोडने मे पल–भर भी विलम्ब कर सकते हैं? भूख लगने पर भोजन और प्यास लगने पर पानी याद आता है, इसी प्रकार इस सकटकाल मे परमात्मा का स्मरण होना चाहिए। ऐसे विकट समय मे परमात्मा का स्मरण किया जाये आर मन को परमात्मा मे एकाग्र कर दिया जाये तो फिर किसी प्रकार सकट रह ही न जाये।



# छब्बीसवां बोल

## संयम

जिनका मन एकाग्र होता है, उन्ही का सयम शोभायमान होता है और जिनमे सयम हैं उन्ही के मन की एकाग्रता सार्थक होती है। अत सयम के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया गया है –

### मूलपाठ

**प्रश्न– संजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– संजमेणं अणण्हत्तं जणयइ।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवान्! सयम से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– सयम से अनाहतपन (अनाश्रव–आते हुए कर्मो का निरोध) प्राप्त होता है।

### व्याख्यान

सयम के विषय मे भगवान् ने जो उत्तर दिया हे, उस पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि सयम क्या है?

शास्त्र मे सयम के विषय मे विस्तृत विवेचन किया गया हे। उन सव का यहा विवेचन किया जाये तो बहुत अधिक विस्तार होगा। अतएव सयम के विषय मे यहा सक्षेप मे ही विवेचन किया जायेगा।

आजकल सयम शब्द पारिभाषिक बन गया हे। मगर विचार करने से मालूम होगा कि सयम का अर्थ बहुत विस्तृत हे। शास्त्र मे सयम के सत्तरह भेद बतलाये गये हें। इन भेदो मे सयम के सभी अर्थो का समावेश हो जाता है। सयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये ह। पाच आस्रवा को

रोकना, पाच इन्द्रियो को जीतना, चार कषायो का क्षय करना और मन, वचन तथा कार्य के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का सयम है।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते है – (1) पृथ्वीकाय सयम (2) अप्काय सयम (3) वायुकाय सयम (4) तेजस्काय सयम (5) वनस्पतिकाय सयम (6) द्वीन्द्रियकाय सयम (7) त्रीन्द्रियकाय सयम (8) चतुरिन्द्रियकाय सयम (9) पचेन्द्रियकाय सयम (10) अजीवकाय सयम (11) प्रेक्षा सयम (12) उपेक्षा सयम (13) प्रमार्जना सयम (14) परिस्थापना सयम (15) मन सयम (16) वचन सयम (17) काय सयम। इस तरह दो प्रकार से सयम के सत्तरह भेद है। सयम का विस्तारपूर्वक विचार करने मे सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत ही आते है।

जीवन भर के लिए पाच आस्रवो से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्ति होना सयम स्वीकार करना कहलाता है। किसी भी प्राणी की हिसा न करना, असत्य न बोलना, मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, ससार की समस्त स्त्रियो को माता–बहिनो के समान समझना और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पाच आस्रवो से निवृत्त होना और पाच महाव्रतो का पालन करना और पाच इन्द्रियो का दमन करना। पाच इन्द्रियो का दमन करने का अर्थ यह नही है कि आख बन्द कर लेना या कान मे शब्द ही न पडने देना। ऐसा करना इन्द्रियो का निरोध नही है, बल्कि इन्द्रियो को विषयो की ओर जाने ही न देना इन्द्रियनिरोध कहलाता है। प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो अनेक अनर्थो से बचा जा सकता है।

जब तुम्हारे कान मे कोई शब्द पडता है तो तुम्हे सोचना चाहिए मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान वगैरह प्राप्त करने का साधन है। अतएव मेरे कान मे जो शब्द पडे है, वे मेरा अज्ञान बढाने वाले न हो जाए, यह बात मुझे खयाल मे रखनी चाहिए। जब तुम्हारे कान मे कटु शब्द टकराते है तब तुम्हारा हृदय काप उठता है। मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिए कि यह तो मेरे धर्म की कसौटी है। ये कटु शब्द शिक्षा देते है कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी। अतएव कटुक शब्दो को धर्म पर स्थिर करने मे सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हे लम्पट या ठग कहे तो तुम्हे सोचना चाहिए कि मै एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे ये शब्द सुनने को मिलते? और उस

अवस्था मे कोई मुझे यह शब्द कहता? कदाचित् कोई कहता भी तो मं उन्हे समझ ही न सकता। अब, जब मुझे समझने योग्य इन्द्रिया प्राप्त हुई हैं, तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्तव्य होता हे? वह मुझे लम्पट ओर ठग कहता है। मुझे सोचना चाहिए कि क्या मुझमे ये दुर्गुण हैं? अगर मुझमे ये दुर्गुण है तो मुझे दूर कर देने चाहिए। वह बेचारा गलत नहीं कह रहा हे। विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने मे दिखाई न दे तो सोचना चाहिए, हे आत्मा! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दो को भी नही सहन कर सकता? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमे नही है? यह कायरता तुझे शोभा नही देती। जो व्यक्ति तुझे अपशब्द कहता हे उसे भी चतुर समझ। वह भी अपशब्दो को खराब मानता हे। इस प्रकार तेरा और उनका ध्येय एक है। इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भी जो स्थिर रहता हे, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानीजन विचार करते हैं। इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है। अपने सुन्दर रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही हे कि अगर तू पुण्य का सचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्गल तेरे दास बन जाएगे।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है। मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालू। फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पडती हे तो मुझे मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज हे। मस्तिष्क से यह महल बना हे, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड जाये तो कितनी बडी खराबी होगी? तो फिर सुन्दर महल देखकर मे अपना दिमाग क्यो बिगाडू? अगर मेने अपने मन ओर मस्तिष्क को स्वच्छ रखकर सयम का पालन किया तो मेरे लिए देवो के महल भी तुच्छ बन जाएगे।

महाभारत मे व्यास की झोपडी ओर युधिष्ठिर के महल की तुलना की गई है ओर युधिष्ठर के महल से व्यास की झोपडी अधिक अच्छी बतलाई गई हे। इसका कारण यह हे कि जहा निवास करके आत्मा अपना कल्याण साधन कर सके, वही स्थान ऊचा है ओर जहा रहने से आत्मा का अकल्याण हो, वह स्थान नीचा हे। जहा रहने से भावना उन्नत रहे, वह स्थान ऊचा हे ओर जहा रहने से भावना नीची हो जाये, वह स्थान नीचा हे। अगर तुम इस वात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जाग्रत हो जायेगा।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापो से बचे हुए है। जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है, वह भी पहले देवलोक से नीचे नही जाता। मगर एक-एक पाई के लिए झूठ बोलना कोई श्रावकपन नही है। क्या मैं तुम से यह आशा रखू कि तुम असत्य भाषण न करोगे? अगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नही चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य बिना काम नही चलता होता तो तीर्थंकर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यो किया होता? क्या वे इतना भी नही समझते थे? वास्तव मे यह समझ ही भ्रमपूर्ण है। इस भूल को भूल मानकर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो। सत्य की आराधना करने मे कदाचित् कोई कष्ट आ पडे तो उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करो, मगर सत्य पर अटल रहो। क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्ट सहने मे आनन्द नही माना था? फिर आज सत्य का पालन करने मे आये हुए कष्टो से क्यो घबराते हो? आज लोग व्यवहार साधने मे ही लगे रहते हैं और समझ बैठे है कि असत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नही सकता। मगर यह मानना गम्भीर भूल है। दरअसल तो सत्य के आचरण से व्यवहार सरल बनता है। असत्य के आचरण से व्यवहार मे वक्रता आ जाती है। भगवान् ने सत्य का महत्त्व बतलाते हुए यहा तक कहा है कि 'त सच्च खु भगव', अर्थात् सत्य ही भगवान् है। ऐसी दशा मे सत्य की उपेक्षा करना कहा तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नही अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुचा सकता है।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियो को और मन को वश मे करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए। निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नही है। केवली भगवान् भी इसलिए परीषह सहन करते है कि हमे देखकर दूसरे लोग भी परीषह सहने की सहिष्णुता सीखे। इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करना चाहिए', ऐसा प्रकट करते है। अतएव केवल निश्चय को ही पकड कर नही बैठे रहना चाहिए।

इन्द्रियो और मन को वश मे करने के साथ चार कषायो को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा कार्य के योग को भी रोकना चाहिए। ये सत्तरह प्रकार का सयम है।

इस तरह सत्तरह तरह के सयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है। जिसका मन एकाग्र नही रहता, वह इस प्रकार के उत्कृष्ट सयम का पालन नही कर सकता। शास्त्र मे कहा है –

अच्छदा जे न भुंजन्ति ण से चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवेकालिकसूत्र।

अर्थात् जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थो की ओर दौडता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नही कह सकते, वह भोगी ही कहा जाएगा। इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नही जाने देता, वह उन पदार्थो का भोगी नही, वरन् त्यागी ही कहलाता है।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर सयम है या नही? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नहीं? आज बाहर की फेशन से, बाहर के भभके से और दूसरो की नकल करने से तुम्हारे सयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फेशन से बचो और सयममय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरो का कल्याण होगा।

सयम के फल के विषय मे भगवान् ने कहा है— सयम से जीव मे अनाहतपन आता है। साधारणतया सयम का फल आस्रवरहित होना माना जाता है, पर यह साक्षात् अर्थ नही है। सयम के साक्षात् अर्थ के विषय मे टीकाकार कहते हैं कि सयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता हे, जिससे कर्म की विद्यमानता ही नही रहती। सयम से आश्रवरहित अवस्था प्राप्त होती हे और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है। सूत्रसिद्धान्त बीज रूप मे ही कोई बात कहते हैं, अत उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है।

सयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया हे। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त होती हे। अगर सयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो, तो तप के विषय मे जुदा प्रश्न क्यो किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि वर्णन करने मे एक वस्तु ही एक बार आती हे। तप और सयम सम्बन्धी प्रश्न अलग—अलग हैं, परन्तु दोनो का अर्थ तो एक ही हे। चारित्र का अर्थ करते हुए बतलाया गया हे कि चय का अर्थ 'कर्मसचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना हे। अर्थात् कर्मसचय को रिक्त (खाली) करना चरित्र हे। चरित्र कहो या सयम कहो, एक ही बात हे। अत चारित्र का फल ही सयम का फल हे। चारित्र का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना हे ओर सयम का भी यही फल हे।

कोई कर्म पुराना होता हे ओर कोई अनागत— आगे आने वाला— होता हे। कोई ऋण पुराना होता हे ओर कोई आगे किया जाने वाला होता

है। पुराने कर्मो की तो सीमा होती है, मगर नवीन कर्म असीम होते हैं। इस कथन का एक उद्देश्य है, जो लोग कहते है कि सयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है, तो तप का फल अलग क्यो बतलाया गया है? यदि तप और सयम का फल एक ही है, तो दोनो का अलग-अलग प्रश्न रूप मे वर्णन क्यो किया गया है? अगर दोनो का वर्णन अलग-अलग है तो तप और सयम मे क्या अन्तर है? इन प्रश्नो का, मेरी समझ मे, यह उत्तर दिया जा सकता है कि सयम आगे आने वाले कर्मो को रोकता है और तप आगत अर्थात् सचित कर्मो को नष्ट करता है। सचित कर्मो की तो सीमा होती है, पर अनागत कर्मो की सीमा नही होती है। सयम नवीन कर्म नही बधने देता और पुराने कर्मो का नाश करता है। सयम असीम कर्मो को रोकता है, अतएव सयम का कार्य महान् है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि सयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है। जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊचा माना जाता है।

इस कथन से यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का ख्याल नही करता और भविष्य का ध्यान नही रखता, सिर्फ वर्तमान के सुख मे ही डूबा रहता है, वह चक्कर मे पड जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे। इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध मे लडने के लिए जाते थे और अपने प्राणो की भी बलि चढा देते थे, क्या उन्हे प्राण प्यारे नही थे? प्राण तो उन्हे भी प्यारे थे, मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाये इसी दृष्टि से वे राजपाट छोडकर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणो को तुच्छ समझते थे।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सामने रखकर सयम के विषय मे विचार करो। जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणो की ममता त्याग कर लडने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के जो लोग राजपाट त्याग कर सयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे। उनकी सतान सोचती थी- हमारे पूर्वजो ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यो तृष्णा मे ही फसे रहे ? प्राचीनकाल के राजा या तो सयम-पालन करते-करते मृत्यु से भेटते थे या युद्ध करते-करते। वे घर मे छटपटाते हुए नही मरते थे। आजकल के लोग तो घर मे पडे-पडे हाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते हैं। ऐसे कायर

लोग अपना अकल्याण तो करते ही हैं, साथ ही दूसरो का भी अकल्याण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं– हे आत्मा! तू भूत–भविष्य का विचार करके सयम को स्वीकार कर। सयम आते हुए कर्मो को रोकता हे ओर निष्कर्म अवस्था प्राप्त करता हे।

कोई कह सकता हे कि क्या हमे सयम स्वीकार कर लेना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण सयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा ससार के प्रति जो ममता हे, उसे ही कम करो! इतना करोगे तो भी बहुत है। आज लोग साधन को ही साध्य मानने की भूल कर रहे हैं। उदाहरणार्थ– धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन हे। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुए प्राप्त की जा सकती हैं। मगर हुआ यह कि लोगो ने इस साधन को ही साध्य समझ लिया हे और वे धनोपार्जन करने मे ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तो झट कह दोगे कि हम धन के लिए नही हैं, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नही? सबसे पहले यही सोचो कि तुम कौन हो? यह विचार कर, फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, हाड या मास नही हो। ये सब वस्तुए तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अत धन हाड–मास के लिए नही, वरन् आत्मा के लिए है। यह बात भलीभाति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत वनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नही बनेगा, अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नही, साधन मानकर धनोपार्जन मे ही अपना जीवन समाप्त नही कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते हें कि धन आपके लिए हे, आप धन के लिए नही हें, तो में पूछता हू कि आप धन के लिए पाप तो नही करते? असत्य भाषण, विश्वासघात ओर पिता–पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होता है? धन के लिए ही सब होता हे। धन से ससार मे क्लेश–कलह होना इस बात का प्रमाण हे कि लोगो ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया हे। लोगो की इस भूल के कारण ही ससार मे दु ख व्याप रहा हे। धन को साध्य मानने के बदले साधन माना जाये ओर लोकहित मे उसका सद्व्यय किया जाये तो कहा जा सकता हे कि धन का सदुपयोग हुआ हे। इसके वदल आप साधन–सम्पन्न होने पर भी यदि किसी वस्त्रविहीन को ठण्ड से ठिठुरता देखकर भी ओर भूख–प्यास से कष्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता नही

करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है। धन का सदुपयोग करने मे हृदय की उदारता होना आवश्यक है। हृदय की उदारता के अभाव मे धन का सद्व्यय नही हो सकता। धन तो व्यवहार का साधन मात्र है। वह साध्य नही है, यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। धन के प्रति जो मोह है, उसका त्याग करने मे ही कल्याण है, 'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते', अर्थात् धन प्रमादी पुरुष की रक्षा नही कर सकता। शास्त्र के इस कथन को भलीभाति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नही समझेगा। वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नही रखेगा। धन के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष ही सयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

धन की भाति शरीर को भी साधन ही समझना चाहिए। शरीर को आप अपना मानते है, मगर क्या हमेशा के लिए यह आपका है? अगर नही तो फिर यह आपका कैसे हुआ? भगवतीसूत्र मे कहा है– कर्मो का बन्ध न अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही होता है। अगर अकेले शरीर से कर्मबन्ध होता तो उसका फल आत्मा क्यो भोगता? अगर अकेले आत्मा से बन्ध होता तो शरीर को फल क्यो भोगना पडता? आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न–भिन्न है और दूसरी दृष्टि से अभिन्न भी है। अतएव कर्म दोनो के द्वारा कृत हैं। ऐसी स्थिति मे शरीर को साधन समझ कर उसके द्वारा आत्मा का कल्याण करना चाहिए। जो शरीर को साधन समझेगा, वही सयम स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा। जिस वस्तु के प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु का सयम करना कहलाता है। अत बाह्य वस्तुओ के प्रति जितने परिमाण मे ममता त्यागोगे, उतने ही परिमाण मे आत्मा का कल्याण साध सकोगे।

भगवान् ने सयम का फल निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति बतलाया है। कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही हाथ मे है। सयम किसी भी प्रकार दु खप्रद नही, वरन् आनन्दप्रद है और परलोक मे भी आनन्ददायक है।



# सत्ताईसवां बोल

## तप

चारित्र अर्थात् सयम के विषय मे विवेचन किया जा चुका। सयम से अनागत कर्मो का निरोध होता है–आगे आने वाले कर्म रुकते हैं, मगर जो कर्म आ चुके है, उनका क्षय करने के लिए क्या करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है पूर्वकर्मो को नष्ट करने का साधन तप है।

लोगो को भावी रोग की इतनी चिन्ता नही होती, जितनी वर्तमान रोग की होती है। भावी रोग तो पथ्य, आहार–विहार से भी अटक सकता है, परन्तु वर्तमान रोग का निवारण करने के लिए औषध का सेवन करना पडता है। कर्मरूप भावी रोग को रोकने के लिए सयम की आवश्यकता हे ओर वर्तमान कर्म–रोग को अटकाने के लिए तप की। कर्मरूपी भावी रोग के निवारण के लिए सयम पथ्य के समान है। जो रोगी पथ्य का ध्यान नही रखता और भावी रोग का उपाय नही करता, उसका उपचार डॉक्टर नही कर सकता। कल्पना कीजिए– डॉक्टर रोगी को अमुक चीज न खाने के लिए कहता है, मगर प्रत्युत्तर मे रोगी कहता हे कि उसे खाये बिना मेरा काम चल ही नही सकता। अब बतलाइए, ऐसे रोगी का उपचार डॉक्टर क्या खाक करेगा?

इस प्रकार कर्मरूपी रोग को मिटाने के लिए जो व्यक्ति सयमरूपी पथ्य द्वारा, आते हुए कर्मो को नही रोकता, बल्कि आस्रव मे ही पडा रहना चाहता है, उस व्यक्ति के लिए वर्तमान कर्मों को नष्ट करने की दवा बतलाना व्यर्थ ही है। हा, जो भद्र पुरुष सयमरूपी पथ्य का पालन करता हे ओर इस प्रकार आते कर्मो को अटकाता हे, उसके लिए शास्त्रकारो ने सचित कर्मों को नष्ट करने की तपरूपी दया बतलाई हे।

सयम स्वीकार करने वालो को सचित कर्मो को नाश करने के लिये तप करना आवश्यक है। अतएव अब तप के विष्य मे प्रश्न किया गया है–

**मूलपाठ**

**प्रश्न– तवे ण भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– तवेण जीवे! वोदाणं जणयइ।**

**शब्दार्थ**

प्रश्न– भगवान् तप करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– तप करने से व्यवदान अर्थात् पूर्वकर्मो का क्षय होता है।

**व्याख्यान**

तप के फल के विषय मे विचार करने से पहले तप क्या है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। तप शब्द 'तप् सतापने' धातु से बना है। जो तपाता है उसे तप कहते हैं। यह तप शब्द का व्युत्पत्ति–अर्थ है। मगर कोरे व्युत्पत्ति–अर्थ को जान लेने से वस्तु समझ मे नही आ सकती। वास्तविकता समझने के लिए प्रवृत्ति–निमित्त को भी समझना चाहिए। जो तपाता है वह तप है। इस अर्थ के अनुसार तो अग्नि भी तप कहलाती है, क्योकि वह भी तपाती है। अतएव यहा देखना है कि तप का प्रवृत्ति–निमित्त क्या है? प्रवृत्ति–निमित्त के लिए शास्त्र मे कहा है– कर्मो का क्षय करने के लिए आत्मा को तपाना तप है। कर्मो के क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी भी सासारिक कार्य के लिए किये जाने वाले तप की गणना इस तप मे नही हो सकती। यहा सिर्फ उसी तप से अभिप्राय है जो कर्मो को नष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है।

कर्मो को भस्म करने के लिए आत्मा को तपाना तप का वास्तविक अर्थ हे, पर समुच्चय रूप से इस प्रकार कह देने पर भी तप का अर्थ समझ मे नही आ सकता। इस कारण शास्त्रकारो ने तप के छह आन्तरिक भेद और छह बाह्य भेद किये है। कुल बारह प्रकार का तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वेयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान ओर कायोत्सर्ग, ये तप के आभ्यन्तर छह भेद हे तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश ओर प्रतिसलीनता, ये छह बाह्य तप के भेद हे।

आज तप के अर्थ मे प्राय अनशन ही समझा जाता हे और अनशन तप ही बडा तप समझा जाता हे। शास्त्रकारो ने भी तप मे अनशन को महत्त्व का स्थान दिया हे। अनशन तप कर्मो को नष्ट करने का भी उपाय हे और शारीरिक रोगो का भी उससे नाश होता है। अमेरिका के उपवास चिकित्सको

ने उपवास द्वारा रोगियो के ऐसे–ऐसे रोग मिटाये हैं, जिन्हे डॉक्टरो ने असाध्य कह कर छोड दिया था। इससे भगवान् महावीर के धर्म की व्यापकता समझी जा सकती है। साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही कोई अपने को भगवान् महावीर का न माने, परन्तु भगवान् के सिद्धान्त की दृष्टि से समस्त ससार ही भगवान् महावीर का है और सारा ससार उन्हे मानता है। अनशन तप को लाभप्रद कौन नही मानता? सभी लोग और सभी धर्म अनशन को लाभप्रद समझते है। अनशन तप से आध्यात्मिक लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है।

अनशन के पश्चात् ऊनोदरी तप है। जो लोग ऊनोदरी तप का सेवन करते हैं, उन्हे अनशन तप करने की प्राय आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ऊनोदरी का अर्थ है– उदर मे जितनी जगह हो उससे कम खाना। इस प्रकार ऊनोदरी तप का अनुष्ठान करने से आध्यात्मिक लाभ भी होता हे और शारीरिक लाभ भी होता है। मगर लोग तो पेट को मानो 'डिनर बोक्स' समझ बैठे है ! वे प्रमाण से अधिक ठूस–ठूस कर पेट भरते है। जैसे 'लेटर बोक्स' पत्र डालने के लिए सदैव खुला रहता है। उसी प्रकार बहुत–से लोगो का मुह पेट मे भोजन ठूसने के लिए खुला रहता है, उन्हे यह विचार ही नही आता कि परिमाण से अधिक भोजन करने से भोजन–सामग्री तो बिगडती ही है, साथ ही शरीर भी बिगडता है। अधिक भोजन करने के लिए लोग तरह–तरह की तरकारिया, अचार, चटनी, मुरब्बा वगैरह बनाते हैं। पहले के लोग चोदह नियमो का चिन्तन इसलिए करते थे और इसीलिए द्रव्यो की मर्यादा करते थे कि परिमाण से अधिक न खाया जाये। अधिक न खाने से, अर्थात् कम खाने से ऊनोदरी तप भी हो जाता है ओर शरीर भी स्वस्थ रहता हे।

तीसरा तप वृत्तिसक्षेप हे, यह तप प्रधानत साधुओ के लिए हे, मगर श्रावक यह न सोचे कि यह हमारे लिए नही हे। साधुओ की वृत्ति भिक्षा हे, श्रावको की वृत्ति भिक्षा नही हे। जो श्रावक पडिमाधारी या ससार–त्यागी नही हे वह भिक्षा नही माग सकता। इसी प्रकार साधुओ के लिए भी कहा गया हे कि अगर तुम भलीभाति सयम का पालन कर सकते हो तो तुम्हारी भिक्षावृत्ति हे, अन्यथा पोरुषघ्नी भिक्षा हे। जिससे सयम का पालन नहीं होता वह याचना भी नही कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहने वाले को सकट का समाना नही करना पडता। दृढप्रतिज्ञ पुरुष को अनायास ही कही–न–कही से सहायता मिल जाती हे।

नैपोलियन बोनापार्ट के विषय मे सुना जाता है कि उसकी माता ने उससे कहा– अमुक कार्य के लिए मुझे इतने धन की आवश्यकता है। नैपोलियन अपनी माता का बहुत आदर करता था, मगर उसके पास माता को सतुष्ट करने योग्य धन नही था। उसने सोचा– माता की आज्ञा का पालन करने की प्रतिज्ञा मैं कर चुका हू और इतना धन मेरे पास नही हैं। ऐसी स्थिति मे पाण त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार सकल्प करके वह मरने के लिए रवाना हुआ। रास्ते मे उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। उसने नैपोलियन को एक थैली देकर कहा–'जरा इस थैली को पकडे रहिए, मैं पेशाब करके अभी आता हू।' नैपोलियन ने सोचा– 'चलो, मरना तो है ही। मरने से पहले इसका भी कुछ काम कर दू।' यो सोचकर नैपोलियन ने थैली अपने हाथ मे ले ली। वह थैली लिए उस आदमी की प्रतीक्षा करता रहा, मगर थैली वाला न जाने कहा गायब हो गया। वह वापिस लौट कर नही आया। नैपोलियन ने थैली खोली और देखा तो उसमे उतना ही धन था जितना उसकी माता ने उससे मागा था।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि नैपोलियन को वह धन कहा से मिला? विचार करने से यही विदित होता है कि प्रतिज्ञा के प्रताप से ही वह धन नैपोलियन को प्राप्त हो सका।

ऐसी ही एक बात उदयपुर के महाराणा के विषय मे सुनी जाती है। राणा जगल मे रहते थे। उस समय बादशाह फकीर बन कर राणा के अतिथिसत्कार–प्रेम की परीक्षा लेने आया। उसने राणा के पास पहुचकर कहा– 'मुझे चादी की थाली मे, मेवा की खिचडी खाने के लिए दीजिए।' राणा की प्रतिज्ञा थी कि वह अपने पास आये अतिथि को निराश होकर नही जाने देता था। मगर जिस समय बादशाह पहुचा उस समय राणा के पास मुट्ठी–भर अन्न का भी ठिकाना नही था। ऐसी स्थिति मे वह चॉदी के थाल मे मेवा की खिचडी कहा से खिलाते? राणा ने बादशाह को पहचान लिया। मगर राणा ने यह सा विचार किया, 'यह फकीर बन कर आया है और मेरा मेहमान बना है। इसका सत्कार करना मेरा फर्ज है। लेकिन सत्कार किस प्रकार किया जाये? आज मेरी प्रतिज्ञा भग होने जा रही है। प्रतिज्ञा भग होने की अपेक्षा तो मर जाना कही बेहतर है।'

इस प्रकार सोच–विचार कर राणा ने फकीर से कहा–'आइए, बैठिए। फकीर को बिठला कर आप पीछे के मार्ग से मर जाने के लिए जगल की ओर चल दिया। रास्ते मे राणा को एक मनुष्य मिला, वह बैल पर माल

लादे जा रहा था। उसने कहा—'भाई, मुझे शोच जाना है। थोडी देर इस बेल को पकड रखो न? मैं अभी लौट आता हू।' राणा ने सोचा— मरना तो है ही, इससे पहले इसका काम कर दिया जाये तो अच्छा ही है। इस प्रकार विचार कर राणा ने बैल को पकड लिया। वह मनुष्य बेल को पकडा कर चला गया और ऐसा गया कि बहुत देर तक भी वापिस नही लोटा। राणा खडे—खडे निराश हो गये। सोचा, देखू इस पर क्या माल लदा हुआ है? राणा ने देखा तो उन्हे विस्मय हुआ। उस पर चॉदी की थालिया ओर मेवा लदा था। राणा ने वह सब सामान लाकर फकीर का अतिथिसत्कार किया।

तात्पर्य यह है कि जो दृढप्रतिज्ञ होता हे उसे किसी—न—किसी प्रकार से अनायास सहायता मिल जाती है। साधुओ को भी अपनी सयम पालने की प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए। सयम—पालन के साथ ही भिक्षावृत्ति स्वीकार करना उचित हे।

श्रावको को भी वृत्तिसक्षेप तप का पालन करना चाहिए। उन्हे अपनी वृत्ति मे अधर्म न पैठने देने का सतत ध्यान रखना चाहिए और प्रतिज्ञा पर दृढ रहना चाहिए। ऐसा करने से कार्य भी सफल होगा ओर सकटो से भी बचाव होगा। इसी प्रकार अन्य तपो का स्वरूप शास्त्र के अनुसार समझकर यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

यह पहले ही कहा जा चुका हे कि तपो मे अनशन तप प्रधान हे। चाहे अनशन तप हो, चाहे ऊनोदरी हो, वह कर्मो को नष्ट करने के लिए ही होना चाहिए। आजकल अनशन रोग नष्ट करने का भी एक साधन माना जाता है। इस प्रकार अनशन भले ही व्यावहारिक तप कहलाएगा, पर ऐसे अनशन की गणना तप मे नही हो सकती। वही अनशन तप मे गिना जा सकता हे जो कर्म नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया हो।

पहले बतलाया गया था कि ऊनोदरी तप किया जाये तो अनशन करने की आवश्यकता ही न रहे। इसका अर्थ यह नही कि ऊनोदरी करने वाल को अनशन तप करना ही नही चाहिए। यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई थी कि रोग नष्ट करने के लिए जो ऊनोदरी करता हे, उसे अनशन करन की आवश्यकता ही नहीं रहती। कर्मो को नष्ट करने के उद्देश्य से तो ऊनोदरी तप करने वाला अगर अनशन तप करता हे तो ओर भी अच्छी बात हे।

जिस तप से मन, वचन ओर काय की शुद्धि होती हे, वही तप श्रेष्ठ है। मन, वचन ओर काय की शुद्धि करने वाला तप ही वास्तविक तप हे। कितनेक तपस्वी अधिक क्रोधी होते ह। मगर जो प्रचड क्रोध करता ह, कहा

जा सकता है कि उसमे अभी तक तप नही है। तप मे क्रोध को स्थान नही हो सकता। जिस तप मे क्रोध को स्थान नही है, वही तप वास्तविक है।

जैन शास्त्र अनशन तप को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। महाभारत मे भी अनशन तप की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। कहा है –

**तपो न अनशनात् परम्।**

अर्थात्– अनशन से श्रेष्ठ और कोई तप नही है।

तप आत्मा को सब पापो से अलग रखता है। जो तप करता है वह अहिसा का भी पालन करता है, सत्य का भी पालन करता है, अदत्तादानत्याग का भी पालन करता है और वही ब्रह्मचर्य आदि का भी पालन करता है। ब्रह्मचर्य पालने के लिए मानसिक वृत्तियो को वश मे करने की आवश्यकता है, मन की वृत्तिया अन्य उपायो से कदाचित् वश मे न भी हो, परन्तु अनशन तप से अवश्य वश मे हो जाती है। गीता मे कहा है–

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन·।**
**रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्त्तते।।**

अर्थात्– अनशन करने से विषय की वासना ही नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर अब्रह्मचर्य या अन्य पापो की भावना ही किस प्रकार टिकी रह सकती है,

तप करने वाले की वाणी पवित्र और प्रिय होती है। और जो प्रिय, पथ्य ओर सत्य बोलता हे, उसी का तप वास्तव मे तप है। असत्य या कटुक वाणी कहने का तपस्वी को अधिकार नही है। तपस्वी सत्य और प्रिय वाणी ही बोल सकता है। तपस्वी को भूल कर भी ऐसे वचनो का प्रयोग नही करना चाहिए जिनसे दूसरो को दु ख या भय उत्पन्न हो। तपस्वी तो भयभीत को भी अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा निर्भय बना देता है। जब सयति राजा भयभीत हो गया था तब गर्दभालि मुनि ने उसे आश्वासन देते हुए कहा था –'पृथ्वीपति! तू निर्भय हो। भय मत कर।' वे मुनि तपोधन थे, ऐसा शास्त्र का उल्लेख है। तपोधन दूसरो को निर्भय बनाता है ओर अपनी वाणी द्वारा किसी को भी भय नही पहुचाता।

भयभीत व्यक्ति को निर्भय बनाते समय तपोधन मुनि भयभीत व्यक्ति के अपराधो की ओर नही देखते। उनका दृष्टिकोण भयभीत को निर्भय बनाना ही होता है। जो पुरुष तपस्वी को गालिया देता हे या मारपीट करता हे, उसे भी तपस्वी कटुक वचन कहकर भयभीत नही करता, प्रत्युत उसे अभयदान देकर निर्भय बनाता ह। तपस्वी दूसरो द्वारा दिये हुए कष्टो को प्रसन्नतापूर्वक

सहन कर लेता है, मगर सामर्थ्य होने पर भी दूसरो को भयभीत नही करता। यही तपस्वी की बडी विशेषता है। गजसुकुमार मुनि मे क्या शक्ति नही थी? फिर भी उन्होने मस्तक पर धधकते हुए अगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण को वचन से भी भयभीत नही किया! बल्कि उसे परम सहायक समझकर अभयदान दिया। इतना ही नही, गजसुकुमार के गुरु भगवान् नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण से भी यही कहा था कि हे कृष्ण! उस पुरुष पर क्रोध मत करो। उसने तो राजकुमार मुनि को सहायता दी है। यद्यपि सोमल ब्राह्मण ने उनके शिष्य के माथे पर दहकते हुए अगारे रखे थे, फिर भी भगवान् ने उस पर क्रोध नही किया और श्रीकृष्ण को भी क्रोध करने से रोका। इस प्रकार तपस्वी किसी को भयभीत नही करते और जो भयभीत नही होता है, उन्हे अपनी अमृतवाणी द्वारा आश्वासन देकर निर्भय बनाते है।

कहने का आशय यह है कि तपस्वी की वाणी मे शुद्धि और पवित्रता होनी चाहिए। इतना ही नही, वरन् उनके मन मे भी शुद्धि और पवित्रता होना आवश्यक है। ऐसा नही होना चाहिए कि प्रकट मे वाणी द्वारा कुछ और कहा जाये तथा मन मे दुर्भावना रखी जाये। जो तपस्वी अपने मन ओर वचन मे एकता नही रखता, उसका तप प्रशस्त नही है। सच्चा तप तो वही हे जिसके द्वारा मन शरद्–ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बन जाता हे। मन मे जब रजोगुण या तमोगुण होता है तब मन निर्मल नही रह सकता। जिसका मन रजोगुण या तमोगुण से अतीत हो जाये, अथवा त्रिगुणातीत हो जाये तो समझना चाहिए कि वह सच्चा तपस्वी हे ओर उसका मन निर्मल हे। जब तपस्वी को मन त्रिगुनातीत होकर निर्मल हो जाता हे तभी तपस्वी का मन फलता है अर्थात् तप का फल व्यवदान प्राप्त होता है। जेसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है ओर अपने इस कार्य मे वह राजा–रक का भेद नही रखता, अपना सौम्य प्रकाश सभी को समान रूप से प्रदान करता हे, उसी प्रकार जो महात्मा मन मे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेद नही रखता, सभी को शान्ति पहुचाता हे, वही कर्मो का नाश करके मुक्त हो सकता हे। इस विषय मे गीता मे कहा है–

**मनः प्रसाद सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रहम्।**
**भाव सशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।**

तप मानसिक, वाचिक ओर कायिक के भेद से तीन प्रकार का हे। तीनो प्रकार से तप करने वाले का ही तप परिपूर्ण कहलाता हे। पूर्ण तपस्वी का मन प्रसन्न ओर शात रहता हे।

किसी धन के अभिलाषी को अनायास ही धन मिल जाये तो वह कितना प्रसन्न होता है? धन के अभिलाषी पुरुषो के लिए जो धन आनन्ददायक है, वही धन साधुओ के लिए हानिकारक है। चोर का भय प्राय धनिको को होता है। राजा धनिको को ही अधिक सताता है, पर तपस्वियो को किसी का भय नही होता। इस प्रकार धन कोई उत्तम वस्तु नही है, फिर भी गृहस्थो को धन रखना ही पडता है, क्योकि धन के बिना ससार–व्यवहार नही चलता। जैसे ससार–व्यवहार के लिए धन का होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार साधुओ के लिए तप का होना अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थो का धन रुपया–पैसा है और साधुओ का धन तप है। साधुओ के लिए शास्त्र मे कहा है– अणगारे तवोधणे।' अर्थात् साधु तपोधनी है। जो मुनि तपोधनी होता है उसका मन गगा के जल के समान निर्मल होता है। गगाजल मे लोग गदगी डालते हैं तो गगा उस गदगी को भी साफ कर देती है। इसी प्रकार तपोधनी मुनि गदे मनुष्यो को बन्दे अर्थात् परमात्मा के भक्त बना देते हैं। तपोधनी का प्रशस्त मुख देखकर वैरी भी अपना वैर भूल जाता है। तपोधनी का मुख शात, मन प्रसन्न और वचन मधुर होता है। तपस्वी की मुखमुद्रा पर शाति और सौम्यता का भाव टपकता रहता है। यह सौम्यभाव देखने मात्र से तपस्वी का तपस्तेज प्रतीत हो जाता है। तपस्वियो की प्रशात मुखमुद्रा से ही विदित हो जाता है कि इन महात्मा की तपश्चरण आदि गुणसम्पत्ति कितनी है! तपस्वियो की तप समृद्धि किस प्रकार खयाल मे आ जाती है, इस बात का वर्णन उतराध्ययनसूत्र के बीसवे अध्ययन मे किया गया है। अनाथी मुनि को देख राजा श्रेणिक कहने लगा– अहो! इन मुनि मे कैसी क्षमा है। कैसा इन्द्रियनिग्रह है! मुनि कितने सौम्य हैं! इनका कैसा तपस्तेज है।

राजा ने अनाथी मुनि की क्षमा या तप साक्षात् नही देखा था। फिर भी उनकी मुखमुद्रा पर से ही अनुमान कर लिया था कि ये मुनि क्षमासागर और तपस्वी है। तपस्वी का मुख सदैव सौम्य रहता है।

तपस्वी महात्मा या तो स्वाध्याय मे या परमात्मा के ध्यान मे लीन रहते है अथवा मौन का सेवन करते हैं। वे अधिक नही बोलते और जब बोलते है तो तप के लिए ही बोलते हैं, अर्थात् दूसरो को निर्णय बताने के लिए ही बोलते है। गर्दभालि मुनि ध्यान–मौन मे थे, परन्तु सयति राजा को भयभीत देखकर उसे निर्भय बनाने के लिए ही वे बोले थे। इस प्रकार तपस्वी मन की गति को आत्मा का निग्रह करने की ओर झुकाते है। वे अन्य कर्मों मे मन का उपयोग नही करते। तपस्वियो के भाव उज्ज्वल होते हैं, मलीन नही। तात्पर्य

यह है कि जिस तप द्वारा मानसिक शुद्धि हो, वही सच्चा तप है। कर्म की निर्जरा करने के लिए, अर्थात् व्यवदान फल प्राप्त करने के लिए जीवन मे तप को स्थान दो तो कल्याण होगा।

साधुओ के लिए शास्त्र मे कहा है—

**संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरइ।**

अर्थात् जो तप—सयम द्वारा आत्मा को प्रभावित करता हुआ विचरता है, वही वास्तव मे साधु है। ऐसा तपस्वी ओर सयमी साधु अपना ओर पर का कल्याण साधन कर सकता हे।

पहले बतलाया जा चुका है कि जैन शास्त्र क्रियात्मक धर्म की प्ररूपणा करता है। इस प्रसग से भी यह बात सिद्ध होती हे। अतएव जो साधु—साध्वी, श्रावक—श्राविका अपने को भगवान् के शासन का अनुयायी मानता हो, उसे तप ओर सयम की आराधना करनी चाहिए। तप ओर सयम से ही आत्मा का कल्याण होता है। अत मन, वचन और काय से तप एव सयम को अपने जीवन मे प्रत्येक को स्थान देना चाहिए। ऐसा किये बिना आत्मकल्याण नही होता।

कितनेक लोग दूसरे को कष्ट देने के लिए या अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए भी तप करते हैं, मगर ऐसा तप इस तप मे नही गिना जा सकता। यहा जिस तप का वर्णन किया गया हे, वह कर्मो का क्षय करने के लिए ही हे। वास्तव मे सच्चा तप वही हे जो दूसरो को कष्ट देने के लिए न किया गया हो, सिर्फ कर्मो की निर्जरा के उद्देश्य से किया गया हो।



# अट्ठाईसवां बोल

## व्यवदान

सम्यक्त्व मे पराक्रम करने के लिए भगवान् ने 73 बोल कहे हैं। उनमे से 27 बोलो का विवेचन विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। 27वे बोल, तप के विषय मे प्रश्न किया गया था कि–'तवेण भते! जीवे कि जणयइ?' अर्थात् हे भगवान्! तपश्चर्या से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया–'तवेण जीवे वोदाण जणयइ।' अर्थात् तपश्चर्या करने से व्यवदान अर्थात् पूर्वसचित कर्मो का क्षय होता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न कर रहे हैं कि पूर्व सचित कर्मो का क्षय करने से, व्यवदान से–जीव को क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

**प्रश्न–वोदाणेणं! भते जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर–वोदाणेणं अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमतं करेइ।। 28।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– व्यवदान से, भगवान्! जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– व्यवदान (पूर्वसचित कर्मों का क्षय करने से) जीवात्मा सब प्रकार की क्रिया से रहित होता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होकर सब दु खो का अन्त करता है।

### विवेचन

व्यवदान, तप का साक्षात् और तात्कालिक फल है। फल दो प्रकार का होता है। एक तो अनन्तर अर्थात् तत्काल मिलने वाला फल और दूसरा

पारम्परिक फल अर्थात् परम्परा से मिलने वाला। व्यवदान तप का तत्काल मिलने वाला फल है। कार्य समाप्त होते ही जो फल मिलता है वह अनन्तर्य फल कहलाता है और तप का अनन्तर्य फल व्यवदान है। इस प्रकार पूर्वसचित कर्मो का क्षय होना तप का तत्काल मिलने वाला फल है।

तप का तात्कालिक फल व्यवदान, अर्थात् सचित कर्मो का क्षय होना है, परन्तु पूर्वसचित कर्मो का क्षय करने से जीवात्मा को लाभ क्या होता है? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। गोतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया– व्यवदान करने से जीव अक्रिय अवस्था प्राप्त करता है।

जहा कोई भी क्रिया करने का निमित्त नही रहता वह अक्रिय दशा कहलाती है। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाना व्यवदान का फल है।

शास्त्र मे शुक्ल ध्यान के चार भेद बतलाए गए हैं। उनमे चोथा भेद अक्रिय अवस्था है। यह अक्रिय अवस्था मोक्षप्राप्ति के समय ही प्राप्त होती है। अक्रिय अवस्था प्राप्त करने से आत्मा मन, वचन, काय के योग का निरोध करके शैल–पर्वत– की भाति अडोल, स्थिर, अकप बन जाता है। शास्त्र मे कहा है आत्मा मे जब तक कर्मो का प्रभाव बना रहता हे, तब तक आत्मा स्थिर नही हो सकता। कर्म जब नष्ट हो जाते है तभी आत्मा स्थिर ओर शात बन सकता है।

समुद्र का पानी स्वभाव से स्थिर है, परन्तु पवन की प्रेरणा के कारण चचल बन जाता है। पानी का स्वभाव तो स्थिर रहने का हे, परन्तु पानी का भरा बर्तन आग पर रखने से, आग की प्रेरणा पाकर पानी उबलने लगता हे। एजिन मे आग की प्रेरणा से ही पानी के द्वारा भाप उत्पन्न होती हे। उसी भाप के कारण एजिन दूसरे डब्बो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर झपाटे के साथ ले जाता है और छोड आता हे। इसी प्रकार रेलगाडी का सारा व्यवहार प्रेरणा से ही चल रहा है।

इसी प्रकार कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाडी से चोरासी लाख जीवयोनियो मे दोडता फिरता हे। अब तो आत्मा को भव–भ्रमण की यह दोडधूप बन्द करके अपने–आप को 'स्थिर' करना चाहिए। आत्मा को स्थिर करने के लिए ही आत्मा का कर्म–रहित, अक्रिय होने की आवश्यकता हे।

जैसे पानी का स्वभाव उबलने का नही हे, फिर भी आग की प्रेरणा से ही वह उबलता हे, ओर यह प्रेरणा बाहरी होने के कारण रोकी भी जा सकती है। इसी प्रकार आत्मा को भवभ्रमण ओर अस्थिर रखने की प्रेरणा करने वाले कर्म हे। कर्मो की यह प्रेरणा बाहरी आर बनावटी होने के कारण

रोकी जा सकती है। इसी कारण भगवान् ने फरमाया है कि पूर्वसचित कर्मो का क्षय (व्यवदान) करने से जीवात्मा अक्रिय दशा प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शात हो जाता है।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सभी की समझ मे आ सकता है। इस सत्य कथन मे किसी को सदेह करने की गुजाइश नही है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा मे जो–कुछ भी अस्थिरता पाई जाती है, वह योग की चपलता की बदौलत ही है। योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जाएगी और आत्मा 'स्थिर' तथा 'शात' हो जाएगा।

भगवान् ने तो सब जीवात्माओ को उद्देश्य करके आत्मा को स्थिर बनाने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगो का आत्मा तो घुडदौड के घोडे की तरह दौडधूप ही करना चाहता है। ऐसी दशा मे तुम्हारे आत्मा को शाति किस प्रकार मिल सकती है? घुडदौड के घोडे चाहे जितनी दौड लगावे, आखिर उन्हे शाति तो तब ही मिल सकती है, जब वे दौड बन्द करके स्थिर होते है। हमेशा दौडते रहना न ठीक है और न शक्य ही है।

इसी प्रकार आत्मा इस ससार मे चाहे जितनी दौडधूप करे, मगर आखिर वह जब स्थिर होगा तभी उसे सच्ची शाति मिलेगी। जहॉ तक आत्मा स्थिर नही होता, तहा तक आत्मा को शाति मिलना सभव नही। व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर भी यह बात पुष्ट होती है। तुम कार्यवश बाजार जाकर चाहे जितनी दौडधूप करो, मगर घर आकर स्थिर और शात हुए बिना व्यावहारिक शाति कभी नही मिल सकती। यही बात दृष्टि मे रखकर बुद्धिमान पुरुषो ने कहा है कि मनुष्य मे न तो ऐसा आलस्य होना चाहिए कि वह कोई काम ही पूरा न कर सके और न ऐसी चचलता ही होनी चाहिए जिसके कारण शान्ति ही नसीब न हो सके। मनुष्य को मध्यम मार्ग पर चलने की आवश्यकता है।

भगवान् ने योगनिरोध करने की जो बात कही है, वह चौदहवे गुणस्थान की है, और अपने इस काल मे ऊँचे से ऊचे छठे व सातवे गुणस्थान तक ही पहुच सकते है। अतएव हमे दौडने की ऐसी उतावली नही करनी चाहिए कि रास्ते मे कही ठोकर खाकर गिर पडे, और ऐसी स्थिति हो जाए कि न इधर के रहे न उधर के रहे।

शास्त्र के इस कथन को अमल मे किस प्रकार लाया जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यह बात तो हमे स्मरण मे रखनी चाहिए कि चौदहवे गुणस्थान मे पहुचने से अक्रिय दशा प्राप्त होती है, अतएव एकदम ऐसा प्रयत्न

नहीं करना चाहिए कि चौदहवे गुणस्थान की स्थिति प्राप्त करने के बदले ओर नीचे गिरने की नौबत आ जाए।

किसी भी ऊचे स्थान पर चढने के लिए सीढी–सीढी चढना पडता है। अगर कोई मनुष्य एक साथ, छलाग मार कर दो–चार सीढिया कूदना चाहता है तो उसके नीचे पडने की अधिक सभावना रहती है। इसलिए हमे ऐसी छलाग नही मारनी चाहिए कि इस समय हम जिस गुणस्थान मे हैं, उससे भी नीचे पड जाए। हम लोगो को तो आत्मा का विकास करना है। अगर हम आलसी होकर बैठे रहेगे तो आत्मविकास कैसे कर सकेगे? साथ ही एकदम छलाग मारकर ऊपर चढने का प्रयत्न करेगे तो नीचे गिरने का भय है। अतएव मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके क्रमपूर्वक आत्मविकास करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

आजकल धार्मिक सुधार करने के लिए मध्यम श्रेणी के लोगो की अत्यन्त आवश्यकता है। इन साधुओ को पूर्वकाल के महात्माओ ने जो जवाबदारी सौंपी है, उसे एक किनारे रख देना और जो यम–नियम बताये हैं, उन्हे छोड बैठना हमारे– साधुओ के लिए उचित नही है।

दूसरी तरफ, तुम लोग जैसा जीवनव्यवहार चला रहे हो, वैसा ही चालू रखोगे तो धर्मोन्नति होना कठिन है। पहले के जमाने मे जो–कुछ होता था वह उस जमाने के मुताबिक होता था। पर अब ऐसा जमाना आ गया हे कि हमे समयानुसार धर्म का प्रचार करने का प्रयत्न करने की खास आवश्यकता है। पहले जमाने मे आजकल की तरह धार्मिक पाठशालाए नही थी। उस समय साधु श्रावको को प्रतिक्रमण आदि का धार्मिक शिक्षण देते थे। इसके सिवाय उस समय आजकल की भाति व्यावहारिक शिक्षा भी नही दी जाती थी। अब लौकिक शिक्षा बढ गई हे तो धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता भी बढ गई है। परन्तु तुम लोग तो ऐसे सब काम साधुओ की मार्फत ही कराना चाहते हो और कहते हो कि साधु यह काम नही करते तो समाज का खाते क्यो हैं? खाने के बदले वे हमारा क्या काम करते हैं? ऐसा कहना तुम्हारी भूल है। साधु तुम्हारे भरोसे नही हैं। वे अपने सयम का ओर अपने पूर्वजो द्वारा बाधे हुए नियमो का पालन करते हुए चाहे जहा से अन्न–पानी ला सकते है। इसलिए तुम साधुओ के सिर ही सारी जवाबदारी मत मढो। विचार करो कि यह उत्तरदायित्व तुम्हारा भी हे। तुम हमारे माथे उत्तरदायित्व मढते हो, मगर हम लोग कहा–कहा पहुचे? आत्मसुधार ओर धर्मसुधार के लिए तो साधु यथाशक्य प्रयत्न करते ही हैं। परन्तु तुम लोग जब विदेश जाते हो ता क्या

अपने साथ अपना धर्म भी वहा ले जाते हो? कहा जाता है कि ऐसा करने मे धार्मिक बाधा आती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाला भूल करता है। चम्पा का पालित श्रावक समुद्र यात्रा करके पिहूड नगर गया था। उनकी इस समुद्रयात्रा मे क्या कुछ शास्त्रीय विरोध–बाधा थी? आज शास्त्र का रहस्य पूरी तरह समझने का प्रयत्न नही किया जाता, शास्त्र का सिर्फ दुरुपयोग किया जाता है।

जैन शास्त्र मे ऐसी कोई सकीर्णता नही है। इतना ही नही, ससार मे जो सकीर्णता फैली हुई थी, जैन शास्त्रो ने उसे हटाया है और बताया है कि समुद्रयात्रा करना ऐसा कोई भयकर पाप नही है। जिस पालित श्रावक ने समुद्रयात्रा की थी, उसके विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि पालित श्रावक श्रावको मे पडित और जैन शास्त्रो मे कुशल था। उस पालित श्रावक की समुद्रयात्रा मे जो धर्म बाधक नही बना, वही धर्म आज बाधक कैसे हो सकता है? अतएव धर्म समुद्रयात्रा मे बाधक है, ऐसा बहाना न करके जहा–कही तुम जाओ, अपने धर्म को भी साथ लेते जाओ। सदैव ध्यान रखो कि हमारा धर्म हमारे साथ है और हमारी यात्रा का ध्येय धर्म का प्रचार करना है। तुम यही समझो कि हम अपने धर्म का प्रचार करने के लिये ही विदेश मे आये है। क्या इस प्रकार धर्म का प्रचार करते रहने से तुम्हारे किसी व्यावहारिक काम मे बाधा खडी होती है? आर्यो के विषय मे कहा जाता है कि आर्य लोग जब भारत मे आये थे तब वे अपना धर्म और अपनी सस्कृति भी साथ लाए थे। जब आर्य लोग अपना धर्म और अपनी सस्कृति साथ लाए थे तो फिर तुम लोग अपने जैन धर्म को और अपनी जैन सस्कृति को विदेश मे साथ क्यो नही ले जा सकते? तात्पर्य यह है कि धर्म प्रचार के विषय मे निष्क्रिय हो बैठने से काम नही चल सकता। श्रावको को भी अपना उचित भाग अदा करना चाहिए।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि व्यवदान से, अर्थात् पूर्वसचित कर्मो का क्षय करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– हे गौतम! प्रथम तो पूर्वसचित कर्मो का क्षय होना ही अत्यन्त कठिन हे, परन्तु जब कर्मों का क्षय हो जाता हे तो जीवात्मा को अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाती हे। यह अक्रिय अवस्था प्राप्त होने से आत्मा की अस्थिरता दूर हो जाती है और पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है।

भगवान् के इस उत्तर से यह बात निश्चित हो जाती है कि ससार मे जितनी भी चचलता प्रतीत होती है, वह सब कर्मो की उपाधि के कारण ही है। यद्यपि चचलता के कारण ससार है और ससार के कारण चचलता है, तथापि प्रत्येक आत्महितैषी व्यक्ति को ससार के मायाजाल से मुक्त होने का और आत्मा को स्थिर करके शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जन्म–मरण करते–करते आत्मा ने अनन्तकाल व्यतीत किया है, फिर भी उसे शान्ति नही मिली। वास्तव मे जब तक आत्मा मे चचलता है, स्थिरता नही आई है, तब तक आत्मशान्ति नही मिल सकती। आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को स्थिर करना चाहिए।

जो आत्मा ससार मे ही भ्रमण करना चाहता है, उसके लिए तो यह धर्मोपदेश भैंस के आगे बीन बजाने के समान है, परन्तु जो जीवात्मा ससार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल होकर ससार के मायाजाल से मुक्त होने की अभिलाषा रखते है, उसके लिए तो यह शान्ति का मार्ग है। आत्मा को स्थिर करना ही जन्म–मरण से मुक्त होने का और आत्मशान्ति प्राप्त करने का राजमार्ग है।

हमारे सामने दो मार्ग है, ससारमार्ग और मोक्षमार्ग। इन दो मार्गो मे से आत्मा जिस मार्ग पर जाना चाहे, जा सकता है। ससारमार्ग पर जाने से भवभ्रमण बढता है और मोक्षमार्ग पर चलने से भवभ्रमण रुकता हे। ससारमार्ग बन्धन का कारण है और मोक्षमार्ग मुक्ति का कारण हे। शास्त्रकार तो प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष का ही मार्ग बतलाते हैं, क्योकि मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त बनता हे ओर सब दु खो का अन्त करता है।

सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के लिए आत्मा को सर्वप्रथम स्थिरात्मा बनने की आवश्यकता है। स्थिर हुए बिना आत्मा को शान्ति नही मिल सकती। वास्तव मे आत्मा स्वभाव से तो स्थिर ही हे, परन्तु कर्मरूपी अग्नि की प्रेरणा से वह अस्थिर बन गया है। कभी उच्च कर्मो का उदय होता हे तो कभी–कभी नीच कर्मों का। अर्थात् कभी पुण्य का ओर कभी पाप का उदय होता रहता है। इसी कारण आत्मा अस्थिर बन जाता हे। आत्मा को अस्थिर ओर अशान्त बनाना कर्मो का मुख्य काम है। पुण्य ओर पाप, दोनो कर्मों के ही विकार (फल) हैं। पुण्य, कर्मो का शुभ परिणाम हे ओर पाप, अशुभ कर्मो का परिणाम हे। इस प्रकार पुण्य–पाप दोनो कर्मों की ही सतान ह। इसलिए शास्त्रकार

कहते हैं कि आत्मा को पुण्य और पाप रूप दोनो प्रकार के कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पानी मे चाहे शक्कर डाली जाए, चाहे कोई कटुक चीज डाली जाये, पानी तो दोनो के डालने से विकृत होगा ही। यह बात दूसरी है कि शक्कर डालने से पानी मे जो विकृति आती है वह शुभ विकृति है और कटुक चीज के सयोग से होने वाली विकृति अशुभ है। परन्तु ये दोनो वस्तुए विकार-जनक होने के कारण उनसे पानी तो अशुद्ध हुआ ही। पानी मे जब बाहर की कोई भी वस्तु न मिलाई जाये, तभी पानी का मूल स्वरूप देखा जा सकता है। इसी प्रकार पुण्यकर्म शुभ दशा है और पापकर्म अशुभ दशा है। परन्तु इन दोनो प्रकार के शुभाशुभ कर्मो द्वारा आत्मा तो विकृत होता ही है। शुभाशुभ कर्मो की इस विकृति से आत्मा जब छुटकारा पाता है तभी वह अपने असली स्वरूप मे स्थिर होता है। इसी कारण शास्त्रकारो ने पुण्य और पाप, दोनो प्रकार के शुभाशुभ कर्मो को अन्त मे त्याज्य बतलाया है।

जीवात्मा मे जब तक बालभाव है- अज्ञान दशा है- तब तक वह शुभ कर्मो को शुभ समझता और उसी मे आनन्द मानता है, परन्तु कर्म, चाहे वह शुभ ही क्यो न हो, आत्मा को तो अशुद्ध ही बनाता है। जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं, उन्हे तो शुभ और अशुभ, दोनो प्रकार के कर्मों का त्याग करना पडेगा और आत्मा को कर्मरहित बनाना पडेगा।

व्यवदान का फल बतलाते हुए भगवान् ने शुक्लध्यान को चौथी अवस्था- अक्रिय दशा की बात कही है। अक्रिय दशा का अनुभव मोक्ष जाने के समय ही होता है। मै अब तक शुक्लध्यान की चौथी अक्रिय अवस्था का अनुभव नही कर सका हू, परन्तु जो महापुरुष तेरहवे गुणस्थान मे पहुच कर चौहदवे गुणस्थान की स्थिति प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उनका कहना है कि अक्रियदशा प्राप्त होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। चौदहवे गुणस्थान की स्थिति, 'अ इ,उ,ऋ,लृ' इन पाच ह्रस्व स्वरो के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय की है। इतने अल्प समय मे आत्मा अक्रिय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यद्यपि मोक्ष जाने मे आत्मा को इतना ही समय लगता है, तथापि मोक्षप्राप्ति के लिए अभ्यास, प्रयत्न, पुरुषार्थ तो पहले से ही करना पडता है। जैसे निशाना ताकने मे अधिक समय नही लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने मे बहुत समय लगता है और समय तक अभ्यास करने के बाद ही ठीक निशाना साधा जा सकता है, इसी प्रकार मोक्ष तो थोडे समय मे हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक

है। राधावेध करने मे अधिक समय नही लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने मे बहुत समय लगता है और समय है, इसी प्रकार मोक्ष तो थोडे समय मे हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। राधावेध मे बहुत समय नहीं लगता । इसी प्रकार मोक्ष तो पाच लघु अक्षर उच्चारण करने जितने काल मे हो जाता है। परन्तु इस लक्ष्य को साधने के लिए पहले बहुत समय अभ्यास करना पडता है। शास्त्रकार मोक्षरूपी लक्ष्य को साधने का ही उपदेश देते हैं। इस उपदेश का ध्यान रखते हुए मोक्ष साधने का अभ्यास करते रहो। अगर अभ्यास और प्रयत्न ठीक तरह किया जाएगा तो कार्य सिद्ध होते देर नही लगेगी।

प्रत्येक लक्ष्य को साधने का अभ्यास या प्रयत्न उपयुक्त साधनो द्वारा ही करना चाहिए, विपरीत साधनो द्वारा नही। विपरीत साधनो द्वारा अभ्यास करने से कार्य सिद्ध होने के बजाय बिगड जाता है।

भगवान् कहते हैं– तप का फल व्यवदान है और व्यवदान का फल अक्रिया है। अक्रिया दशा प्राप्त होने पर ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अक्रिय दशा को प्राप्त होने पर आत्मा जब सिद्ध हो जाती है और सिद्ध शब्द मे दूसरे सब शब्द गतार्थ हो जाते हैं तो फिर शास्त्रकारो ने 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध', 'मुक्त' आदि शब्दो का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? ऐसा करने मे उनका क्या आशय था? इस बात पर यथामति और यथाशक्ति विचार करना आवश्यक है।

ससार मे सिद्धि का स्वरूप भिन्न–भिन्न दृष्टियो से माना जाता है। कुछ लोग दीप–निर्वाण के समान अर्थात् दीपक बुझ जाने के समान सिद्धि का स्वरुप मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे बुझ जाने के बाद दीपक कुछ भी नही रहता, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध होने के बाद कुछ भी नही रहता। परन्तु जैन शास्त्र मे सिद्धि का ऐसा स्वरूप नहीं स्वीकार किया गया है। अत दीप–निर्वाण के सामने सिद्धि का स्वरूप मानने वालो का निषेध करने के लिए ही सिद्ध शब्द के साथ बुद्ध शब्द का उपयोग किया है।❖ बुझा हुआ दीपक

---

❖ कुछ दार्शनिको की यह मान्यता है कि सिद्धि अवस्था मे आत्मा के सभी विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं। आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, मगर उसकी 'बुद्धि' अर्थात् ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। मतलब यह हुआ कि सिद्धिदशा मे आत्मा पत्थर की तरह जड हो जाता है। 'सिद्धि' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकारो ने इस भ्रम का निवारण कर दिया।

न अधकार फैलाता है और न प्रकाश करता है। अगर दीपक की तरह आत्मा भी सिद्ध होने के बाद अस्तित्व मे न रहे और नष्ट हो जाए तो फिर आत्मा की ऐसी सिद्धि किस काम की? आत्मा सिद्ध होने पर अस्तित्व मे ही न रहे, वरन् दीप–निर्वाण की तरह नष्ट हो जाये, ऐसा मान लिया जाये, तो अनेक दोष आते हैं। इन दोषो का परिहार करने के लिए शास्त्र मे सिद्ध शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है कि आत्मा सिद्ध होने पर बुद्ध भी होता है, अर्थात् सर्वज्ञानी और सर्वदर्शनी बन जाता है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, उस सिद्धात्मा के लिए क्या करना शेष रह जाता है? या सिद्ध होने के बाद 'बुद्ध' होता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्णज्ञान होने के बाद ही सिद्ध दशा प्राप्त होती है, परन्तु जैसे अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिलने पर ही अभ्यास का महत्त्व बढता है उसी प्रकार पूर्णज्ञानी होने का प्रमाणपत्र सिद्धी प्राप्त होने पर मिलता है। जब अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है तभी जन समाज मे अभ्यास की कीमत आकी जाती है। इसी प्रकार सिद्ध होने से पहले पूर्णज्ञान रहता ही है मगर उनका प्रमाण–पत्र सिद्धी प्राप्त होना है। शास्त्र मे कहा है कि बुद्ध होने से कोई नवीन ज्ञान नही आ जाता। ज्ञान तो तेरहवे गुणस्थान से ही होता है, परन्तु सिद्ध होने के बाद मे वह नष्ट नही हो जाता। यह बताने के लिए 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' होने का भी कथन किया गया है।

कुछ लोगो का कहना है कि सिद्ध आत्मा भी ससार मे अवतार धारण करता है– जन्म लेता है। एक बार सिद्ध हो जाने पर वह आत्मा जब

---

❖ आत्मा के विकासक्रम के अनुसार आत्मा पहले 'बुद्ध' होता है और फिर सिद्ध होता है। तेरहवे गुणस्थान मे 'बुद्ध' हो जाता है, मगर 'सिद्ध' नही होता। सिद्धदशा उसके बाद प्राप्त होती है। इस क्रम के अनुसार पहले 'बुद्ध' ओर फिर 'सिद्ध' कहना चाहिए, मगर शास्त्रकारो ने पहले 'सिद्ध' और बाद मे 'बुद्ध' कहा है। इसका कारण भी यही है। वेशेषिक दर्शन सिद्ध होने से पहले तो आत्मा को 'बुद्ध' (ज्ञानी) मानता है मगर सिद्ध होने के बाद बुद्ध नही मानता। सिद्ध होने पर बोध नष्ट हो जाता है। मगर शास्त्रकार 'सिद्ध' शब्द से पहले 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करते तो पाठको को सदेह हो सकता था कि 'सिद्ध' होने के बाद 'बुद्ध' रहता है या नहीं? इस शका समाधान करने के लिए पहले सिद्ध और फिर बुद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह निकला कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा बुद्ध रहता है।

–सम्पादक

ससार मे किसी प्रकार की विपरीतता देखता है तब राग–द्वेष से प्रेरित हो कर फिर ससार मे अवतार लेता है। भगवान् महावीर ने जो सिद्धि कही हे वह इस प्रकार की नही है। शास्त्राकार तो स्पष्ट कहते हैं कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, वह जन्म–मरण से मुक्त भी हो जाता है। यही बात विशेषज्ञ स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दो के साथ 'मुक्त' शब्द का भी प्रयोग किया है। गीता मे भी कहा हे–

**इद गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम।**

अर्थात् जहा जाने के बाद पीछे लौटना नही पडता, वही मेरा धाम है।

गीता मे तो ऐसा कहा है, फिर भी उसके अर्थ का खयाल न करके कहा जाता है कि सिद्धि होने के बाद भी आत्मा जगत् की विपरीतता दूर करने के लिए ससार मे जन्म धारण करता है। इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारो ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दो के साथ 'मुक्त' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध हुए आत्मा को ससार मे अवतार या जन्म नही लेना पडता।

इस कथन पर यह आशका हो सकती है कि इसी प्रकार जीव सिद्ध होते रहेगे तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब ससार मे एक भी जीव बाकी नही रहेगा। कुछ लोगो को यह भय लगा है कि ससार कही जीवो से एकदम खाली न हो जाये। इस कारण वे कहते है कि जीवात्मा थोडे समय तक सिद्धिस्थान मे रह कर फिर ससार मे लौट आता हे। मगर यह कल्पना मिथ्या है और भ्रम उत्पन्न करने वाली है। तुम लोग भी शायद यही सोचते होगे कि जीव अगर इसी तरह मुक्त होते रहे और वापस न आये तो कभी–न–कभी सारा ससार जीवो से शून्य हो जायेगा। परन्तु इस बात पर यदि गहरे उतर कर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हे यह लगे बिना नही रहेगा, कि यह कल्पना खोटी ओर भ्रामक हे। जिन महात्माओ ने सिद्धि प्राप्त की है ओर सिद्धि का स्वरूप देखा है, जाना है, उन महात्माओ ने काल को भी देखा ओर जाना है, उसके बाद ही उन्होने अपना निर्णय घोषित किया हे कि ससार कभी जीवरहित हो ही नही सकता। ज्ञानी महात्माओ के इस कथन पर तुम स्वय भी गहरा विचार करोगे तो इस कथन को समझे बिना नहीं रह सकते और तुम्हारा सारा सदेह मिट जाएगा।

तुम जरा काल के विषय मे विचार करो। क्या भूतकाल का कहीं अन्त मालूम होता है? तिथि, मास, वर्ष वगेरह बहुत बार व्यतीत हो चुके। सब

की गणना करो तो भी भूतकाल का अन्त नही आ सकता। उसे अनन्त कहना पडेगा। अपने वर्तमान जीवन का अन्त तो आ जायेगा, मगर भविष्यकाल का अन्त नही आ सकता। इस प्रकार जब भूतकाल और भविष्यकाल का अन्त नही, तो उन कालो मे होने वाले पदार्थों का अन्त कैसे हो सकता है? ससार के समस्त काम काल के साथ ही होते हैं। अतएव ज्ञानी आत्माओ ने भूतकाल और भविष्यकाल को देखकर कहा है कि जीव, काल की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक है। अतएव ससार का अन्त नही आ सकता तथा किसी भी काल मे वह जीवो से रहित भी नही हो सकता। यही बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हू–

मान लो किसी कोठरी मे श्रीफल भरे है और दूसरी कोठरी मे खसखस के दाने भरे है। दोनो कोठरिया लम्बाई, चौडाई, ऊचाई मे बराबर हैं। मगर श्रीफल परिमाण मे बडे होने से, गिनती के लिहाज के खसखस के दानो की अपेक्षा बहुत थोडे है। अब अगर दोनो कोठरियो मे से क्रमश एक श्रीफल और एक खसखस का दाना बाहर निकाला जाये तो पहले कौन–सी कोठरी खाली होगी? श्रीफल की कोठरी का पहले खाली होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार काल श्रीफल के बराबर है और जीवात्मा खसखस के दानो के बराबर है। जब काल का ही अन्त नही तो जीवो का अन्त कैसे आ जाएगा?

इस प्रश्न के विषय मे पूज्य श्रीलालजी महाराज बहुत बार फरमाया करते थे कि रुपयो का चाहे जितना ऊचा ढेर करो, क्या आकाश का कभी अन्त आ सकता है? रुपयो का ढेर करने से आकाश का उतना हिस्सा अवश्य रुकता है, परन्तु उससे आकाश का अन्त नही आ सकता। कारण यह है कि आकाश अनन्त है। इसी प्रकार जीवात्मा कितने ही सिद्ध हो, मगर ससार का अन्त नही आ सकता। यह बात श्रद्धागम्य है। तुमने भूतकाल और भविष्य को अनन्त नही जाना है, फिर भी श्रद्धा के कारण ही उन्हे अनन्त कहते हो, तो जिस प्रकार श्रद्धा से काल को अनन्त मानते हो, उसी प्रकार श्रद्धा से यह भी मानो कि जीव चाहे जितने सिद्ध होतो भी ससार जीवरहित न ही हो सकता।

भगवान् ने कहा है, जीव जब पूर्वसचित कर्मो का क्षय कर डालता है तब उसे अक्रिय दशा प्राप्त होती है। और उसके बाद सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है, अर्थात् उपाधिरहित होकर सर्वदु खो का अन्त करता है। जीव जब उपाधिरहित बन जाता है तब उसे ससार मे वापस लौटने की आवश्यकता ही नही रहती। जैसे दग्ध जले हुए बीज मे से अकुर

नही फूटता उसी प्रकार जिन्होने उपाधियो का अन्त कर डाला है, उन्हे ससार मे फिर अवतार या जन्म धारण करने की आवश्यकता ही नही रहती।

सिद्धि का ऐसा स्वरूप है। इस स्वरूप को जानकर कोई कहते हैं कि ऐसी सिद्धि किस काम की? ऐसा कहने वालो से और क्या कहा जा सकता है? जो लोग सिद्धि–स्थान मे जाना चाहते हैं, उनके लिए तो भगवान् ने मोक्ष का मार्ग बतलाया ही है। पर जो लोग सिद्धि नही चाहते, उन्हे मोक्ष का मार्ग बताना वृथा है। आत्मा जब तक बाल–बुद्धि है तब तक आत्मा सुख मे दु ख और दुख मे सुख मानता है। बाल–जीव ससार के पदार्थों मे सुख मानते हैं, परन्तु वास्तव मे आत्मा मे जो अनन्त सुख भरा हुआ है, उस मुख की थोडीसी झाकी ही सासारिक पदार्थों मे आती है और इसी कारण सासारिक पदार्थ स्वरूप जान पडते हैं। वास्तव मे पदार्थों मे सुख नही है। सच्चा सुख तो आत्मा मे ही भरा है। पदार्थों मे सुख मानना तो उपाधि है। इस उपाधि से मुक्त होकर आत्मा मे रहे हुए सुख की शोध और उसी का विकास करना चाहिए।

आत्मा मे रहे हुए अनन्त सुख को विकसित करना ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है। ससार की उपाधि से छुटकारा पाने के लिए अक्रिय बनने की परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए। ससार के समस्त दु खो का अन्त अक्रिया से होता है, और अक्रिय दशा पूर्वसचित कर्मों का नाश करने से प्राप्त होती है। अत प्रत्येक आत्महितैषी को तप द्वारा पूर्वसचित कर्मों का क्षय करके अक्रिय दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

व्यवदान के फल के विषय मे विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तप द्वारा पूर्वसचित कर्मों का नाश होता हे, यह बात सुनिश्चित है, तो फिर व्यवदान का फल पूछने की क्या आवश्यकता थी?

टीकाकार यह प्रश्न खडा करके उसका समाधान करते हुए कहते हैं– सूत्र की बात गहन हे। सूत्र मे किसी जगह अतिदेश द्वारा और किसी जगह साक्षात् रूप मे विषय का कथन किया गया हे। अर्थात् कोई वात विस्तार से और कोई बात सक्षेप से वतलाई हे। ज्ञानीजनो को जहा जेसा उचित प्रतीत हुआ, उन्होने वहा वेसा ही कथन किया हे।

अतिदेश का साधारणतया अर्थ हे– गोण वात करना। अतिद्वेश द्वारा कही जानी वाली बात गोण होती हे ओर साक्षात् कही जाने वाली मुख्य। उदाहरणार्थ, किसी सेठ ने अपने नोकर से दातोन मगवाया। नोकर न विचार किया कि दातोन के साथ पानी भी चाहिए ओर मुह पोछने के लिए तोलिया

भी चाहिए। इस प्रकार सेठ ने मगवाया तो दातौन ही था, किंतु गौण रुप से पानी और तौलिया लाने का भी सकेत था। इस प्रकार मुख्य रूप से और कोई बात हो तथा गौण रूप से दूसरी ही बात का सकेत हो, वह अतिदेश कहलाता है। कदाचित् सेठ नौकर से कहे कि मैंने सिर्फ दातौन मगवाया था, पानी और तौलिया कहा मगवाया था? तो उत्तर मे नौकर यही कहेगा– मुख्य रूप से आपने दातौन ही मगवाया था, मगर गौण रूप से पानी और गमछा भी मगवाया था, क्योकि दातौन के साथ पानी और गमछे की भी जरूरत रहती है।

उसी प्रकार शास्त्र मे तपश्चर्या का फल पूर्वसचित कर्मो का क्षय अर्थात् व्यवदान बतलाया है और व्यवदान के साथ ही अतिदेश द्वारा अक्रिय दशा का भी कथन किया गया है। फिर भी व्यवदान के फल के विषय मे पुन प्रश्न क्यो किया गया है? इसका समाधान करते हुए टीकाकार कहते है– शास्त्र मे कही मुख्य रूप से कोई बात कही गई है और कही गौण रूप से कही गई। ऐसा देखा जाता है।

व्यवदान का फल बतलाते हुए अक्रिय तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखो का अन्त होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब सिद्ध होना कहा और सिद्धि मे प्रत्येक बात का समावेश हो जाता है, तो फिर बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखो का अन्त करने की बात किस प्रयोजन से कही गई है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई बात एकार्थ नाना घोषो से भी कही जाती है। तदनुसार यहा व्यवदान का फल भी एकार्थ नाना घोष से कहा है। सिद्ध होने वाला व्यक्ति बुद्ध भी हो जाता है, मुक्त भी हो जाता है, परिनिर्वाण भी पा लेता है और सब दुखो का अन्त भी कर डालता है। ऐसा होने पर भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि शब्दो को जुदा–जुदा कहने का कारण मेरी समझ से यह मालूम होता है कि जैन शास्त्रानुसार सिद्ध होने वाला बुद्ध भी होता है। कुछ लोग मोक्ष मे अज्ञान–अवस्था बतलाते है। जैन शास्त्र इस मान्यता से सहमत नही है। मोक्ष मे अज्ञान अवस्था मानने वालो के शब्दघात से अपना पक्ष सुरक्षित रखने के लिए ही 'सिद्ध' कहने के साथ ही 'बुद्ध' होना भी कहा गया है। वास्तव मे तो सिद्ध होना और बुद्ध होना एक ही बात है। यही बात यहा नाना घोष से प्रकट की गई है।

किसी–किसी का कथन है कि सिद्ध को ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होता है परन्तु आचार्यो का मत यह भी है कि सिद्धो

मे ज्ञान और दर्शन का एक साथ उपयोग नही रहता। जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नही रहता और जब दर्शन का उपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नही रहता। यह विषय चर्चास्पद हैं अगर किसी चर्चास्पद विषय मे हमारी बुद्धि काम न दे सके, तो 'केवलिवाक्य प्रमाण' कहकर सतोष मानना चाहिए। परन्तु जो बात शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कही गई हो, उसे तो उसी रूप मे मानना चाहिए। सिद्ध के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक साथ होता है या नही, इस विषय मे पन्नवणासूत्र मे कहा गया है–

**केवली णं भंते! जं समयं जाणइ न तं समय पसाइ।**
**जं समयं पासाइ न तं समय जाणइ? हता, गोयमा!**

अर्थात्– गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा–भगवन्! केवली का जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नही होता? और जब दर्शनोपयोग होता है तो ज्ञानोपयोग नही होता?

उत्तर मे भगवान् ने कहा–हा, गौतम! ऐसा ही है।

शास्त्र मे इस वचन के प्रमाण से हमे ऐसा मानना चाहिए कि सिद्ध को जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नही होता और जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नही होता।

कहने का आशय है कि सिद्ध होने पर ज्ञान–विज्ञान नष्ट नही हो जाता, यह प्रकट करने के लिए ही 'सिद्ध' के साथ 'बुद्ध' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्द के साथ अन्य शब्दो का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है, इस सबध मे साधारण विचार किया जा चुका है। यहा उस पर थोडा और विचार कर लेना है।

मुक्ति के विषय मे भी कुछ लोगो की अलग मान्यता है। मुक्ति के विषय मे जो विपरीत अर्थ किया जाता है, उससे अपने कथन को पृथक् रखने के लिए ही सिद्ध और बुद्ध के साथ 'मुक्त' शब्द का व्यवहार किया गया।

मनुष्य का जीवन न केवल बडे हथियार से ही, वरन् छोटी–सी सूई से भी नष्ट हो सकता है, उसी प्रकार साधारण बात की भिन्नता स भी सिद्धान्त मे अन्तर पड जाता है और उसका खडन हो सकता है। जब कुछ लोग किसी शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार का अथवा उल्टा करने लगत ह तव विपरीत अर्थ का निवारण करके सच्चा अर्थ बतलाना ज्ञानियो का कर्तव्य हो जाता है। इसी कर्तव्य का पालन करने के लिए तिए शास्त्रकारो ने सिद्ध और बुद्ध कहने के साथ मुक्त शब्द का प्रयोग भी किया है। कुछ लोगा की ऐसी

मान्यता है कि आत्मा को कर्मबन्ध ही नही होता। जैन शास्त्र यह बात नही मानते। जैन शास्त्र कहते हैं– अगर आत्मा को कर्मबन्ध न होता तो वह मुक्त किस प्रकार हो सकता है? आत्मा मुक्त होता है, तो वह पहले कर्मबन्ध से बधा हुआ होना चाहिए। यही बात स्पष्ट करने के लिए 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार परिनिर्वाण को प्राप्त होने और सिद्ध मे कोई अन्तर नही। परन्तु कुछ लोग निर्वाण का अर्थ निराला ही करते हैं। बौद्ध लोग निर्वाण का अर्थ दीप–निर्वाण के समान करते हैं। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने के बाद वह कुछ नही बच रहता, इसी प्रकार सिद्ध होने पर आत्मा नही बचता। जैन शास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं है। अत बौद्धो के कथन को अमान्य प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकारो ने सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त शब्द के साथ निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है।

निर्वाण शब्द के बाद शास्त्रकारो ने कहा है– 'सब दु खो का अन्त करता है।' सिद्ध होने मे और सब दु खो का अन्त करने मे तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नही है, फिर भी दूसरे लोगो की गलत मान्यता का निवारण करने के लिए ही सब दु खो का अन्त करने का भी विधान किया है। जैन शास्त्र कर्म को ही दु ख मानता है। श्रीभगवतीसूत्र मे गौतम स्वामी और भगवान् के बीच इस विषय मे प्रश्नोत्तर हुआ है। वह इस प्रकार है–

**दुक्खी ण भंते! दुक्खेणपुट्ठे, किं अदुक्खी दुक्खेण पुट्ठे?**

अर्थात्– हे भगवन्! दुखी दु ख से स्पृष्ट होता है अथवा अदु खी दु ख से स्पृष्ट होता है?

इस प्रकार दु खी को ही दु ख का स्पर्श होता है यहा सब दुखो का अन्त करने के लिए कहा गया है, उसका फलितार्थ भी कर्म से रहित होना है। सब कर्मो को नष्ट कर देना, अर्थात् सब दुखो का अन्त कर देना। यहा दु ख शब्द से कर्म लेना चाहिए। दु खो का अन्त होने का अर्थ कर्मो का अन्त होना है। इसीलिए श्रीभगवतीसूत्र मे चाबीस दण्डक के विषय मे जो प्रश्नोत्तर दिये गए है उनमे भी यह कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव भी दु ख से स्पृष्ट होते है क्योकि उनमे भी अभी तक कर्म शेष है। और जिनमे कर्म शेष नही रहते वे दु ख से स्पृष्ट नही होते।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध होने के साथ आत्मा कर्मरहित हो जाता है और सब दुखो से मुक्त हो जाता है। यहा एक प्रश्न यह रह जाता है कि कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते है? कर्म स्वय आत्मा के साथ

लगते हैं या ईश्वर की प्रेरणा से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि– अगर ईश्वर की प्रेरणा से कर्मों का आत्मा के साथ लगना मान लिया जाये तो ईश्वर के स्वरूप मे अनेक विकृतिया और बाधाए उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ,– एक आदमी नदी मे डूब रहा हो और उसे बाहर निकाल सकने वाला कोई दूसरा मनुष्य खडा–खडा देख रहा हो, तो क्या उसे दयालु कहा जा सकता हैं? जव ऐसे मनुष्य को भी दयालु नही कहा जा सकता तो फिर परम् दयालु कहलाने वाला परमात्मा क्या जीवो को कर्मबन्धन से बाध कर ससार सागर मे डुबोयेगा? वास्तव मे ईश्वर कर्ता नहीं है और न वह किसी जव को कर्मबन्धन से बाधता है। गीता मे भी कहा है–

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु.।**

अर्थात् प्रभु न लोक कर्ता और न कर्मों को उत्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर ईश्वर कर्मों की प्रेरणा नही करता तो कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए, एक घडा तेल से भीगा हुआ है, दूसरा पानी से भीगा है और तीसरा घडा बिल्कुल कोरा है। रज को ज्ञान नही होता कि मैं किस घडे के साथ किस प्रकार लगू? फिर भी जो घडा तेल से भीगा है उसमे रज अधिक चिपकेगी। जो घडा पानी से भीगा हे उस पर रज चिपकेगी तो सही, पर तेल के घडे के बराबर नही। और कोरे घडे पर रज गिरेगी मगर हवा से जैसे गिरेगी वेसे ही उड भी जाएगी। इसी प्रकार कर्मरज चौदह राजू लोक मे सर्वत्र भरी पडी हे। परन्तु भावकर्मो मे जितना चिकनापन होगा, उसी के अनुसार कर्म आत्मा के साथ लगेगा। अगर भावकर्म मे चिकनापन अधिक होगा तो कर्म अधिक लगेगे, अगर चिकनापन कम होगा तो कर्मवर्गणा कम चिपकेगी। अगर आत्मा कोरे घडे के समान भावकर्म के चिकने से रहित होगा तो उसमे राग–द्वेष न होगे तो कर्म चिपकेगे ही नही।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता हे कि कर्म की व्यवस्था यदि इस प्रकार की है तो कर्मों को उदय मे आने का और सुख–दुख रूप मे परिणत होने का ज्ञान किस प्रकार होता हे? इसका उत्तर यह हे कि क्या दवा को ऐसा ज्ञान हे कि म पेट मे जाकर इस प्रकार फेरफार करु? क्या दूध जानता हे कि पेट मे जाकर मे इस प्रकार रसभाग ओर खलभाग मे परिणत हो जाऊगा? ज्ञान न होने पर भी दूध ओर दवा अपना–अपना गुण वतलाते हे या नही? किसी भूखे आदमी को दूध पिलाया जाये तो दूध ज्ञान नही हे, फिर

भी उनमे शक्ति अवश्य है। इसी प्रकार कर्म को यह ज्ञान नही है कि मुझमे कैसी शक्ति विद्यमान है, परन्तु जब कर्म आत्मा को लगते हैं तब वे अपना गुण प्रकट करते ही है। भावकर्म के चिकनेपन के अनुसार कर्म उदय मे आकर सुख या दुख देते है।

कहने का आशय यह है कि दुखी ही दु ख से स्पृष्ट होता है। कुछ लोगो का कहना कि आत्मा को कर्मबन्धन ही नही होता, परन्तु जैन शास्त्र को यह कथन मान्य नही है। इसलिए, अर्थात् इस कथन का निषेध करने के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, तथा परिनिर्वाण होने के साथ ही सब दुखो के अन्त होने का कथन किया गया है।

कुछ लोग दुखो का अन्त करने का अर्थ, बेडी काटने के साथ पैर को भी काट डालने के भावार्थ मे करते है। उनका कहना है कि दुखो के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है, मगर यह बात मिथ्या है। आत्मा दुखो का अन्त होने पर सुखनिधान बन जाता है, नष्ट नही होता।

भगवान् ने कहा है– व्यवदान से आत्मा अक्रिया–अवस्था प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण पाता है तथा समस्त दुखो का अन्त करता है। भगवान् के इस कथन को हृदय मे उतार कर हमे अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए। अगर हम कर्मरहित हो गए होते, तो अपने लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता ही नही रहती। परन्तु हम लोग अभी अपूर्ण है और इसीलिए हमे उपदेश सुनने–समझने की आवश्यकता हे। श्री आचारागसूत्र मे कहा है– जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली, उसे उपदेश सुनने की आवश्यकता नही रहती। अपन अभी अपूर्ण है अत उपदेश सुनकर हमे क्या करना चाहिए, इस बात का गहरा विचार करना आवश्यक ह। ज्ञानी और अज्ञानी की रीति–नीति मे बहुत ही भेद होता है। यह बात सामान्य उदाहरण से समझाता हू। मान लीजिए किसी वृक्ष पर एक ओर बन्दर बेठा है और दूसरी तरफ एक पक्षी बैठा है। इतने मे तेज तूफान आया ओर वृक्ष उखडकर गिर पडा। ऐसी स्थिति मे दु ख किसे होगा? बन्दर को या पक्षी को? पक्षी तो अपने पखो के द्वारा ऊपर उड जाएगा परन्तु बेचारा बन्दर तो वृक्ष के नीचे कुचला जाएगा। यही बात ज्ञानी ओर अज्ञानी को लागू होती है। ससार रूपी वृक्ष पर ज्ञानी और अज्ञानी, दोनो प्रकार के लोग बेठे है। परन्तु ससार वृक्ष नीचे गिरेगा तो ज्ञानी पुरुष पक्षी की भाति ऊर्ध्वगमन करे। ओर अज्ञानी उसी ससार वृक्ष के नीचे दब कर दुखी हो जाएगे।

इस कथन से यह सार लेना है कि हम शरीर मे रहते हुए भी किस प्रकार निर्लेप रह सकते हैं। यह शरीर तो एक दिन छूटने को ही है। मरना सभी को है। परन्तु पक्षी के समान ऊर्ध्वगति करना ठीक है या बन्दर के समान पतित होना ठीक है, इस बात का विचार करो। कहोगे तो यही कि ऐसे अवसर पर पक्षी की तरह ऊर्ध्वगति करना ही योग्य है, परन्तु पक्षी को पख उसी समय नही आजाते। पहले से ही उसके पख होते हैं और इसी कारण आवश्यकता पडने पर वह उड जाता है। इसी प्रकार ऐसे आत्मा को पहले अवसर पर ऊर्ध्वगामी बनाने की पहले से ही तैयारी करो। आग लगने पर कुआ खोदने से क्या लाभ? अत आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की तैयारी पहले से ही करो। शास्त्रकार हमे मोक्ष के मार्ग इसलिए बतलाते है कि हम पहले से ही मोक्ष के मार्ग पर चलने का अभ्यास कर सके। शास्त्र मे कही बात हृदय मे ऊतार कर ओर उसी के अनुसार आचरण करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। आत्मा ही कर्मरहित होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, और परमात्मा बन जाता है।

कुछ लोग आत्मा को अलग ओर परमात्मा को अलग मानते है, परन्तु ज्ञानियो की तात्त्विक दृष्टि से आत्मा ओर परमात्मा समान ही हें। कर्मबन्ध से रहित होकर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। शास्त्र मे कहा है– जो आठ कर्मो से वद्ध है वह आत्मा हे ओर आठ कर्मों से मुक्त हो गया वह परमात्मा है। शास्त्र मे इस कथन के अनुसार हमारा आत्मा भी आठ कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध ओर मुक्त हो सकता है। अगर हम आत्मा का कल्याण करना चाहते हें तो हमे कर्म बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्मबन्धन मे आत्मा की परतन्त्रता ओर कर्ममुक्ति मे आत्मा की स्वतन्त्रता रही हुई हे। अत आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही सम्यक् पुरुषार्थ हे।



# उनतीसवां बोल

## सुख–साता

अट्ठाईसवे बोल मे व्यवदान के विषय मे विचार किया गया है। व्यवदान अर्थात् पूर्वसचित कर्मो का नाश करने से सुख–साता उत्पन्न होती है ओर सयम मे शाति आती है। अगर सयम मे शाति न आये तो समझना चाहिए कि व्यवदान, अर्थात् सचित कर्मो का क्षय ठीक नही हुआ है। अब सुख–साता के विषय मे भगवान् महावीर से गौतम स्वामी प्रश्न करते है।

### मूलपाठ

**प्रश्न– सुहसाएणं भते! जीवे किं जणयई?**

**उत्तर– सुहसाएण अणुस्सुयत्त जणयइ, अणुस्सुएण जीवे अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! सुख–दाता से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– सुख–दाता अथवा सुखशय्या से जीव को मन मे अनुत्सुकता उत्पन्न होती है। अनुत्सुकता से जीव को अनुकम्पा होती है, अनुकम्पा से निरभिमानता होती ह। निरभिमानता से जीव शोकरहित होता है ओर शोकरहित होने से चरित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

### विवेचन

'सुहसाएण' इस पाठ का एक अर्थ तो 'सुख–साता' होता हे ओर दूसरा अर्थ प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'य' का लोप न करने से सुखशय्या [illegible] जाता ह।

प्रश्न हो सकता है कि सुख–शाति तो सभी जीव चाहते हें ओर [illegible] से [illegible] सुख–शाति ही प्राप्त होती ह तो फिर सयम के लिए किस प्रकार

की सुख शाति का त्याग करना पडता है? और सयम से किस प्रकार की सुख शाति मिलती है? हमे यह देखना है कि यहा किस प्रकार की सुख–शाति का वर्णन किया गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 29वे बोल मे, अर्थात् सुख–साता के बोल मे कालक्रम से पाठान्तर हो गया है। इस सम्बन्ध मे टीकाकार का कहना है सुख–साता, सुख–साय शब्द से यकार का लोप न किया जाय तो 'सुखशय्या' शब्द बनता है। 'सुखशय्या' शब्द का अर्थ है– सुख से सोना। सुखशय्या के चार भेद किये गये हैं। श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थान मे भगवान् ने कहा है– हे गौतम! सुखशय्या के चार भेद किये है।

पहला भेद मूड होकर निर्ग्रन्थ–प्रवचन के प्रति नि शक रहता हे जो। मुडित होकर निर्गन्थ प्रवचन के प्रति नि शक रहता है वह सुखशय्या पर शयन करने वाला है। कितने ही लोग कहते हैं कि पहले कषायो का मुडन करना चाहिये और फिर शिरोमुडन करना चाहिए। अगर कषायो का भलीभाति मुडन कर दिया हो तो शिरोमुडन न करने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार कहने वाले लोगो से पूछना चाहिए कि कषाय का मुडन हुआ है अथवा नही, इस बात का निर्णय किस प्रकार हो सकता है? कषाय का मुडन होना अन्तरग भाव–वस्तु है। इसे व्यवहार मे किस तरह जान सकते हैं? अतएव यहा मुड होने का सम्बन्ध शिरोमुड के साथ ही है।

सर्वप्रथम व्यवहार साधा जाता हे और उसके बाद निश्चय साधा जाता है। लोग अपने व्यवहार मे तो यह बात भूलते नही, किन्तु धर्म के काम मे व्यवहार को ताक मे रख कर निश्चय को ही प्रधान पद देते हैं। ऐसा करना एक प्रकार से धर्म को भूल जाना है। छद्मस्थ के लिए तो व्यवहार ही जानने योग्य है। निश्चय तो ज्ञानीजन ही जानते हैं। अतएव एकदम निश्चय को ही मत पकड बेठो, पहले व्यवहार की रक्षा करो।

मान लो कि किसी मनुष्य मे साधुता के सभी गुण मोजूद हे, किन्तु उसके लिग (वेष) साधु का नही हे। तो क्या तुम उसे साधु मानकर वन्दना करोगे? साधु का वेष न होने के कारण तुम उसे वन्दना नही करोगे। व्यवहार मे वेष से ही साधु पहचाना जाता हे। श्रीभगवतीसूत्र मे कहा हे– 'असुच्चा केवली', अर्थात् केवलज्ञान तो हो गया हे, पर वह अन्तरग हे। वाह्य वेष वदला नही हे अथवा अवसर न होने के कारण वदला नहीं जा सकता हे, ऐसे केवली को वन्दन करने के लिए श्रावक नही जाता, क्योंकि श्रावक उस भावमय वस्तु को जानता नही हे। इस प्रकार शास्त्र मे भी पहले व्यवहार की रक्षा की गई

है। परन्तु आजकल अनेक लोग निश्चय के नाम पर व्यवहार का उच्छेद करते हैं। तुम कही पत्र लिखते हो तो साधुओ के विषय मे लिखते हो कि अमुक जगह दस सत विराजमान हैं। पर क्या तुम्हे खातिरी है कि उन दसो साधुओ मे भावसाधुता है? इस प्रकार व्यवहार मे जो साधु का वेष धारण करता है, वही साधु माना जाता है। अगर साधुता होने पर भी गृहस्थ का वेष धारण करे तो वह गृहस्थ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि मुड होने का अर्थ शिरोमुड करना है। भगवान् कहते है कि जो मुड होकर निग्रन्थ–प्रवचन के प्रति नि शका होता है वह सुखशय्या पर सोने वाला है।

दूसरी सुखशय्या यह है कि, मुड होकर स्वलाभ मे ही आनन्द मनाना और पर–लाभ की अपेक्षा न रखना। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ के आधार पर आनन्द मानता है, कहा जा सकता है कि वह दु खशय्या पर सोने वाला है। आज तुम लोगो मे जो दु ख नजर आ रहा है वह कहा से आया है? इस बात पर विचार करो। मनुस्मृति मे कहा है– 'सर्वमात्मवश सुखम्।' अर्थात् स्वाधीनता मे ही सुख है। तुमने सुना होगा– 'पराधीन सपने सुख नाही', अर्थात् पराधीन पुरुष को स्वप्न मे भी सुख नही हो सकता।

नीतिकारो का यह कथन जानते–बूझते हुए भी आज तुम लोग पराधीनता की बेडी मे जकडे हुए हो। स्वय ही तुमने पराधीनता बुलाई है और इस कारण आज अधिक दु ख फैला हुआ है। आज तुम्हारे अन्दर पराधीनता इतनी पैठ गई है कि तुम्हे स्वाधीनता का विचार तक नही आता। मगर एक बात सदा ध्यान मे रखना, सच्चा सुख सदैव स्वाधीनता मे ही है। पराधीनता मे सुख नही, दुख ही है। इसीलिए भगवान् ने कहा है– जो पुरुष स्वलाभ मे ही आनन्द मानता है, पर–लाभ की अपेक्षा नही रखता, वही पुरुष सुखशय्या पर शयन करने वाला है।

जो पुरुष भोजन तो खाता है, परन्तु भोजन बनाना नही जानता, विचार करो कि वह मनुष्य सुखशय्या पर सोने वाला है या दु खशय्या पर सोने वाला है? बचपन मे मै भाई–बन्दो के साथ मगलेश्वर गया था। हम जितने जने गये थे, उनमे से सिर्फ एक आदमी रसोई बनाना जानता था, और किसी को भोजन बनाना नही आता था। उस जानकार आदमी ने रसोई बनाई ओर हम सब ने खाई। वापस लौटने पर हममे से एक लडके ने अपनी माता से कहा– अब अपन कही बाहर चलेगे, तो उस रसोई बनाने वाले आदमी को भी साथ ले चलेगे।

माता ने उत्तर मे कहा– वह रसोई बनाने वाला तुम्हारे बाप का नोकर नही है कि तुम्हारे साथ जाएगा।

इस प्रकार जो मनुष्य पराधीन रहता है, उसे कष्ट सहन करने पडते है और कटु वचन भी सुनने पडते हैं। इसी कारण भगवान् ने जगत् के जीवो को सबोधन करके पराधीनता मे दु ख और स्वाधीनता मे सुख बतलाया है। सुखशय्या पर सोना अच्छा है ओर दु खशय्या पर सोना दु खदायक है।

तुम जिन चीजो का सदैव व्यवहार करते हो और जिनके लिए तुम्हे अभिमान है, उनमे से कोई चीज ऐसी है, जिसे तुम बना सकते हो? अगर बना नही सकते तो यह तुम्हारी पराधीनता है या स्वाधीनता? इस पर विचार करो। सिद्धान्त मे कहा है– राजकुमार हो या श्रेष्ठिकुमार हो, प्रत्येक कुमार को 72 कला सीखना आवश्यक है। 72 कलाओ मे जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली वस्तुए बनाने की और उनका उपयोग करने की कला का समावेश हो जाता है। इन 72 कलाओ को सीख लेने से जीवन पराधीन नही रहता, स्वाधीन बन जाता है। यह आश्चर्य और दु ख का विषय है कि आज लोग पराधीन होते हुए भी अभिमान करते है। जीवन को स्वतत्र बनाने के लिए कलाओ का ज्ञान–सम्पादन करना आवश्यक है।

श्री ज्ञातासूत्र मे, मेघकुमार के अध्ययन मे 72 कलाओ का वर्णन किया गया है। उनमे एक कला अन्नविधि सम्बन्धी हे। इस अन्नविधिकला मे अन्न किसी प्रकार उत्पन्न करना, किस प्रकार सुरक्षित रखना और किस प्रकार पका कर खाना आदि का शिक्षण आ जाता हे। अर्थात् कृषिकर्म के साथ ही कृषि द्वारा उत्पन्न हुई वस्तु की रक्षा ओर उसके उपयोग की विधि भी मालूम हो जाती है। शास्त्र मे इस कला के भी तीन भेद किये गये हैं। सर्वप्रथम कला को सूत्र से जानना चाहिए, फिर जानी हुई कला को अर्थ से समझना चाहिए और अन्त मे जानी तथा समझी हुई कला को अमल मे लाना चाहिए।

अगर कोई मनुष्य किसी कला को सूत्र से तो जानता हे, परन्तु अर्थ से नही समझता और कर्म से व्यवहार मे नही लाता, तो समझना चाहिए कि वह मनुष्य कला–सम्पादन मे अभी अधूरा हे। पूर्ण कलाकुशल मनुष्य वही कहा जा सकता है जो सूत्र से, अर्थ से ओर कर्म से कला का सम्पादन करता हो। अन्नविधि की तरह वस्त्रविधि, गृहविधि आदि की भी कला हे। 72 कलाओ का सम्पादन करने वाला मनुष्य ही पहले कलाकुशल कहलाता था। आज तो कलाए प्राय नष्ट हो गई हे। आज लोग तेयार वस्तुए लेकर पराधीन वन रहे हें, फिर भी तेयार वस्तु लेने मे अपने–आप को स्वाधीन ओर निष्पाप मानते ह।

लेकिन शास्त्र का यह कथन है कि परावलम्बी, पराधीन रहने वाला दु खशय्या पर सोने वाला है, और स्वावलम्बी, स्वाधीन रहने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है। तुम लोग सुन्दर मकान मे रहते तो, मिष्ट भोजन करते हो और अपने–आप को सुखी मानते हो। परन्तु तुम उन वस्तुओ के लिए पराधीन हो, अतएव शास्त्रकार तो तुम्हे दु खशय्या पर सोने वाला ही कहते है। शायद ही कोई भील ऐसा हो जो अपनी झोपडी बनाना न जानता हो। मगर तुम जिस मकान मे रहते हो, उसे बना सकते हो? अगर नही, तो स्वाधीन हो या पराधीन हो? वास्तव मे स्वाधीन मनुष्य ही सुखी है और पराधीन मनुष्य ही दुखी है। यही बात दृष्टि मे रखकर युधिष्ठिर के महल की अपेक्षा व्यास की झोपडी श्रेष्ठ गिनी गई है।

कहने का आशय यह है कि स्वलाभ मे आनन्द मनाना और परलाभ की आशा न रखना ही साधु के लिए सुखशय्या है। सुखशय्या पर शयन करने से मन निराकुल बनता है। जो मनुष्य पराधीन, परतन्त्र नही होता, उसी का मन व्याकुलतारहित होता है। परन्तु तुम लोग परतन्त्र हो और तुम्हारा मन व्याकुल रहता है, फिर भी अपने–आप को सुखी मान रहे हो, यह आश्चर्यजनक बात है। मन को व्याकुल न होने देना ही सच्चा सुख है। बाह्य पदार्थो मे सुख नही है। इस कथन का सार यह है कि मन की अव्याकुलता ही सुखशय्या है और मन की व्याकुलता ही दुखशय्या है। सुन्दर महल मे रहने पर भी और मिष्ट भोजन करने पर भी अगर मन व्याकुल हुआ तो दु ख उत्पन्न होता है। इसके विपरीत घास की झोपडी मे रहते हुए भी और रूखा–सूखा भोजन करने पर भी अगर मन निराकुल हुआ तो सुख उत्पन्न होता है। इस प्रकार मन की व्याकुलता से दु ख पैदा होता है और मन की अव्याकुलता से सुख पैदा होता है। इसके समर्थन मे आगम मे कहा है–

**त सथार निसन्नो मुणिवरो नट्ठरागवम्मोहो।**
**पावइ ज मुत्तिसुह, कुतो त चक्कवट्टीए?**

अर्थात् घास के बिछौने पर सोने वाले, राग–द्वेष–मोह आदि को नष्ट करने वाले मुनिवर जिस आनन्द का उपभोग करते हैं, वह बेचारे चक्रवर्ती को भी कहा नसीब ह?

बाह्य वैभव कैसा ही क्यो न हो, मन अगर व्याकुल रहता है तो दु ख ही समझना चाहिए और बाह्य वैभव थोडा हो या न हो, किन्तु मन अव्याकुल हो तो सुख ही है, ऐसा मानना चाहिए। इस कथन के अनुसार, जो साधु पराधीन है और जिसका मन व्याकुल रहता है वह दु खी है। जो साधु स्वाधीन

है, जो अपना काम आप कर लेता है, और जिसका मन अव्याकुल रहता हे, वह सुखशय्या पर सोने वाला है – सुखी है।

पहले के लोग ऐसे थे कि वे प्राण देना कबूल कर लेते थे, परन्तु परतन्त्रता स्वीकार नही करते थे। किन्तु ससार परिवर्तनशील हे, इस कारण अब वह क्रम बदल गया दिखाई देता है और ऐसा जान पडता है कि लोग परतन्त्रता मे ही आनन्द मना रहे हैं।

तीसरी सुखशय्या बतलाते हुए भगवान् कहते हैं – विषयो का ध्यान भी न करना। आनन्द के लिए विषयो का भोग करना तो दूर, उनका विचार भी न करना तीसरे प्रकार की सुखशय्या है।

चौथी सुखशय्या यह कि चाहे जैसी आपत्ति आ पडे तो भी आपत्ति के समय सहिष्णुतापूर्वक कष्ट सहन करना और प्रसन्नचित रहना। दु ख जब सिर पर आ पडे तो इस प्रकार विचारना– अगर मैं इन दु खो को प्रसन्नतापूर्वक सहन करूगा तो मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा और जो दु खपूर्वक सहन करूगा तो कर्मबन्ध होगा। अनेक महात्मा तो कर्मो की उदीरणा करके दु खो को समभाव से सहन करते हैं, तो फिर आई हुई विपत्ति से मुझे क्यो घबराना चाहिए? जो दु ख आये है वे बिना किये तो आये नही। मैने दु खो को जन्म दिया तभी वे आये है। अब, जब दु ख माथे आ पडे हैं तो उन्हे समता के साथ और धैर्यपूर्वक सहना ही चाहिए। धैर्यपूर्वक दु ख सहन करने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है, ऐसा समझना चाहिए।

सुख–साता के पाठान्तर के विषय मे यहा विचार किया गया हे। सूत्र मे आये 'सुहसाया' शब्द के सुख–साता और सुखशय्या, दोनो अर्थ किये जाते हैं। सुखशय्या के चार भेद करके उनका जो विवेचन किया गया हे उस सब का सार यह है कि वास्तव मे बाहर के पदार्थो मे सुख नही हे। सुख तो अन्दर ही है। सुख तो स्वाधीनता मे है, पराधीनता मे नही। जितनी–जितनी पराधीनता बढती है, उतना ही दु ख बढता जाता हे। इसके विपरीत जो जितना स्वाधीन हे वह उतना ही सुखी हे। लोग भी कहते तो हैं कि पराधीनता मे दु ख ओर स्वाधीनता मे सुख हे, परन्तु व्यवहार मे यह बात भूल जाते हैं। परतन्त्र रहना बालदशा है। जो तुम्हारे सच्चे हितेषी होगे, वे तुम्हे इस बालदशा से बाहर निकालने का प्रयत्न करेगे। अगर तुम बालदशा से बाहर निकलना चाहते हो तो स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो। तुम मोटर मे बेठते तो हो, पर मोटर बनाना या चलाना नही जानते। ड्राइवर मोटर चलाता हे, किन्तु वह गडहे म गिरा द

तो ? इस तरह इन बातो पर ध्यान रखकर पराधीनता हटाओ और स्वतन्त्र बनो। आखिर स्वतन्त्र बनने मे ही सुख है।

कदाचित तुम कहोगे कि तैयार चीज लेने से तथा व्यवहार करने से पाप नही लगता। अतएव अपने हाथ से कोई चीज बनाने की अपेक्षा तैयार चीज लेना ही उचित है। इसके उत्तर मे श्रावको का वर्णन करते हुए शास्त्र मे कहा है–

**धम्मिया धम्मियाणदा, धम्मोवएसगा, धम्मेण च वित्तिं कप्पमाणे विहरइ।**

अर्थात्– श्रावक धर्मी होता है, धर्म मे आनन्द मनाने वाला होता है, धर्म का उपदेशक होता है और धर्मपूर्वक आजीविका करता हुआ विचरता है।

अब यह विचार करो कि धर्मपूर्वक आजीविका करने का अर्थ क्या है? क्या श्रावक भिक्षाचरी करता है? श्रावक जब तक ग्यारह प्रतिमाधारी नही बनता, तब तक भिक्षाचरी नही कर सकता। भिक्षा के तीन प्रकार हैं। पहली सर्वसम्पत्तिकारी भिक्षा, दूसरी वृत्तिभिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है।

जो महात्मा सयम का पालन करते हैं और केवल सयम की रक्षा के लिए ही शरीर का निर्वाह करने जितनी भिक्षा लेते हैं, वह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी कहलाती है। भगवान् ने साधुओ को अपना शरीर नष्ट करने की आज्ञा नही दी है। साधु केवल शरीरनिर्वाह के लिए और धर्माचरण करने के लिए ही भिक्षा लेता है। यह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी होती है। जो भिक्षु सम्यक्प्रकार से साधुधर्म का पालन नही करता, उसे भिक्षा मागने का अधिकार नही है। जो भिक्षु निरारभी और निष्परिग्रह रहकर साधुधर्म का बराबर पालन करता है, उसी को भिक्षा मागने का अधिकार है। जो भिक्षु सयम का पालन नही करता और केवल पेटपूर्ति के लिए भिक्षा मागता है, शास्त्र मे उसे 'गामपिडोलिया' कहा है।

कितनेक लोग साधुधर्म का पालन न करते हुए भी सिर्फ पेट भरने के लिए साधु बन जाते हैं। ऐसे पेटू साधु समाज के लिए भाररूप हैं। भारत मे ऐसे साधु करीब बावन लाख हैं। इन बावन लाख साधुओ के लिए भारत को कितना खर्च वहन करना पडता है? लोगो से भिक्षा माग–माग कर खाना और साधु धर्म का पालन न करना, बहुत ही बुरी बात है। बहुत–से लोग इन पेटू साधुओ को भी गुरु–बुद्धि से मानते हैं। यह विषमकाल का ही प्रभाव है। विषमकाल कैसा होता है, यह बतलाते हुए शास्त्र मे कहा है– विषमकाल मे

साधुओ की पूजा नही होती और असाधुओ की पूजा होती हे। परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण करना चाहते होगे, वे तो साधुधर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की ही पूजा करेगे और उसी को गुरू के रूप मे मानेगे।

दूसरी वृत्तिभिक्षा हे। लूले, लगडे या अपग लोग जो भीख मागते हे, वह वृत्तिभिक्षा कहलाती हे। इस वृत्तिभिक्षा की न निन्दा की गई हे ओर न प्रशसा ही की गई है। दयालु लोग दया करके देते हैं ओर दया को कोई बुरा नही कहता।

तीसरी भिक्षा पौरुषघ्नी हे। जो लोग हृष्टपुष्ट हैं ओर जो मेहनत करके कमा सकते हैं, फिर भी मेहनत, मजूरी न करके केवल भीख मागकर खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषघ्नी है।

कहने का आशय यह है कि श्रावक धर्मपूर्वक आजीविका करने वाले कहे गए है। गृहस्थ श्रावक भिक्षा मागकर नही खाते, वरन् धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं। श्रावक न्यायपूर्वक आजीविका करते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करते थे। उस समय वे श्रावक स्वावलम्बी थे। तुम भी अपने पूर्वज श्रावको के चरण–चिह्नो पर चलकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करो। स्वावलम्बन मे सुख है। परावलम्बन मे दु ख हे।

ससार के सभी लोग सुखशय्या चाहते हैं, किन्तु सुख के नाम पर दु खशय्या को अपना रहे हैं और दु खशय्या के नाम पर सुखशय्या छोड रहे हैं। परन्तु भगवान् ने कहा हे कि जो स्वाधीन हे ओर जिसका मन निराकुल है, वही सुखशय्या पर सो सकता है। मन को निराकुल बना देने से व्यावहारिक लाभ भी होता हे और आध्यात्मिक लाभ भी होता हे। पराधीन मनुष्य दु खशय्या पर सोने वाला हे। स्वाधीनता का मार्ग छोड देना ओर परतन्त्रता की बेडी मे जकड जाना, सुखशय्या त्याग कर दु खशय्या पर सोने के समान हे।

एक कहावत है– 'अपनी नीद सोना ओर अपनी नीद जागना'। इस कहावत का सार यही हे कि कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि जिसकी चिन्ता के मारे रात मे नीद तक न आये, परन्तु ऐसा सत्कार्य करना कि जिससे सुखपूर्वक निद्रा आवे। इसी प्रकार भगवान् ने साधुओ के लिए कहा हे– हे साधुओ! तुम पेटपूर्ति के लिए साधु नही हुए हो, परन्तु आत्मोद्धार करने के लिए, स्व–पर कल्याण करने के लिए साधु हुए हो, अतएव दु खशय्या का कल्याण करके सुखशय्या पर सोने का प्रयत्न करो।

सुखशय्या पर सोने के लिए तो कहा, परन्तु सुखशय्या पर सोने से जीव को क्या लाभ होता है? ऐसा गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया– 'सुहसाएण अणुस्सुयत्त जणयइ', अर्थात् हे गौतम! सुखशय्या पर सोने से मन मे अव्याकुलता उत्पन्न होती है अर्थात् मन मे अनुत्सुकता पैदा होती है।

मन मे अव्याकुलता किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसके लिए टीकाकार कहते हैं – जिन कारणो से मन मे आघात–व्याघात या प्रत्याघात होता है उन कारणो को तज देने से मन मे निराकुलता या अनुत्सुकता पैदा होती है। मन मे निराकुलता उत्पन्न होना ही सुखशय्या का परिणाम है। जैसे आग के कारण पानी मे उबाल आता है और आग के ऊपर से पानी उतार लेने पर पानी नही उबलता, उसी प्रकार जिन कारणो से मन मे चिन्ता या व्याकुलता बढती है, उन कारणो का त्याग कर देने से मन निश्चिंत और निराकुल बन जाता है। मन के निराकुल बन जाने से मन की चचलता घट जाती है अथवा मिट जाती है और फलस्वरूप मन को शाति मिलती है। जो पुरुष दूसरो की आशा या अपेक्षा नही रखता और देह सबधी कामभोग की भी अभिलाषा नही करता, उस पुरुष के हृदय मे किसी प्रकार की व्याकुलता नही रहती। जो मनुष्य विषय–सुख को विषमय और तुच्छ मानता है, उस के मन मे आकुलता–व्याकुलता रह नही पाती।

विषयसुख की इच्छा न करने से मन अनुत्सुक बनता है। मन अनुत्सुक बनने से अर्थात् विषय–सुख की इच्छा न होने से हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए कहा है– 'अनुकूल कपन चेष्टन अनुकपा।' अर्थात् दूसरे का दुख देखकर काप उठना और दूसरे के दु ख को अपना ही दु ख समझना अनुकम्पा है। इस प्रकार की अनुकम्पा विषय–सुख के इच्छुक के मन मे नही उत्पन्न होती है। विषय–सुख की इच्छा न रखने वाले को ही ऐसी अनुकम्पा उत्पन्न होती है। विषय–सुख का अभिलाषी तो अपने विषय–सुख को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता है, फिर दूसरे लोग चाहे जीए, चाहे मरे। जो विषय सुख का त्यागी है, उसके हृदय मे दूसरे को दु खी देखकर अनुकम्पा पैदा होती है, दूसरो के दु ख से उसका हृदय काप उठता है।

आजकल तो दयालु पुरुष को कायर कहते हैं, परन्तु शास्त्र के अनुसार हृदय मे अनुकम्पा, दया होना सद्गुण है। जिन लोगो मे विषय–सुख की लालसा नही रहती उन्ही मे यह सद्गुण पाया जाता है। जिनमे विषय–

सुख भोगने की लालसा बनी हुई है, उनमे दया या अनुकम्पा नहीं होती। उदाहरणार्थ, कोई कसाई बकरे को मारता हो तो उस समय तुम्हारे हृदय मे दया उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु उस कसाई को दया नहीं, क्योंकि उसे बकरे का मास खाने की लालसा है। अगर उसमे बकरे का मास खाने की लालसा न होती तो उसके हृदय मे भी अनुकम्पा या दया उत्पन्न होती। अनुकम्पा के विषय मे शास्त्र मे भी कहा है –

**एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किचण।**
**अहिंसा समयं चेव एयावत्तं वियाणिया।।**

– सूयगडागसूत्र

अर्थात् किसी भी जीव की हिसा न करना ही शास्त्र का सार है। ज्ञानीजन अहिसा–अनुकम्पा को ही सिद्धान्त का सार कहते हैं। शास्त्र सुनने पर भी जिस मनुष्य के हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न न हुई, जो निर्दय होकर अपने घर मे भी अनुकम्पा का व्यवहार नही करता, उसने शास्त्र नही सुना, बल्कि समझना चाहिए, उसने शस्त्र का प्रयोग करना सीखा है।

मेघकुमार के शास्त्रीय उदाहरण के अनुसार एक खरगोश को बचाने के खातिर हाथी एक पैर ऊचा करके बीस पहर तक खडा रहा था। बीस पहर बाद जब दावानल शात हुआ और मडल मे आये हुए जीव बाहर चले गये तो हाथी अपना पैर नीचे रखने लगा। मगर बीस पहर तक पेर ऊचा रखने के कारण उसका पैर रह गया था और वह जमीन पर गिर पडा। गिर जाने पर भी हाथी ने अनुकम्पा के विषय तनिक भी बुरा विचार न किया। उसने यह नहीं सोचा कि खरगोश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध था कि उसे बचाने के लिए मैंने पेर ऊपर रखकर इतना कष्ट सहन किया? भगवान् ने कहा है– हे मेघकुमार! इस प्रकार की अनुकम्पा रखने के कारण ही तू हाथी–पर्याय से छूटकर राजा श्रेणिक के घर राजकुमार रूप से जन्मा और सयम धारण कर सका है।

कहने का आशय यह हे कि जो मनुष्य विषय–सुख के प्रति निस्पृह होता हे, उसी मे अनुकम्पा का होना देखा जाता हे। लोग जो बारीक, चिकन ओर मुलायम वस्त्र पहनते हैं, उनमे लगाई जाने वाली चर्बी के लिए कितन जीव मारे जाते हैं? किसी दिन इस बात पर विचार किया हे ? विचार क्या नहीं करते? इसीलिए कि उन रेशमी ओर मुलायम वस्त्रा के प्रति तुम निस्पृह नहीं हो! जब तक विषय–लालसा छटती नही, तब तक अनुकम्पा उत्पन्न होगी नहीं। जब प्राणीमात्र के प्रति आत्म–भाव उत्पन्न होता हे तभी अनुकम्पा उत्पन्न

होती है। हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिए –

**ऐसी मति हो जाय, दयामय, ऐसी मति हो जाय।**
**औरो के सुख को सुख समझूं, सुख का करूं उपाय।।**
**अपने दु ख सब सहूं किन्तु परदु-ख नही देखा जाय।।**

हे प्रभो! मुझमे ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न हो कि मैं दूसरो के दु ख को अपना ही दु ख मानू और दूसरो के सुख को अपना सुख समझू। इस प्रकार की सम्मति सब मे उत्पन्न हो जाए तो विश्वप्रेम फैल जाए। विश्वप्रेम की जननी अनुकम्पा है। अनुकम्पा पैदा करने के लिए विषय–सुख के प्रति निस्पृह बनो। जब तुम्हारे हृदय मे से विषय–सुख की लालसा दूर होगी, तब हृदय मे अनुकम्पा के अकुर फूट निकलेगे। उस समय तुम दयापात्र बनने के बदले दयामय बन जाओगे। विश्वप्रेम उत्पन्न करने के लिए तुम दूसरो के सुख मे सुख और दु ख मे दु ख मानोगे तो स्व–पर का कल्याण ही करोगे।

किसी भी कार्य का फल जान लेने से उसमे जल्दी प्रवृत्ति होती है। जब तक किसी कार्य का फल न जान लिया जाये तब तक किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति नही होती। व्यवहार मे भी देखभाल कर ही प्रवृत्ति की जाती है। जब तुम्हे खातिरी होती है कि हम जो रुपया दे रहे हैं वह ब्याज सहित वापिस मिल जायेगा, तो तुम रुपया देने मे ढील नही करते। इसके विपरीत अगर तुम्हे मालूम हो जाय कि हमारा दिया हुआ रुपया वसूल नही होगा, तो इस दशा मे तुम रुपया नही दोगे, यह स्वाभाविक है। महान् से महान् चक्रवर्ती भी फल की आशा से ही अपनी सम्पदा का त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि विषय–सुख की आसक्ति का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

इसके प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है– विषयसुख का त्याग करने से विषय–भोग के प्रति अनुत्सुकता उत्पन्न होती है, अर्थात् विषय–सुख भोगने की उत्सुकता या इच्छा नही रहती। जिसने आम खाने का त्याग कर दिया है उसे आम खाने की उत्सुकता नही रहती। इसी प्रकार विषय–सुखो का त्याग करने से विषयो के प्रति उत्सुकता या चचलता नही रहती। त्याग न किया जाये तो उत्सुकता या चचलता बनी ही रहती है।

रामायण की कथानुसार जब सूर्पणखा ने रावण के सामने राम और लक्ष्मण के गुणो का वर्णन किया तो रावण के हृदय मे किसी तरह की उत्सुकता या चचलता उत्पन्न न हुई परन्तु जब उसने सीता के रूप का बखान

किया तो रावण के हृदय मे इस प्रकार की चचलता पैदा हो गई कि जो सीता ससार की स्त्रियो मे शिरोमणि बतलाई जाती है, उसे मुझे देख तो लेना चाहिए। इसी चचलता के कारण घोर अनर्थ हुआ है। रावण अगर पहले से ही विषय–सुख या परस्त्री का त्यागी होता तो उसके हृदय मे इस प्रकार की चचलता पैदा न होती और तब ऐसा अनर्थ भी क्यो होता?

इस प्रकार विषय–सुख का त्याग करने से चचलता मिट जाती है। चचलता हट जाना और अनुत्सुकता पैदा होना त्याग का लक्षण है। त्याग करने पर अगर चचलता या उत्सुकता बनी हुई हो तो समझना चाहिए कि सच्चा त्याग अभी हुआ ही नही है। सच्चा त्याग तब समझना चाहिए जब हृदय मे तनिक भी चचलता न रह जावे। भगवान् का कथन है कि चचलता मिट जाने से और स्थिरभाव उत्पन्न होने से हृदय मे अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा कितना श्रेष्ठ गुण है, इस विषय मे कहा गया है –

**दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।**

अर्थात् दया–अनुकम्पा ही धर्म का मूल है। अनुकम्पा को सभी ने धर्म बतलाया है। जिसमे विषय–सुख की लालसा नही होती उसे ही इस श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है।

साधारण तौर पर प्रत्येक व्यक्ति मे, न्यूनाधिक परिमाण मे अनुकम्पा का गुण विद्यमान रहता है। परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय मे चचलता आती है तब अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ, गाय किसी को, यहा तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नही देती। फिर भी जब कसाई के दिल मे स्वार्थ के कारण तथा विषय–लालसा के कारण चचलता उत्पन्न होती है तब वह निर्दयता के साथ गाय को कत्ल कर डालता है। विषयलालसा के कारण हृदय मे चचलता उत्पन्न होती है और चचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता या सर्वथा नष्ट हो जाता है, ऐसा क्रम है।

विचार करो कि तुम्हारे दिल मे पशुओ के प्रति सच्ची दया है या केवल दया का दिखावा मात्र है? अगर तुम्हारे हृदय मे सच्ची दया हो तो क्या तुम ऐसी वस्तुओ का व्यवहार कर सकते हो जिनके खातिर पशुओ की हत्या की जाती है? तुम यो तो गाय को नही मारोगे, परन्तु तुम्हारे सामने गाय के चमडे के बने सुन्दर और मुलायम बूट रखे जाए अथवा गाय की चर्बी वाले कपडे तुम्हे दिये जाए, तो उन्हे उपयोग करने के लिए लोगे या नही? प्रत्यक्ष मे तो तुम गाय को माता कहोगे, मगर यह नही देखोगे की तुम्हार लिए गाय

माता की हालत कितनी भयकर हो रही है? क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम जो मुलायम बूट पहनते हो, वो किसके चमडे के बनते हैं?

तुम कह सकते हो, जूते पहने बिना कोई काम नही चलता, मगर भारतवर्ष मे पहले चमडे के खातिर कभी भी पशुओ का घात नही किया जाता था। जो पशु स्वाभाविक मौत से मर जाते थे, उन्ही के चमडे के जूते बनाए जाते थे। आजकल तो विशेष तौर से चमडे के लिए पशु मारे जाते हैं। इतना ही नही, वरन् चमडे को सुन्दर और मुलायम बनाने के उद्देश्य से पशुओ की बडी ही निर्दयता के साथ हत्या की जाती है। क्या तुम लोगो ने ऐसे सुन्दर और मुलायम चमडे की बनी चीजो का त्याग किया है? अगर त्याग नही किया, तो क्या तुम्हारे दिल मे पशुओ के प्रति दया का भाव है?

कल्पना करो, तुम्हारे सामने द्रौपदी को नग्न किया जाये और उसके शरीर पर से उतारे हुए वस्त्र कोट, कमीज बनवाने के लिए तुम्हे दिए जाए, तो क्या तुम उन वस्त्रो को हाथ भी लगाओगे? तुम उस समय यही कहोगे कि जिन वस्त्रो के लिए द्रौपदी माता को नग्न किया गया है, उन्हे हम छू भी कैसे सकते हैं? इस प्रकार कह कर तुम उन वस्त्रो का उपयोग नही करोगे। मगर तुम्हारी मातृभूमि को हानि पहुचाने वाले वस्त्र तुम्हे दिये जाते हैं, उन्हे लेने का तुमने त्याग किया है? तुमने हिसामूलक वस्त्रो का और चमडे का त्याग नही किया, इसका एक प्रधान कारण यही है कि अभी तक तुम्हारे हृदय मे अनुकम्पा का भाव ही उदित नही हुआ है। अगर सच्ची अनुकम्पा तुम्हारे हृदय मे उत्पन्न हो जाती तो ऐसी हिसामूलक वस्तुओ का तुम स्पर्श तक न करते।

भगवान् कहते है कि हृदय मे अनुकम्पा का भाव पैदा होने से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता आती है। अनुकम्पा से हृदय नम्र बन जाता है ओर नम्र हृदय मे अभिमान उत्पन्न नहीं होता। अनुकम्पाशील मनुष्य मे 'मैं बडा हू, म यह कैसे करू?' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नही होता है। अनुकम्पा वाला मनुष्य दूसरे के दु ख को अपना ही दु ख मानता है और दूसरे का दु ख मिटाना अपना दु ख मिटाना समझता है। वही सच्ची अनुकम्पा हे जिससे अभिमान या लालसा को स्थान न हो। जहा किसी भी प्रकार की लालसा होती है वहा विशुद्ध अनुकम्पा नही।

आजकल कितने ही लोग अनुकम्पा के नाम पर दान तो करते हैं, परन्तु साथ ही साथ अपने-आप को दानी कहलाने के लिए अखबारो मे बडे-बडे अक्षरो मे अपने दान की घोषणा छपवाते हैं। क्या यह अनुकम्पा ओर

दान है? वास्तव मे देखा जाये तो सच्ची अनुकम्पा न होने के कारण ही प्रसिद्धि की इच्छा रहती है। हृदय मे सच्ची अनुकम्पा हो तो नाम की इच्छा नही होती।

आनन्द श्रावक के पास बारह करोड स्वर्ण–मोहरो का धन था। उसमे से वह चार करोड स्वर्ण मोहरो से व्यापार करता था। उसके पास चालीस हजार गाये थी। जब उसने भगवान् के दर्शन किये तो भगवान् के उपदेश सुनकर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब धन आदि की वृद्धि नहीं करूगा। इस प्रतिज्ञा के पश्चात् भी उसका चार करोड मोहरो का व्यापार चालू रहा और चालीस हजार गाये भी बनी रही। गायो मे वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी उसका त्याग भग नही हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। शास्त्र मे कोई ऐसा स्पष्टीकरण नही किया गया है कि किस प्रकार उसकी सम्पत्ति मे ओर उसकी गायो मे वृद्धि नही हुई? और केसे उसका त्याग भग नहीं हुआ? परन्तु इसके कारण पर विचार करने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आनद श्रावक बिना मुनाफे का व्यापार करता था अथवा बढी हुई सम्पत्ति को दान देता था। उसे कोई मनुष्य गरीब दिखाई देता तो उसे गाये दान कर देता था। इसी प्रकार उसकी सम्पत्ति तथा गायो का परिमाण भी बराबर रहता और त्याग की रक्षा के साथ दान आदि धर्म का भी पालन हो जाता था।

कहने का आशय यह हे आनद श्रावक ने दानी होते हुए भी दानियो की नामावली मे अपना नाम प्रसिद्ध नही किया था। इतना ही नही, वरन् शास्त्र मे भी उसके इस दान का वर्णन तक नही किया गया हे। मगर यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि जब उसका त्याग भी सुरक्षित रहा ओर व्यापार आदि की मर्यादा भी बराबर कायम रही, तब बढती हुई सम्पत्ति का सिवाय दान के ओर क्या उपयोग हो सकता था? जिस मनुष्य मे सच्ची अनुकम्पा होती है, वह दान भी गुप्त रुप से ही देता हे ओर दान देकर अभिमान नही करता। वह अपने नाम की प्रसिद्धि भी नही चाहता।

तुम लोग गाय की सेवा करके दूध पीते हो या बाजार से खरीदा हुआ पीते हो? तुम गाय की सेवा किये बिना ही दूध पीते हो, फिर भी अपने– आप को अनुकम्पा वाला कहलवाते हो? क्या विक्री का दूध पाने मे अनुकम्पा हे? शास्त्रकार इसे अनुकम्पा नही कहते। ऐसी दशा मे भी आज किसके घर म गाये हें? आज कोन मोल खरीद कर दूध नही पीता? स्त्रिया तो कह दगी कि

हम अपनी सेवा करे या गायो की सेवा करे? हम अपना सिगार सजे अथवा गायो का गोबर और पेशाब उठाए? जहा ऐसी भावना है वहा अनुकम्पा का गुजारा कहा? सुना है, गाधीजी ने भारत की गायो की दुर्दशा देखकर गाय का दूध पीना ही छोड दिया था। तुम लोग गाय का दूध तो पीते हो मगर गाय की सेवा नही करते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि तुममे अनुकम्पा का अभाव है।

कहने का आशय यह है कि विषय–सुख की लालसा का त्याग करने से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता पैदा होती है। जिसमे निभिमानता प्रकट हो जाती है उसमे किसी प्रकार का शोक, सतोष या किसी प्रकार की चिता नही रहती। जिसमे सच्ची अनुकम्पा होती है उसे हानि होने पर चिन्ता नही होती। मान लीजिए, किसी व्यापारी ने रुई की गाठो का बीमा उतरा लिया है। अब कदाचित् उन गाठो मे आग लग जाये तो क्या उस व्यापारी को चिन्ता होगी? वह तो यही कहेगा कि मेरा क्या बिगडा? मैने तो पहले ही बीमा उतरा लिया है। इसी प्रकार जिसके हृदय मे सच्ची अनुकम्पा होती है, वह मनुष्य अपनी समस्त वस्तुए परमात्मा को समर्पित कर देता है और इसी कारण किसी भी वस्तु का नाश होने पर भी उसे चिन्ता नही होती। इतना ही नही, अपने प्राण तक चले जाने पर भी अनुकम्पाशील मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता नही होती। कहा भी है–

**चाहत जीव सबे जग जीवन, देह समान नही कछु प्यारो।**
**सयमवन्त मुनिश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो।**
**तो चिन्तै हम आतम राम, अखण्ड अबाधित रूप हमारो।**
**देह विनाशिक सो हम तो– नहि शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो।।**

ससार का कोई भी प्राणी अपना जीवन नष्ट नही करना चाहता, क्योकि देह सभी को प्रिय है। देह के बराबर अन्य कोई भी वस्तु प्रिय नही है। ऐसा होने पर भी सयमवन्त मुनीश्वर देहान्तकारी कष्ट उपस्थित होने पर भी चिन्ता नही करते। वे इसी प्रकार विचार करते है कि – हमारा देह अलग है और आत्मा अलग है। गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रखी गई, खदक मुनि की चमडी उधड ली गई और पाच सौ मुनि कोल्हू मे पेर दिये

गये, फिर भी मुनीश्वरो को किसी प्रकार की चिता न हुई। कारण यही है कि वे मुनि आत्मा और शरीर को भिन्न–भिन्न मानते थे। इस प्रकार शोकरहित होने का कारण अनुकपा है। अनुकपा होने के कारण ही मुनीश्वरो को देहान्तक–कष्ट पडने पर भी चिता पैदा न हुई। उन्होने अपना शरीर पहले ही परमात्मा को समर्पित कर रखा था।

सुख–साता के प्रश्नोत्तर मे भगवान् ने कार्य–कारण भाव बतलाया है। भगवान ने कहा है– विषय–लालसा न होने से अनुत्सुकता (विषयो के प्रति अनासक्ति) उत्पन्न होती है, अनुत्सुकता से अनुकम्पा उत्पन्न होती हे ओर अनुकम्पा से जीव मे निरभिमानता आती है। निरभिमानता से जीव शोकरहित बनता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

शास्त्र मे मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं– दर्शनमोहनीय ओर चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय तो वस्तु का सम्यक् स्वरूप समझने मे बाधक होता है और चारित्रमोहनीय कर्म वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर भी उस समझ के अनुसार आचरण करने मे बाधक बनता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तदनुसार आचरण नही किया जा सकता। चारित्र मोहनीय कर्म नष्ट होने पर ही चारित्र प्रकट होता हे। अगर सकल्प–विकल्प न मिटे तो समझना चाहिए कि अभी तक चारित्र मोहनीय कर्म नष्ट नही हुआ है। सकल्प–विकल्प के मिट जाने पर वास्तविक चारित्र प्रकट होता है। जब चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप मे नाश हो जाता हे तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त हो जाता हे। इस प्रकार विषय– लालसा को दूर करने से आत्मा गुणक्रमारोहण करके सिद्धि प्राप्त करता हे। यही मुक्ति का मार्ग हे। शास्त्रकार कहते हे कि मोक्षमार्ग सरल तो हे, मगर इस मार्ग पर जाने के लिए विषय–लालसा आदि जो काटे बिखरे पडे हे, उन्हे सर्वप्रथम दूर करने की आवश्यकता हे। विषय–लालसा को जीत लिया जाये तो मुक्ति के मार्ग पर चलना सरल हे। गीता मे भी कहा हे–

**तस्मात्त्वमिन्द्रियान्यादौ नियम्य भारतवर्ष।**

अर्थात् हे अर्जुन। पहले इन्द्रियो की विषय–लालसा जीत लो। विषय–लालसा को जीत लेने से तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

मुक्तिमार्ग पर जाने के लिए, तुम लोग भी सर्वप्रथम इन्द्रिया को जीतने का प्रयत्न करो। अगर तुम प्रारम्भ से इन्द्रिया पर विजय प्राप्त करोग तो क्रमश मुक्ति भी प्राप्त कर सकोगे। परम्परा से मिलने वाले फल का प्राप्त

करने के लिए सब से पहले प्रारम्भिक कार्य करना चाहिए। किसान को फल तो बाद मे प्राप्त होता है, पर बीज के आरोपण करने का कार्य पहले करना पडता है। अगर वह प्राथमिक कार्य–बीज का आरोपण न करे तो धान्य–लाभ उसे कैसे हो सकता है? इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषय–लालसा पर विजय पाना आवश्यक है। अगर विषय–लालसा जीत ली जाये और चचलता का त्याग कर जीवन मे अनुकम्पा उतारी जाचे तो आत्मा का क्ल्याण हो और मुक्ति का मार्ग भी खुल जाये।



# तीसवां बोल

## अप्रतिबद्धता

उनतीसवे बोल मे सुखशय्या अथवा सुख–साता के सबध मे काफी विचार किया जा चुका है। अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कोन सो सकता है या सुख–सातापूर्वक कोन रह सकता है? जिस व्यक्ति मे विषय–लोलुपता नही है और जिसमे प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नही हे, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है। अतएव गोतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते है कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव की क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

**प्रश्न– अपडिबद्धयाएणं भंते! जीव कि जणयइ?**

**उत्तर– अपडिबद्धयाएणं निस्सगत्त जणसइ, निसंगत्तेण जीवे एगे एगग्गचित्ते दिवा वा राओ वा असज्जमाणे अपडिबद्धे आवि विहरइ।। 30।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– अनासक्ति से जीव नि सग, अर्थात् राग–द्वेष–ममत्व से रहित होता हे। ओर नि सग होने से उसका चित्त–दिन–रात धर्म ध्यान मे एकाग्र रहता हे ओर एकाग्र होने से यह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता हे।

### व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकर कहते ह कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर नही रहता। वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता हे। सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल ओर भाव स किसी

प्रकार का प्रतिबन्ध नही रखता। यह वस्तु मेरी है– इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है', इस प्रकार क्षेत्र से कालमर्यादा का उल्लघन करके रहने मे काल और किसी के प्रति मन मे राग–द्वेष रखकर भाव से साधु प्रतिबन्ध नही रखता। इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सबधी प्रतिबन्धी से रहित होकर अनासक्त–अप्रतिबद्ध होकर विहार करता करता है।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। किन्तु यह बात भलीभाति हृदय मे उतारने के लिए इसका विषेश स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली–सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उतर कर विचार किया जाये तो अप्रतिबद्धता शब्द मे और उसके भाव मे गूढ अर्थ छिपा है। अप्रतिबद्धता का अर्थ है किसी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना। जो व्यक्ति पकज के समान जगत् के समस्त पदार्थों मे अलिप्त रहता है, वह अप्रतिबद्ध या अनासक्त कहलाता है। पकज अर्थात् कीचड मे उत्पन्न होने वाला कमल। कमल कीचड मे पैदा होकर भी कीचड से अलिप्त रहता है। अगर कमल कीचड से प्रतिबद्ध हो जाये तो उसका विकास ही न हो, वह सड जाये। इसी प्रकार वस्तु–ससर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रतिबन्ध से आत्मा का विकास रुक जाता है और जब आत्मा अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है, तो उसका अधिकाधिक विकास होता है।

शास्त्र के इस कथन से तुम अपने विषय मे विचार कर सकते हो कि तुम्हे यह मनुष्य–जन्म किस प्रकार मिला है और किस प्रकार इसका सदुपयोग करना चाहिए? विचार करो कि यह मनुष्य–भव तुम्हे प्रतिबन्ध को मजबूत करने के लिए मिला है या प्रतिबन्ध तोडने के लिए मिला हे? श्री सूत्रकृताग सूत्र मे इस विषय मे कहा है–

**जेसि कुले समुप्पण्णे जेसि वा संवसे नरे।**
**ममाइ लुप्पइ वाले अन्नमत्रेण मुच्छिए।।**

**–सू 1–अ, 1–उ, 1–गा. 4 ।**

इस सूत्र के अनुसार आत्मा जिस कुल मे उत्पन्न होता हे अथवा जिसके साथ निवास करता है, उसी के साथ ममत्व उत्पन्न हो जाता हे। इस प्रकार ममता उत्पन होने के दो कारण हे– एक जन्म ओर दूसरा सहवास। तात्पर्य यह ह कि एक तो जन्मजनित स्नेह उत्पन्न होता हे ओर दूसरा सहवासजनित। ये दोनो प्रकार के स्नेह–ममत्व के कारण हे। शास्त्र कहता हे, दोनो प्रकार के स्नेह से ममत्व के कारण ह। शास्त्र कहता हे कि दोनो प्रकार

के स्नेह से उत्पन्न होने वाला ममत्व आत्मा के लिए बन्धनकारक है। आत्मा अजर–अमर है। उसका कोई बन्धन होना ही नही चाहिए।

ज्ञानीजन कहते हैं– हे जीव! तू इस बात का विचार कर कि तू इस ससार मे बन्धन तोडने आया हे या बन्धनो मे बधने के लिए आया हे? जेलखाने मे कैदी बेडी पहनता है सो सजा कम करने के लिए या बढाने के लिए? इसी प्रकार हे जीव! तू ससार रूपी इस जेलखाने मे आया हे ओर कुल तथा पत्नी आदि की बेडी तुझे पहनाई गई हे। अब तू इस बेडी के बन्धन से छूटना चाहता या अधिक बधना चाहता है? अरे! यह मनुष्य–जीवन बेडी काटने के लिए मिला है! और बार–बार यह सुअवसर मिलना कठिन हे। इस आत्मा को मनुष्य–जन्म का कैसा दुर्लभ अवसर मिला है, इस सम्बन्ध मे श्रीउतराध्ययनसूत्र मे कहा है –

**कम्माणं तु पहणाए आणुपुव्वी कयाइओ।**
**जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं।।**

– उत्त – 3–7।

इस गाथा का भाव यह हे कि हे आत्मा! तू किन्ही प्रधान–प्रशस्त कर्मो के कारण ही धीरे–धीरे यह स्थिति प्राप्त कर सका हे। अगर प्रधान कर्म न होते तो गर्भ मे जीवित रहना कितना कठिन है, यह विचार कर देख। तेरे साथ ही दूसरे नौ लाख प्राणी जन्मे थे, मगर उन सब मे से तू ही अकेला जीवित बच सका। अगर तुझे पुण्य का योग न मिला होता तो तेरी भी वही दशा होती जो तेरे नौ लाख साथियो की हुई। तू भी मर कर समाप्त हो जाता, केवल पुण्य के प्रभाव से ही तू बच पाया हे।

प्रश्न किया जा सकता हे कि नौ लाख जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे, जावरा मे एक डाक्टर के साथ मेरी वातचीत हुई थी। डाक्टर ने कहा था कि शुक्र ओर शोणित को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाये तो उसमे अनेक कीडे दिखाई देते हैं। यह तो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने की बात हुई। परन्तु अपने को तो भगवान् पर अटल विश्वास हे। अतएव हमे मानना चाहिए कि उनका कथन सत्य ही हे। भगवान् कह गये हैं कि हमारे साथ नो लाख सज्ञी जीव उत्पन्न हुए थे, मगर वे नष्ट हो गये ओर म पुण्य के प्रभाव से बच गया। इस प्रकार प्रधान शुभ कर्म के प्रताप से ही यह मनुष्य–जन्म प्राप्त हुआ हे।

वडी कठिनाई से मनुष्य–जन्म प्राप्त होता हे। इस कारण इसका दुरुपयोग न करने के लिए जेन–शास्त्रो मे वारम्वार उपदेश दिया गया हे।

अन्य दर्शन वाले भी मनुष्य–जन्म को उत्तम और दुर्लभ मानते है। ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म अपने को सहज ही मिल गया है तो किस प्रकार इसे सफल बनाना चाहिए, यह विचारणीय है मनुष्य–जन्म द्वारा ससार–बन्धन को सुदृढ करना चाहिए या तोडना चाहिए? अगर कोई कैदी अपनी कारागार की अवधि बढाए तो वह मूर्ख कहा जाएगा, मगर तुम क्या कर रहे हो? इस शरीर मे तथा ससार मे रहना तो एक प्रकार से कारागार मे रहना है। जैसे कैदी कारागार मे से निकलने की इच्छा रखता है और उसी के अनुसार बर्ताव करता है, इसी प्रकार तुम ससार रूपी कारागार से निकलने की भावना करो और वैसा ही बर्ताव करो। इस मानव–भव मे अगर ससार–कारागार से मुक्त होने की चेष्टा न की तो फिर कब करोगे? बडी ही कठिनाई से यह जन्म मिला है। फिर भी ससार के बन्धनो से छुटकारा पाने के लिए इसका सदुपयोग न करके बन्धनो को मजबूत करने मे दुरुपयोग करना कितनी बडी मूर्खता है! भक्त तुकाराम ने इस विषय मे कहा है –

**अनन्त जन्म जरी केल्या तपराशी तरी हान पवसी मानव देह।**
**ऐसा हा निदान लागेलासिं हाथी त्याची केली माटी भाग्यहीन।**
**उत्तमाचा सार वेदाचा भंडार जया ने पवित्रे तीर्थे होति।**
**म्हेणे तुकिया बन्धु आणी उपमा नाही या तो जन्मीद्यव्यासी।**

भक्ततुक राम कहते है कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य–जन्म मिलने पर भी कितने ही भाग्यहीन लोग, मनुष्य जन्म का मूल्य वैसा ही आकते हैं, जैसा मूर्ख मनुष्य हीरे की कीमत पत्थर की तरह आकता है। अभागे लोग मनुष्य–जीवन का ठीक मूल्य नही आक सकते। मनुष्य, फिर भले ही वह चोर ही क्यो न रहा हो मनुष्य–जन्म का सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है। इसके विपरीत, जो मनुष्य–जीवन का दुरुपयोग करता है वह चाहे चक्रवर्ती ही क्यो न हो, तब भी ससार के बन्धनो मे बधता है। अतएव मनुष्य–जीवन का सदुपयोग ऐसे कार्यो मे करना चाहिए जिससे सासारिक बन्धनो का विनाश हो।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे, दशवे अध्याय मे कहा है–

**वणस्सइकायमइगओ उक्कीस जीवो उ सवसे।।**
**कालमणतदुरतय समय गोयम! मा पमायए।।**

इस गाथा का भावार्थ यह है कि हे गौतम! अनन्त दुर्गम काल व्यतीत हो जाने पर यह मनुष्य–शरीर प्राप्त हुआ है। इस कथन पर गम्भीर विचार

करने से ज्ञात होता है कि अनन्त भवो तक तप करते रहने पर भी यह मनुष्य–शरीर किसी को मिलता ओर किसी को नही भी मिलता। अनन्त एकेन्द्रिय जीव ऐसे मोजूद हैं जिन्हे अभी तक द्वीन्द्रिय अवस्था तक प्राप्त नहीं हो सकी। परन्तु हमे अपने सत्कार्य के प्रताप से मनुष्य–जन्म मिला हे। इस विषय मे तुलसीदास ने कहा हे–

**चतुराई चुलहे पडो, धिग धिग पडो आचार।**
**तुलसी हरि के भजन बिन, चारो वर्ण चमार।।**

अर्थात् जो व्यक्ति, चाहे वह, उच्च कुल मे जन्मा हो या नीच कुल मे उत्पन्न हुआ हे, अगर परमात्मा का भजन नही करता तो वह चमार के समान हे।

तुलसीदास के इस कथन पर तुम कह सकते हो कि ब्राह्मण चमार कैसे हो सकता है? अन्यथा हम चमार केसे बन सकते? इस प्रश्न के उत्तर मे सबसे पहले यही कहना है कि चमार क्या करता हे, सो देखो। चमार चमडे को पकाता हे, रगता हे, साफ करता हे, ओर फिर जूता बना कर तुम्हारे सामने रख देता है। अब तुम परमात्मा का भजन न करके क्या करते हो, सो विचार करो। तुम तेल ओर साबुन कहा मलते हो? शरीर पर ही तेल–साबुन लगाते हो न? यह शरीर क्या हे? चमडा ही। चमार जो चमडा तेयार करता हे, उससे दूसरो की रक्षा भी होती हे ओर वह जो–कुछ करता हे, दूसरो की रक्षा के लिए करता हे। मगर तुम्हारे इस शरीर के चमडे से दूसरो का क्या हित होता हे? जो चमार दूसरो के लिए श्रम करता हे, ओर स्वय श्रम करके दूसरो का हित करता हे, उसे तो आप नीच समझते हैं ओर अपने–आप को ऊचा मानते हैं। तुम अपने ओर चमार के कार्यो की तुलना करो तो पता चलेगा कि चमार क्या बुरे कार्य करता हे ओर तुम क्या अच्छे कार्य करते हो? अतएव परमात्मा का भजन करो। सिर्फ शरीर पर तेल–फुलेल लगाने मे ही मत लगे रहो। यदि तुम शरीर पर तेल–फुलेल लगाने मे ही लगे रहे ओर परमात्मा का भजन न किया तो केसे कहा जायेगा कि तुम चमार से अच्छे हो? तुम्हे यह दुर्लभ मनुष्य–जन्म मिला हे, सो इसका सदुपयोग करो। इस मनुष्य–शरीर द्वारा आत्मा परमात्मा की शरण मे जा सकता हे। परमात्मा इस शरीर के लिए जितना सन्निकट हे, उतना अन्य किसी भी देह के लिए सन्निकट नहीं हे। ऐसा होने पर भी तुम मनुष्य–शरीर का केसा दुरुपयोग करते हो, इस बात का विचार करो। कहा भी हे

दया और धर्म के प्रताप कोटवाल भयो,
अब नहीं साधु की संगति सुहात है।
रात दिन करे मनसूबा धन बांधवे के,
आयु घटी जात जाकी चित्त नहीं चाह है।
हीरन को छाड़ि छाड़ि कांचन को नग लेत,
आगे ही हाथ देखी आप खोटा खात है।
ऋषीजी कहत हुंडी और की सिकारत है,
अपनी हुंडी के दाम, रीते रह जात है।।

अर्थात् यह मनुष्य-शरीर किसके प्रताप से मिला है? क्या कोई मनुष्य शरीर का एक भी अग बना सकता है? बादशाह प्रसन्न हो जाये तो कोहीनूर हीरा तो दे सकता है, मगर आख का हीरा, अर्थात् आख का तेज चला गया हो तो वह नही दे सकता। विचार करो कि ऐसी तेजस्वी आख तुम्हे किसके प्रताप से मिली है? बादशह के द्वारा दिये हुए कोहीनूर हीरे को कोई फोडने लगे तो बादशाह उस पर नाराज होगा या नहीं? अगर तुम अपनी आखो का, जिनका मूल्य कोहीनूर हीरे की अपेक्षा भी बहुत अधिक है, परस्त्री या पर-पुरुष को दुर्भावना से देखने मे दुरुपयोग करो तो क्या परमात्मा तुम से प्रसन्न होगा? अगर तुम परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो अपनी आखो का सदुपयोग करो। ससार-बन्धन से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य-शरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य-शरीर अप्रतिबद्ध-अनासक्त होने के लिए ही प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि अप्रतिबद्ध रहने से हमारे घर का और हमारी जाति का काम कैसे चल सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानीजन यह देते हैं कि किसी भी वस्तु पर जितना ममत्व रखोगे उतना ही दुख बढेगा। अतएव ममत्व-भाव जितना कम हो, उतना ही भला है। साधारणतया प्रतिबद्ध का अर्थ वस्तु का दुरुपयोग है और अप्रतिबद्ध का अर्थ वस्तु का सदुपयोग है। उदाहरणार्थ आख देखने के लिए और कान सुनने के लिए प्राप्त हुए है। परन्तु आख से क्या देखना चाहिए? और कान से क्या सुनना चाहिए? इस सम्बन्ध मे विवेक की आवश्यकता है। आख स्त्री पर कुदृष्टि डालने के लिए ओर कान पराई निन्दा सुनने के लिए नही मिले हैं। फिर भी आख और कान का सदुपयोग किया जाये तो वह अप्रतिबद्ध है। जो मनुष्य आख ओर कान का मूल्य समझता होगा, वह उनका दुरुपयोग कदापि नही करेगा। शास्त्रकारो का कथन है कि इन्द्रियो को ओर मन को विपरीत

कार्यों से निवृत्त करके सत्कार्यों मे प्रवृत्त करना अप्रतिबद्ध है। जो पुरुष प्रतिबद्ध से निवृत्त होकर अप्रतिबद्ध दशा मे विचरता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए अप्रतिबद्ध होने की आवश्यकता है और अप्रतिबद्ध होने के लिए सग का त्याग करने की आवश्यकता है। सग दो प्रकार के हैं। एक सग तो आत्मा को अधोगति मे ले जाता है और दूसरा सग ऊर्ध्वगति मे पहुचाता है। यहा जिस सग का त्याग करने के लिए कहा गया है वह अधोगति मे ले जाने वाला है। प्रश्न हो सकता है कि अधोगति मे ले जाने वाला सग कौनसा है? और उर्ध्वगति मे ले जाने वाला कोनसा है? इस प्रश्न के उत्तर मे गीता मे कहा है –

**ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।**
**संगात्संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते।।**
**क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।**
**स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।**

अर्थात् जिस संग के कारण विषय–वासना मे प्रवृत्ति होती है, वह सग अधोगति की ओर ले जाता है। क्योकि विषय–वासना मे किसी प्रकार की विघ्न–बाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। राम महापुरुष थे, फिर भी रावण को उन पर क्रोध हुआ था, क्योकि सीता को अपनी बनाने मे राम बाधक थे। इसी प्रकार मणिरथ युगबाहु का सगा भाई था, फिर भी विषय–वासना के कारण क्रुद्ध होकर उसने युगबाहु को मार डाला था। अतएव जिस सगति से क्रोध ओर काम–वासना की उत्पत्ति होती हो, उस सगति का त्याग कर देना चाहिए।

कुसगति मे अनेक बुराइया हैं। बडे–बडे मनुष्य भी सग के कारण खराब हो जाते हैं। इसी कारण नि सग बनने के लिए कहा गया है। नि सग बनने के लिए अप्रतिबद्ध होना आवश्यक है। आत्मा को अप्रतिबद्ध बनना ही चाहिए, किन्तु आत्मा मे दुर्गुणो की ऐसी वासना घर कर बेठी है कि उस वासना के कारण आत्मा अपनी हानि जानते हुए भी हानिकारक कार्यों मे ही फसता जाता है। इसी कारण भक्तजन कहते हैं, 'हे प्रभो ! मुझ सरीखा मूर्ख ओर कौन होगा? कोई कह सकता है कि तुम मूर्ख नही हो, मूर्ख तो मछली ओर पतग हैं जो अपने–आप ही जाल मे जा फसते हैं ओर जलकर मर जाते हैं। परन्तु यह कथन भूलभरा है। मछली ओर पतग भी मेरे समान मूर्ख नही हैं। मेरी मूर्खता तो इनकी मूर्खता से भी बहुत बडी है। अगर मछली को पता

हो कि इस आटे के पीछे काटा है और वह काटा मेरे लिए प्राणघातक है, तो मछली उस काटे मे कदापि न फसे और अपने प्राणो का नाश न करे। परन्तु मछली तो उसे अपना भक्ष्य समझ कर ही खाने जाती है और रसलोलुपता के कारण फस जाती है। इसी प्रकार अगर पतग को पता हो कि दीपक मे अग्नि है और उस अग्नि से मै मर जाऊगा तो वह दीपक पर मोहित नही होगा। परन्तु पतग दीपक को अग्निरूप नही समझता। वह तो सुन्दर रूप देखकर ही उस पर गिरता है और अपने प्राणो की आहुति दे देता है। इस प्रकार मछली और पतग तो अनजान मे ही विषय–भोग मे फसते हैं, परन्तु मैं तो जान–बूझ कर विषय–भोग मे फस जाता हू और इस कारण मैं उनकी अपेक्षा अधिक मूर्ख हू। मैं जानता हू कि विषय–भोग हानिकारक है, फिर भी मै विषय–भोग मे प्रवृत्ति करता हू। अतएव दीपक लेकर कूप मे गिरने वाला मुझ–सा मूर्ख और कौन होगा?

विषय–सुख मे अनेक हानिया हैं और इसी कारण भगवान् कहते है–'नि सग बनो।' यह बात कहने मे तो बहुत छोटी है और सरल है, किन्तु उसका आचरण करना बहुत कठिन है। कहने और करने मे बहुत अन्तर होता है। अतएव अप्रतिबद्ध और नि सग बनने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है। अगर ठीक प्रयत्न किया तो आदर्श तक पहुचा जा सकता है।

तुम्हारे पूर्वज तुम्हारे लिए जो उच्च आदर्श उपस्थित कर गये है, उसी आदर्श का अनुसरण करो। मगर आजकल तो गौराग गुरुओ के संग से ऐसा समझा जाने लगा है कि मानो पूर्वजो मे बुद्धि ही नही थी और वे मूर्ख ही थे। तुम्हारे पूर्वजो की ओर से तुम्हारे लिए त्याग का जो आदर्श रखा गया है वह अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। लेकिन तुम आदर्श की ओर ध्यान नहीं देते और इधर–उधर भटकते फिरते हो। तुम आध्यात्मिक कार्यो मे गति ही नही रखते। सिर्फ आधिभौतिक कामो मे फसे रहते हो। यद्यपि गृहस्थ होने के कारण तुम्हे आधिभौतिक कार्यो की सहायता लेनी पडती है, यह स्वाभाविक है, परन्तु इतना ध्यान तो रखना चाहिए कि जो आधिभौतिक वस्तु नरक के मार्ग मे ले जाने वाली है, वह तुम्हारे काम की नही। अतएव अधिभौतिक कार्यो के साथ आध्यात्मिक कार्य भी अवश्य करने चाहिए।

कहने का आशय यह है कि परमात्मा की शरण मे जाने के लिए सग का त्याग करो। विषय–सुख के सग से क्रोध उत्पन्न होने पर हित–अहित का भान नही रहता। सुना है मेवाड मे एक पुरुष क्रोध के आवेश मे आकर अपनी पत्नी को निर्दयतापूर्वक मारने लगा। यह देखकर उसकी लडकी चिल्लाने

लगी —'मेरे पिता, मा को मार रहे हैं। कोई दोडो, बचाओ!' लडकी की यह चिल्लाहट सुनकर पिता ने उसके दोनो पैर पकडे ओर उसे पत्थर पर पछाड दी। नतीजा यह हुआ कि बेचारी लडकी तत्काल मर गई। लडकी को मार डालने के बाद उसने पत्नी के भी प्राण ले लिए और अन्त मे आत्मघात करके वह स्वय भी मर गया। क्रोध का परिणाम कितना भयकर होता है, यह बात इसी उदाहरण से समझी जा सकती हे। अतएव क्रोध से बचने के लिए सग का त्याग करना चाहिए। विषय लालसा का सग होगा तो क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रोध से सम्मोह उत्पन्न होता है ओर समोह से स्मृति भ्रष्ट होती जाती है। स्मृतिभ्रश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से आप स्वय नष्ट हो जाता है, अर्थात् नीच गति को प्राप्त होता है। इसलिए अपने पूर्वजो के उच्च आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर अपने जीवन को भी आदर्श के अनुसार उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरो की बातो मे फस कर अपने पूर्वजो को धिक्कारो मत। उनके महान् आदर्श को सन्मुख रखो ओर जीवन को उच्च बनाओ। इसी प्रयत्न मे कल्याण है।

तुम लोग धार्मिक होने के कारण कदाचित् गौराग गुरुओ के प्रभाव से बच सके होगे। परन्तु इस बात का तो खयाल रखते हो कि तुम्हारी सतान पर उनका कैसा प्रभाव पड रहा है? कही ऐसा तो नही कि बकरा निकालने गये और ऊट घुस पडा? तुम्हारी सतान सुधार के नाम पर कुधार तो नही करती? अगर तुम्हारी सतान आधिभौतिक मार्ग की ओर झुक गई हो तो उसे अध्यात्म की ओर मोडना तुम्हारा कर्तव्य हे।

कहा जा सकता हे कि आजकल की सतति को आध्यात्मिक बात समझाना कठिन है। इस सम्बन्ध मे यही कहना हे कि बालक जब कुनाइन या कोई कडवी दवा नही खाता तो माता कडवी दवा के साथ कोई मीठी चीज खाने को देती है। माता का उद्देश्य मीठी चीज देने का नही होता, वरन् कुनाइन या कडवी दवा देने का ओर रोग मिटाने का होता हे। इसी प्रकार तुम लोग भी सतानो मे आध्यात्मिक भाव भरने का उद्देश्य रखो। अगर सीधी तरह आध्यात्मिक भाव नही भरा जा सकता तो आध्यत्मिक भाव रूपी कुनाइन को आधिभौतिक रूपी मीठी चीजो के साथ दो। अगर तुम आध्यात्मिक मार्ग की ओर मुडोगे ओर तुम्हारी सन्तान आधिभौतिकता की आर अग्रसर होगी तो दोनो के बीच खीचातान होने की सम्भावना रहेगी। अतएव मतभेद ओर खीचातान पेदा न होने देने के लिए मध्यम मार्ग खोज निकालना चाहिए।

तुम कह सकते हो —हम ऐसा साहित्य कहा से लाये, जिससे हमारा सतानो— युवको के साथ किसी प्रकार का मतभेद न हो। इस प्रश्न के समाधान के लिए वृद्धो और युवको को अपने—अपने भीतर समान रूप से आध्यात्मिक सस्कार उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो निश्चय है कि वृद्धो का काम युवको के सहयोग के बिना और युवको का काम वृद्धो के सहयोग बिना नही चल सकता। ऐसी स्थिति मे वृद्धो और युवको, दोनो का कार्य बराबर चल सके— ऐसा मध्यम मार्ग खोज निकालना आवश्यक है। इस दिशा मे जितना प्रयत्न किया जाये उतना ही लाभदायक है। अगर तुम मे सब के सहयोग से कार्य करने की भावना होगी तो तुम्हारा आत्मा इस विषय मे कोई मार्ग अवश्य ही बता देगा। आत्मा मे सब प्रकार की शक्तिया विद्यमान हैं, आवश्यकता है भावना की। आत्मा की शक्ति कम नही है। आत्मा मे सिद्ध भगवान् जितनी शक्ति मौजूद है। कहा भी है—

**सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।**
**कर्म—मैल का अन्तरा, बूझे विरला कोय।।**
**जीव कर्म भिन्न—भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।**
**ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज ध्यान लगाय।।**

कच्चे सोने मे और पक्के (शुद्ध) सोने मे जितना अन्तर होता है, उतना ही अन्तर जीव ओर शिव मे है। यद्यपि दोनो सोने हैं, फिर भी अगर कोई पुरुष शुद्ध सोने को ही सोना माने और कच्चे सोने को सोना न माने तो यह उसकी भूल है। शुद्ध सोने के लिए जो क्रिया की गई है, वह क्रिया अगर कच्चे सोने को शुद्ध करने के लिए की जाये, तो मिट्टी मिला हुआ सोना भी शुद्ध सोने के समान ही हो जाएगा। बचपन मे एक धूलधोया के लडके के साथ मेरी मित्रता थी। मै कई बार उसके घर जाता था। उसके घर जाने से मुझे मालूम हुआ कि धूल मे सिर्फ सोना ही नही निकलता, सोने के अतिरिक्त और धातुए भी निकलती हैं। वे लोग अपनी वशपरम्परागत क्रिया द्वारा उन धातुओ को अलग—अलग कर डालते है। इसी प्रकार जीव आज कर्मबधन से बद्ध है। परन्तु उसे अगर कर्मरहित बना लिया जाये तो जीव मे और शिव अर्थात् सिद्ध मे कुछ भी अन्तर नही रहता। अतएव सिद्धो का स्वरूप समझ कर अपना स्वरूप पहचानो और सिद्ध बनने का प्रयत्न करो। इस सम्बन्ध मे एक महात्मा ने कहा है —

अजकुलगत केसरी लहे रे, निजपद सिंह निहार,
तिम प्रभु भकते भवी लहेरे आत्मस्वरूप समार,
अजित जिन तारजो रे।।

इस पद मे एक दृष्टान्त देकर बतलाया गया है कि आत्मा किस प्रकार अपना स्वरूप भूल गया है और किस प्रकार अपने स्वरूप को जान सकता है। इस दृष्टान्त मे कहा है– एक सिहनी बच्चे को जन्म देते ही मर गई। बच्चा छोटा और निराश्रित था। जगल मे चरता–चरता वह भेडो के झुड मे मिल गया। बच्चा किसी का क्यो न हो, मगर सभी उसे प्यार करते है, क्योकि बालक निर्दोष होता है। सिह का वह बच्चा भी भेडो को प्रिय लगने लगा। भेडो का मालिक सोचने लगा कि भेडो के साथ सिह का बच्चा रहे तो अच्छा ही है। यह सोच कर वह बच्चे को दूध पिलाने लगा। शेर का बच्चा भेडो के ससर्ग से अपने–आप को भेड ही समझने लगा। वह भेडो के समान ही रहने लगा और वैसी ही चेष्टाए करने लगा। किसी समय शेर की गर्जना सुन पडती तो वह बच्चा भी भयभीत होकर भेडो के साथ भागता। हालाकि सिह का बच्चा स्वय गर्जना करने वाला और भेडो को भगाने वाला था, लेकिन अपना स्वरूप भूल जाने के कारण ही वह भेडो की तरह भयभीत होकर भागता फिरता था।

एक दिन भेडो के झुड के साथ वह बच्चा जगल मे गया था। वहा सिह ने गर्जना की। सिह की गर्जना सुनकर सब भेडे भागी। सिह का बच्चा भी साथ ही भागा। भागते–भागते उसने विचार किया– जिस सिह का इतना बहुत डर लगता है, देखे तो सही वह सिह कैसा है? इस प्रकार विचार कर वह थोडी देर रुका। उसने सिह की ओर देखा और फिर भेडो के साथ भागने लगा, परन्तु सिह का स्वरूप उसके हृदय मे अकित हो गया। वह सोचने लगा–सिह कितना जबरदस्त है! उसका मुख कितना विकराल और उसकी जीभ कैसी लाल है तथा उसकी गर्जना कितनी भयकर है! ऐसे भयानक सिह से डरना स्वाभाविक है।

किसी दूसरे दिन वह शेर का बच्चा भेडो के साथ नदी मे पानी पीने गया। बकरी और भेड पानी गन्दा करके नही पीती, उन्हे धीरे–से निर्मल पानी पीना सुहाता है। भेडो के साथ शेर का बच्चा भी पानी पीने लगा। पानी पीते समय उसका प्रतिबिम्ब पानी मे पडा। अपना प्रतिबिम्ब देखकर वह सोचने लगा– मेरा स्वरूप तो कुछ निराला ही है। मै इन भेडो जैसा नही हू। मेरी आकृति भी इन सरीखी नही है। मेरी आकृति तो उस दिन के सिह से मिलती–जुलती है। मेरा मुख भी वैसा ही है और शरीर भी वैसा ही है। मगर देखू, जीभ भी वैसी ही है या नही? उसने अपनी जीभ निकाल कर देखी तो वह भी उस सिह सरीखी दिखाई दी। सिह का बच्चा सोचने लगा– मेरा मुह

मेरा शरीर, मेरी जीभ, मेरी आकृति और मेरी पूछ वगैरह सब उस शेर के समान हैं। मगर देखना चाहिए कि मेरी आवाज भी शेर सरीखी है या नही? यह सोचकर बच्चे ने गर्जना की। गर्जना सुनते ही भेडे भयभीत होकर भागी। भेड चराने वाला भी भय के मारे भाग खडा हुआ। सब के भाग जाने से सिह के बच्चे को विश्वास हो गया कि मैं सिह ही हू, भेड नही हू।

अब इस शेर के बच्चे को भेडो की टोली मे रखा जाये तो क्या वह रहना पसन्द करेगा? नही।

भक्त कहता है जैसे सिह का बच्चा भ्रम से भेड के समान बन गया था, किन्तु सिह को देखकर वह अपने स्वरूप को पहचान सका, इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रम के कारण भेड के समान बन गया है। अगर आत्मा स्थिर होकर परमात्मा का ध्यान धरे तो अपने स्वरूप को पहचान सकता है और परमात्मा के समान बन सकता है। परमात्मा का ध्यान करने के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाये और यह विचार किया जाये कि मै कौन हू? कहा से आया हूं? कहा जाने वाला हू? मैं देह नही, देही हू। मैं कान नही, वरन् कान से काम लेने वाला हू, इत्यादि, तो आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है और आत्मज्ञान होने से परमात्मा को पहचाना जा सकता है। आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न करो तो सिद्धगति प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारे जो बाल बचपन मे काले थे, वे सफेद होकर सूचना दे रहे हैं कि हम तो अपनी गति प्राप्त कर रहे हैं, तुम अपनी गति क्यो नही प्राप्त करते? इस उपदेश का अर्थ यह नही कि तुम अपना शरीर नष्ट कर डालो। इसका अर्थ यह है कि आत्मा और शरीर को अलग–अलग समझो और यह मानो कि मैं शरीर नही, शरीर मे रहने वाला आत्मा हू। इस प्रकार देही होने पर भी तुम देह के प्रतिबन्ध मे पडे हो। इस प्रतिबन्ध को दूर किये बिना आत्मा सिद्धगति प्राप्त नही कर सकता। अतएव प्रतिबन्ध दूर करने के लिए तथा आत्मा को अप्रतिबद्ध बनाने के लिए एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करो। एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वय परमात्मा बन जाएगा। आत्मा का वास्तविक कल्याण अपना स्वरूप समझने मे ओर परमात्मदशा प्राप्त करने मे ही है।



# इकतीसवां बोल

## विविक्त शयनासन

तीसवे बोल मे अप्रतिबद्धता पर विचार किया गया है। जो पुरुष अप्रतिबद्ध होता है या होना चाहता है, वह स्त्री, पशु ओर नपुसक वाले स्थान मे शयन–आसन नही करता। अतएव गोतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं कि विविक्त शयनासन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता हे ?

### मूलपाठ

**प्रश्न– विवित्त सयणासणसेवणयाएण्णं भंते जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– विवित्त सयणासणसेवणयाए णं चारित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारेदृढ़चरिते एगन्तरए मोक्खभाव पडिवण्णे अट्ठविहकम्मगठिं निज्जरेइ।। 31।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! एकान्त शयन और आसन के सेवन से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– गौतम! विविक्त शयनासन से अर्थात् स्त्री आदि के ससर्ग रहित शयन ओर आसन का सेवन करने से चारित्र की रक्षा होती हे। चारित्रशील बनने से जीव आहार सम्बन्धी आसक्ति त्याग कर चारित्र मे दृढ होता हे। इस प्रकार एकान्तप्रिय ओर मोक्ष–भाव को प्राप्त जीवात्मा आठा प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त होता हे।

### व्याख्यान

सूत्रपाठ के सम्बन्ध मे विचार करने से पहले विविक्त शयनासन क अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए।

विवक्त शब्द का अर्थ है– रहित अथवा एकान्त। साधु हो तो स्त्री, पशु और नपुसक से रहित और यदि साध्वी हो तो पुरुष, पशु आदि से रहित शयन, आसन और उपलक्षण से स्थान का सेवन करना चाहिए।

शास्त्र मे मुख्य रूप से पुरुषो को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है, और इसी कारण सूत्रपाठ मे साधु को स्त्री, पशु और नपुसक वाले शयन, आसन तथा स्थान का सेवन न करने के लिए कहा गया है। स्त्री, पुरुष और नपुसक वाले शयन, आसन और स्थान मे साधु के ब्रह्मचर्य की भलीभाति रक्षा नही हो सकती।

साधु को किस उद्देश्य से विविक्त शयन–आसन का सेवन करना चाहिए? क्या साधु को स्त्री, पशु और नपुसक के साथ किसी किस्म का द्वेष है, अथवा किसी प्रकार की अरुचि है? अगर अरुचि के कारण ही साधु विवक्त शयन–आसन का सेवन करते हो तो अनेक गृहस्थ भी ऐसे है जो क्लेश उत्पन्न होने के कारण स्त्री का मुह देखना भी पसद नही करते। उदाहरणार्थ, सती अजना पर पवनकुमार क्रुद्ध हो गये थे अतएव वह अजना का नाम सुनना नही चाहते थे। इतना ही नही, जिस द्वार मे से अजना उनका दर्शन करती थी, वह द्वार भी उन्होने बन्द करवा दिया था। क्या इस प्रकार के बरता को विविक्त शयनासन कहा जा सकता है? यदि नही, तो विविक्त शयनाशन किसे कहना चाहिए? जब साधुओ को किसी भी प्राणी पर द्वेष नही है, सब जीवो के प्रति समभाव हे और वे स्त्री, पशु और नपुसक आदि को आत्मतुल्य गिनते है, तो विवक्त शयनासन का यहा क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुओ को एकान्त मे रहना चाहिए, क्योकि सब लोगो का चरित्र सरीखा नही होता। अगर साधुओ के लिए एकान्त मे रहने का नियम न हो और वे स्त्री, पशु और नपुसक वाले स्थान मे रहने लगे तो ब्रह्मचर्य का घात होने की सम्भावना हे। हालाकि विजय सेठ और विजया सेठानी एक ही जगह शयन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु यह एक अपवाद है। सभी लोग ऐसे नही हो सकते अतएव ब्रह्मचर्य सम्बन्धी जो मर्यादा बाधी गई है, उसका पालन करना उचित और आवश्यक हे क्योकि –

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जना ।**

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हे दूसरे लोग वैसा ही आचरण करते है।

अतएव विजय सेठ और विजया सेठानी के समान शक्ति होने पर भी मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। मर्यादा का पालन न करने से अन्य लोगो को हानि होने की सभावना रहती है। क्योकि जिनमे ऐसी शक्ति नही होती, वे भी इस प्रकार के उदाहरण की आड मे ऐसा काम करने लगते हैं और अन्त मे पतित हो जाते है। सभी पृथ्वी के सहारे टिके हैं। आसन आदि होने पर भी आधार तो पृथ्वी का ही है। परन्तु कोई महात्मा अगर अपने लब्धिबल से पृथ्वी का सहारा लिये बिना ही स्थिर रह सकता हो तो उसे अपवाद कहना चाहिए। मगर इस अपवाद का अनुकरण करने वाले दूसरे लोग भी यदि पृथ्वी का सहारा लिए बिना स्थिर रहने का प्रयत्न करे तो वे नीचे गिर जाएगे। इसी प्रकार कोई सयमी मनुष्य, स्त्री के साथ रहता हुआ भी सयम का पालन करता है, मगर यह अपवाद है ओर वह सभी के लिए उत्सर्ग मार्ग नही बन सकता। अतएव जहा स्त्री, पशु या नपुसक का वास हो, वहा नही रहने का नियम सभी के लिए बना दिया गया है।

शास्त्र मे जो उपदेश दिया गया है वह जगद्‌गुरु का दिया हुआ उपदेश है। जगद्‌गुरु किसी व्यक्ति–विशेष को ही लक्ष्य करके उपदेश नही देते, वरन् जनसमाज को दृष्टि मे रख कर उपदेश देते है। इसलिए यह कहा गया है कि साधु को विविक्त शयनासन का सेवन करना चाहिए।

यह तो हुई विविक्त शयनासन के सेवन की बात। परन्तु विविक्त शयनासन के सेवन से क्या लाभ होता है? इस विषय मे कहा गया है कि विविक्त शयनासन के सेवन से चारित्र की गुप्तिरक्षा होती है।

यह उपदेश ब्रह्मचर्य को दृष्टि मे रखकर ही दिया गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त मे रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान मे नही रहना चाहिए, जहा स्त्री, पशु या नपुसक रहते हो। यही नही, ब्रह्मचारी को विकार उत्पन्न करने वाला आहार भी नही लेना चाहिए। जिस आहार के सेवन से विकार पेदा होता ह, वह विकृत आहार कहलाता हे। घी, दूध, तेल वगैरह वस्तुए विकृत आहार कहलाते हे, अत उन्हे 'विगय' कहते ह। शास्त्र मे विगय वस्तुओ के त्याग का खास तोर पर उपदेश दिया गया। निशीथसूत्र मे कहा हे –

**'जे भिक्खू आयरिय उवज्झाय अदिण्णविगय आहार त वा साहिज्जइ।**

अर्थात् अगर किसी साधु को विगय अर्थात् विकृत वस्तु लेन की आवश्यकता हो तो उसे आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा लेकर ही विकृति

का आहार करना चाहिए। अगर कोई साधु आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा लिए बिना ही विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थ स्वय खाता है या दूसरो को खिलाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है, तो वह साधु दण्ड का पात्र है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तथा स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए जीभ पर अकुश रखने की बडी आवश्यकता है। जीभ पर अकुश न रखने से अनेक प्रकार की हानिया होती हैं। जीभ पर अकुश रखने वाले मनुष्य को शायद ही कभी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की आवश्यकता पडती है।

लोगो से पूछा जाए तो वे यही कहेगे कि हम जीने के लिए खाते है। अगर उनकी परीक्षा की जाये तो जीने के लिए खानेवाले बहुत कम निकलेगे। अगर तुम जीने के लिए ही खाते हो तो क्या भोजन करते समय अपने डाक्टर बनकर क्या इस बात का विवेक रखते हो कि कौन–सी वस्तु भक्ष्य और कौन–सी अभक्ष्य है? किससे स्वास्थ्य का सुधार और किससे स्वास्थ्य का नाश होता है? अगर तुम भोजन के विषय मे यह विवेक नही रखते तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि तुम जीने के लिए खाते हो? सचमुच ही अगर तुम जीने के लिए खाते हो तो स्वास्थ्य को हानि पहुचाने वाली और जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुए कैसे खा सकते हो? जैसे कोई भी मनुष्य अपरिचित पुरुष को अपने घर मे सहसा स्थान नही देता, उसी प्रकार जिस वस्तु के गुण–दोष का तुम्हे पता नही है, उसे अपने पेट मे स्थान नही दे सकते। अगर तुम अपने पेट मे अनजान चीज ठूस लेते हो तो तुम्हारे पेट को भोजन पेटी (Dinner-Box) के सिवाय और क्या कहा जा सकता है?

एक विद्वान् का कथन है कि ससार मे खा–खा कर जितने लोग मरते है भूख से उतने नही मरते। लोग कठ तक ठूस–ठूस कर खाते हैं और फिर डाक्टर की सेवा मे जाते है। इस प्रकार ज्यो–ज्यो डाक्टर बढते जाते हैं त्यो–त्यो रोग बढते जाते है। डाक्टरो के बढने से रोगो की सख्या घटी नही है। इतनी–सी चीज खाने से क्या हुआ जाता है? अगर कुछ हो भी गया तो डाक्टर की दवा लेगे। ऐसा विचार कर लोग अधिक खा जाते है और फिर बीमार पडते है। यह तो पडौसी के भरोसे अपना घर खुला रखने के समान है। आज तो प्राय ऐसा देखा या सुना जाता है कि जो मनुष्य जुदा–जुदा प्रकार की जितनी खाद्य चीजे खाता है वह उतना ही बडा आदमी कहलाता है। मगर शास्त्र कहता है कि जो जितना ज्यादा त्याग करता है, वह उतना ही बडा पुरुष है। शास्त्र मे आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है

कि बारह करोड स्वर्ण मोहरो का तथा चालीस हजार गायो का स्वामी होते हुए भी उसने परिमित द्रव्य खाने–पीने की ही मर्यादा बाधी थी। इसी प्रकार शास्त्र की दृष्टि से जो पुरुष खानपान मे जितना सयम रखता हे, वह उतना ही महान् गिना जाता है।

जीभ पर अकुश रखने मे स्वास्थ्य भी अच्छा रहता हे। तुम लोगो को जैसा और जितना खाना–पीना मिलता हे, वेसा और उतना किसानो को नहीं मिलता, फिर भी किसी समय तुम्हारी ओर किसान की कुश्ती हो तो कोन जीतेगा? यह तो स्वय तुम्हीं कहोगे कि किसान हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और बलवान् है।

इस प्रकार अधिक खाने से स्वास्थ्य सुधरता नही, बिगडता हे। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य की हानि होती हे ओर साथ ही चारित्र की भी हानि होती हे। इसलिए भगवान् ने कहा हे कि जिस वस्तु के खाने से विकार उत्पन्न होता हो, वह वस्तु साधु को नही खानी चाहिए। साधु को तो वही और उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर की रक्षा हो सकती हो। शरीर को बढाने के लिए अथवा स्वाद के लिए साधु को भोजन करना उचित नही हे।

कहा जा सकता हे कि स्वाद के लिए कोई चीज न खाना केसे सभव हो सकता हे? खट्टी या मीठी चीज खाने से खट्टा या मीठा स्वाद आये बिना नही रह सकता। इसके उत्तर मे कहा जा सकता हे कि, कल्पना करो, तुम्हे वेद्य ने शहद के साथ खाने के लिए कोई दवा दी? तुमने शहद के साथ दवा खाई। शहद तो अपना स्वाद देता ही हे, परन्तु तुमने शहद स्वाद के लिए खाया हे या दवा के लिए खाया हे। तुमने दवा का सेवन करने के लिए ही शहद खाया हे। इसी प्रकार साधुओ का भोजन करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को टिकाए रखना हे, स्वाद लेना नही।

तुम लोग खाने मे जितना आनन्द मानते हो, उससे अनन्त गुना आनन्द साधुजन सयम मे मानते हें। यही कारण हे कि वे खाने के लिए सयम नहीं गवाते। उनकी दृष्टि मे खाने–पीने की अपेक्षा सयम की कीमत अनकगुणी अधिक हे। साधुजन सयम आर चरित्रपालन मे सावधान रहते हैं ओर मुक्ति म आनन्द मानते हें।

मान लो, तुम्हारे पास मूल्यवान् हीरा हे। तुम्हे विश्वास ह कि इस हीरे की कीमत से तुम अपने सब सकट मिटा सकते हो। ऐसी दशा म क्या तुम वह हीरा एक मुट्ठी चने मे बेच दोगे? नहीं। इसी प्रकार जिन मुनिया का

यह दृढ विश्वास हो गया है कि सयम समस्त सकटो से छुटकारा दिलाने वाला है और आठ कर्मों को नष्ट कर मुक्ति दिलाने वाला है, वे मुनि क्या खान–पान के लिए सयम का परित्याग कर सकते हैं? कदापि नही।

कहने का आशय यह है विविक्त शयनासन का सेवन करने से चरित्र की गुप्ति अर्थात् रक्षा होती है। चरित्र की रक्षा होने से आहार सम्बन्धी आसक्ति का नाश हो जाता है और चारित्रपालन मे दृढता आती है। इस प्रकार सग रहित शयन–आसन का सेवन करने वाला तथा मोक्ष–भाव को प्राप्त जीवात्मा आठो प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त होता है।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया है। वे कहते हैं– मैंने एक वक्ता से यह सुना है कि सासारिक कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैन शास्त्र कहता है कि कृत कर्मों का नाश नही होता। इन दोनो मे कौन–सी बात सही है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, वह उसी प्रकार भोगना पडता होता तो भगवान् यह क्यो कहते कि विविक्त शयनासन का सेवन करने वाला आठ कर्मों की गाठ तोड सकता है? किये हुए कर्मो का भोगना अनिवार्य होता तो इस कथन का क्या आशय है? इसके अतिरिक्त, अगर कर्मों की निर्जरा न हो सकती हो तो फिर तप किस लिए किया जाता? इससे कर्मों की निर्जरा होना सिद्ध होता है।

अब दूसरा प्रश्न यह खडा होता कि तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो फिर 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मो को बिना भोगे छुटकारा नही मिलता, यह क्यो कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि दोनो बाते सही हैं। मैंने एक कविता सुनी है–

**कर्मरेख नही मिटे, करो कोई लाखों चतुराई।**

इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जाता है कि कृतकर्म भोगने ही पडते है और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है। इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बाते सुनने से सदेह उत्पन्न होता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु यह विषय अगर भलीभाति समझ लिया जाए तो सशय का कोई स्थान नही रह जाता।

शास्त्र मे स्पर्शबन्ध, बद्धबन्ध, निधत्तबन्ध और निकाचितबन्ध के भेद से कर्मो का बध चार प्रकार का बतलाया गया है। पहला स्पर्शबन्ध सुइयो के ढेर के समान होता है। सुइयो का ढेर करने मे कुछ देर लगती है, पर बिखेरने मे देर नही लगती, क्योकि सुइयो का आपस मे स्पर्शमात्र हुआ है – बन्ध नही हुआ। दूसरा बद्धबन्ध है। बन्ध तो होता है, मगर निर्जरा होने मे देर

नही लगती। अर्थात् सुइयो के उस ढेर को डोरे से बाध दिया जाता हे, मगर वह डोरा सरलता से हटाया जा सकता है, और सुइयो का ढेर फिर जल्दी से बिखर जाता है। इस प्रकार का बन्ध बद्धबन्ध कहलाता है, तीसरा निधत्तबन्ध है। यह बन्ध कुछ मजबूत होता है। जैसे उसी सुइयो के ढेर को लोहे के तार से मजबूत बाध दिया जाए। ऐसा करने पर सुइया उस ढेर से निकल सकती हैं और लाहे का तार भी टूट सकता है अलबत्ता लोहे का तार टूटने मे कुछ कठिनाई अवश्य होती है। चौथा निकाचितबन्ध है। यह बन्ध बहुत गाढा होता है। जैसे सुइयो का ढेर आग मे तपा लिया जावे और घन से पीट–पीट कर उन्हे एकमेव कर दिया जाये। इस प्रकार कर्म का बध चार प्रकार का है। इनमे से तीन प्रकार से बधे हुए कर्मो की पूर्णत निर्जरा होती है। निकाचित कर्म की निर्जरा तो होती है, किन्तु उसमे स्थिति और रसघात होता है। जैसे पहले जमाने मे सुई बनाने मे विलम्ब लगता था, मगर अब विज्ञान की वृद्धि हो जाने के कारण विलम्ब नही लगता। इसी प्रकार निकाचित कर्म भोगने तो पडते हैं, मगर थोडे समय मे उनका भोग हो जाता है। निकाचित कर्म स्थिति और रस से तो कम किये जा सकते है। परन्तु प्रकृति और प्रदेश से कम नही हो सकते। इस प्रकार कर्मो की निर्जरा का होना भी सत्य है और भोग बिना छुटकारा न होना भी सत्य है। शास्त्र का कथन सापेक्ष है और सापेक्ष दृष्टि से दोनो बाते सत्य हे।

कर्म भोगने पडते है।, यह सुनकर किसी को घबराने की जरूरत नही है। कर्मो को भोगना अर्थात् पाप का नाश करना। अतएव कर्मो को भोग कर पाप से मुक्त होने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। हा, ऐसा नही होना चाहिए कि पहले तो पापकारी प्रवृत्ति की जाये और फिर उसका प्रायश्चित किया जाये। यह तो वैसी चेष्टा हे कि पहले तो चोर को घर मे जानबूझ कर घुसने दिया जाये और फिर बाहर निकालने का प्रयास किया जाये। जानबूझ कर अपने घर मे चोर को घुसने देना मूर्खता हे। लोग घर मे चोर न घुसने देने के लिए सावधानी रखते हे। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ऐसी सावधानी रखनी पडती हे कि पापकार्य न होने पावे। सावधानी रखने पर भी अगर पापकार्य हो जाये तो उसका प्रायश्चित्त करके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि भविष्य मे फिर पापकार्य न हो। इस विषय मे तुमसे ओर कुछ न वन सके तो जब माथे पर दु ख आ पडे तो कम से कम इतना अवश्य मानो कि जो–कुछ होता हे, भले के लिए ही होता हे।

कहने का आशय यह है कि जो दुःख होने वाला है। वह तो होगा ही, परन्तु उस दुःख के समय जो-कुछ होता है सो भले के लिए ही होता है, ऐसा समझकर दुःख मे भी सुख मानो। इस प्रकार दुःख के समय सुख समझने से आठो कर्मो की गाठ ढीली होती है। दुःख भोगते समय हाय-तोबा मचाने से अधिक दुःख होता है। अतएव दुःख भोगते समय घबराना उचित नही है। चित्त को प्रसन्न रखकर परमात्मा की शरण ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण अवश्य हो सकता है।



# बत्तीसवां बोल

## विनिवर्तना

विविक्त शयन और आसन का सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम विषय-वासना से विमुख होना चाहिए। अत गोतम स्वामी भगवान् से विनिवर्तना के विषय मे प्रश्न करते हैं।

### मूलपाठ

**प्रश्न– विणियट्टणयाए ण भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– विणियट्टणयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ पुव्व बद्धाणं य णिज्जरणयाए पावं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरत ससारकतार वीइवयइ।।32।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! विनिवर्तन से अर्थात् विषय सम्बन्धी विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– हे गोतम! विनिवर्तन से नवीन पापकर्म नही होते ओर पहले के बधे हुए टल जाते हैं, तत्पश्चात् जीव चारगति रूप ससार-अटवी को लाघ जाता हे।

### व्याख्यान

विषय-वासना से विमुख होना विनिवर्तना कहलाता हे। जो पुरुप विविक्त शयन ओर आसन का सेवन करता हे, वह विषय-वासना से अवश्य पराङ्मुख हो जाता हे। क्योकि विविक्त शयनासन का सेवन करने से चरित्र की रक्षा होती हे ओर जो चारित्र की रक्षा करना चाहता हे, वह विषय-वासना से पराङ्मुख होता ही हे। इस प्रकार जो आत्मा विषयो की ओर दोडा जा रहा हे, उसे उस ओर से रोक देना ही विनिवर्तन कहलाता ह।

जैसे पानी स्वभावत नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार पूर्वसस्कारो के कारण आत्मा विषयो की ओर दौडता है। आत्मा को विषयो की ओर जाने से रोकना ही यहा विनिवर्तना का अर्थ है। इस विनिवर्तन से अर्थात् विषय विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है? गौतम स्वामी ने भगवान् से यही प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि विषयो से विरक्त होने वाला मनुष्य पापकर्मो मे प्रवृत्त नही होता। विनिवर्तन करने वाला हमेशा इस बात की सावधानी रखता है कि मुझसे कभी कोई पापकर्म न हो जाये। वह पहले के पापकर्मो की निर्जरा करने का भी प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह पापकर्मो से निवृत्त होकर निष्पाप बनता है और निष्पाप होने से जीव, मनुष्य, तिर्यच, देव तथा नरक इन चार गति रूप ससार–अटवी को पार कर जाता है। यह मूल सूत्र का अर्थ हुआ। अब इस पाठ के सम्बन्ध मे यहा विशेष विचार किया जाता है।

ससारी जीव विषयो की ओर दौडता रहता है। साधारण कीडे भी विषयो की तरफ दौडते हैं, तो मनुष्य, जिसका इतना अधिक ज्ञान–विकास हो चुका है विषयो की ओर दौडे तो आश्चर्य ही क्या है? यह बात अलग है कि शास्त्र–श्रवण या पठनपाठन करते समय थोडी देर के लिए मनुष्य की मति ठीक रहती है, परन्तु ससार के अधिकाश मनुष्यो की मति विषयो की तरफ ही बनी रहती है। महान् त्यागियो का मन भी क्षण–भर मे विषयो की ओर आकर्षित हो सकता है। इस प्रकार के विषयो की ओर से जो विमुख रहता है वह महान् विजेता है। दुस्तर नदी को पार करना कठिन है, तो फिर विषय–वासना रूपी नदी को पार करना तो बहुत कठिन है। अगर कोई मनुष्य पूर आई नदी को पार कर जाये तो वह कितना बडा तैराक कहलाएगा ?

इस विषय मे महाभारत मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है। एक बार श्रीकृष्ण अमरकका नगरी के राजा पद्मनाभ को जीत कर लौट रहे थे। पाण्डव भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवो से कहा कि तुम लोग आगे चलो, मै पीछे आता हू। पाण्डव आगे–आगे चलने लगे। रास्ते मे उन्होने देखा कि गगा नदी मे तेज पूर आ रहा है। उन्होने नाव पर चढकर गगा नदी पार की ओर परले पार पहुच गए। उसके बाद उन्होने विचार किया, जिन्होने पद्मनाभ राजा को हराया है वे श्रीकृष्ण महाराज कैसे पराक्रमी हैं और वे गगा को किस प्रकार पार करते है आज इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होने नाव छिपा दी। विनाशकाले विपरीत बुद्धि '। इस कहावत के अनुसार पाण्डवो को उलटी बुद्धि सूझी।

पीछे से श्रीकृष्ण गगा नदी के किनारे आये। उन्होने देखा, गगा मे खूब जोरदार पूर आया है। गगा को पार करने का और कोई उपाय नजर नही आता। ऐसी दुस्तर गगा नदी को पाण्डव किस प्रकार पार कर गये! और जब वे गगा नदी को पार कर गए तो पद्मनाभ से केसे हार गए? इस दुस्तर महानदी को पार कर जाने वाला व्यक्ति पद्मनाभ से पराजित हो जाये, यह सम्भव नही है। इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने एक हाथ मे रथ लिया और दूसरे हाथ से नदी का पानी काटते हुए गगा पार करने लगे। नदी मे तैरते-तैरते बीच मे उन्हे कुछ थकावट हुई। उस समय गगा देवी ने प्रकट होकर उनके विश्राम के लिए स्थान बना दिया और श्रीकृष्ण से कहा- 'अगर आप आज्ञा दे तो मैं आप के लिए मार्ग बना दू अथवा नौका आदि की व्यवस्था कर दू?' श्रीकृष्ण बोले- मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नही है। अगर मै नाव आदि की सहायता लेकर नदी पार करूगा तो इसमे क्या विशेषता रहेगी? अपने पुरुषार्थ से ही मुझे नदी पार करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण अपने पुरुषार्थ के द्वारा गगा नदी को पार करने मे समर्थ हुए। पाण्डव उन्हे प्रणाम करके कहने लगे- आप धन्य है जो अपने पुरुषार्थ के प्रताप से इस महानदी को पार करने मे समर्थ हो सके।

श्रीकृष्ण ने उत्तर मे कहा- इसमे आश्चर्य की क्या बात हे? जब तुम लोग ही गगा पार कर सके तो मेरे पार करने मै आश्चर्य ही क्या हे?

पाण्डव बोले- हमने तो नौका से नदी पार की हे।

श्रीकृष्ण ने कहा- तो फिर मेरे लिए नोका क्यो नही भेजी ?

पाण्डव- अमरकका के राजा पद्मनाभ के विजेता मे कितना पराक्रम है, यह देखने के लिए नोका नही भेजी थी।

पाण्डवो का यह उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुए ओर कहने लगे- तुम्हारे भीतर इतनी बडी धृष्टता हे! जब तुम लोग पद्मनाभ से हार कर लोटे थे ओर मेने पद्मनाभ को हराया था, तब क्या तुमने मेरा पराक्रम नही देखा था? तुम लोग मेरे राज्य मे रहने योग्य नही हो, अतएव मेरे राज्य से निकल जाओ।

इस प्रकार कृष्ण को कुपित हुआ देख पाण्डवो को अत्यन्त पश्चाताप हुआ। माता कुन्ती आदि के प्रयत्न से श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि शान्त हुई।

कहने का आशय यह हे कि जिन्होने पूर आई नदी पार की उनमे कितना अधिक बल होगा? इसी प्रकार विषय-भोग की दुस्तर नदी को जो महापुरुष पार कर सके, वे कितने बडे वीर होगे?

यह तो विषय–सुख पर विजय प्राप्त करने की बात हुई। परन्तु यहा यह देखना है कि विषय–सुख से पराड्मुख होने का फल क्या है? विषय–सुखो की ओर चित्त आकृष्ट न होना ही विषय–सुखो से पराड्मुख होना कहलाता है। विषय–सुख से पराड्मुख होने का ढोग करना दूसरी बात है। किन्तु अगर सम्यक् प्रकार से कोई विषय–सुख से विमुख हो जाय तो विषयो के प्रति उसके चित्त का आकृष्ट न होना स्वाभाविक है। विषय–सुख से विमुख हुआ पुरुष अपने मे पापकर्मो का आगमन नही होने देता।

विषय–लालसा से ही प्रत्येक पाप की उत्पत्ति होती है। जिसमे विषय–लालसा नही होती, वह पापकर्म भी नही करता। अतएव विषय–वासना से हटना पापकर्मो से हटने के समान है। पाप से दूर होने वाले जीवात्मा दो प्रकार के होते है। एक सिद्ध होता है और दूसरा साधक होता है, अर्थात् एक तो वे हैं जो विषय–वासना से विमुख होकर पापरहित हो चुके है और दूसरे वे है, जो विषय–वासना से विमुख होकर पापरहित होने का प्रयत्न करते है। जो सिद्ध हो चुके हैं उनकी यहा चर्चा ही नही है, क्योकि सिद्ध के लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नही रहती। उपदेश तो साधक के लिए ही दिया जाता है। साधक को उन्मार्ग की ओर जाने से बचने के लिए उपदेश दिया जाता है। साधको को यहा उपदेश दिया गया है कि अगर तुम पाप से बचना चाहते हो तो विषय–वासना का त्याग करो।

पाप सबको बुरा लगता है। कोई मनुष्य पापी कहलाना पसन्द नही करता। किसी को पापी कहा जाये तो वह नाराज हो जाता है। इस प्रकार कोई पापी नही बनना चाहता। परन्तु शास्त्र का कथन है कि वास्तव मे पापी न बनना हो तो विषय–वासना का त्याग करो। जो पुरुष विषय–वासना का त्याग न करके भी अपने को निष्पाप कहलवाना चाहता है, वह चोरी करता है। भीतर और कुछ रखना और बाहर और कुछ दिखलाना, यह चोरी है। इस प्रकार की चोरी न करते हुए विषय–वासना से विमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए।

पाप मुख्यरूप से अठारह प्रकार के है। ये सब पाप विषय–वासना से ही उत्पन्न होते है। उदाहरणार्थ हिसा का पाप वही व्यक्ति करता है, जिसमे विषय–लालसा होती है। प्राणियो के प्राणो को नष्ट करना हिसा है। परन्तु इस क्रिया को हिसा के अन्तर्गत कब माना जा सकता है? इस सम्बन्ध मे कहा है –

**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिसा।**

अर्थात् प्रमाद से या विषय–पोषण के लिए किसी प्राणी के प्राणो को नष्ट करना हिसाजन्य पाप है। अगर जीव के मर जाने मात्र से हिसा को पाप मान लिया जाये तो तेरहवे गुणस्थान मे स्थित पुरुष के शरीर से भी जीव मरते हैं, अतएव उन्हे भी हिसा का पाप लगना चाहिए, क्योकि योगो की चपलता से जीवो को आघात पहुचना या उनकी मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है। देखना तो यह चाहिए कि जीव के प्राणघात मे हेतु क्या है? जो हिसा प्रमाद से या विषय–पोषण के उद्देश्य से की जाती है, वही हिसा पाप के अन्तर्गत कही जा सकती है।

कुछ लोगो को ऐसी शका होती है कि जब सम्पूर्ण आकाश जीवो से व्याप्त है और शरीर के द्वारा जीवो का मरण होना भी स्वाभाविक है, तो फिर पूर्ण अहिसक किस प्रकार हो सकते हैं? इस शका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवो का मर जाना स्वाभाविक है, परन्तु पहले यह देखना चाहिए कि उनका उद्देश्य क्या है? क्या उनका उद्देश्य जीवो को मारना है? वस्तुत हिसा वही है जो प्रमाद के योग से की जाती है या विषय–पोषण के लिए की जाती है। इसके अतिरिक्त जो हिसा होती है उसकी गणना पाप मे नही की जाती। उदाहरणार्थ, कोई मुनि यदि ईर्यासमिति–पूर्वक यतना से चल रहा हो, फिर भी कोई जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर मर जाये तो उसमे हिसा का पाप लगना नही माना जाता। इसके विपरीत अगर कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी उसे हिसा का पाप लगता है, क्योकि हिसा प्रमाद से होती है, अर्थात् प्रमाद हिसा है।

हिसा का पाप विषय–लोलुपता से ही होता है। इसी प्रकार असत्य आदि दूसरे पाप भी विषय–लोलुपता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इन पापा से बचने के लिए विनिवर्तना करने की, अर्थात् विषय–सुख से विमुख होने की आवश्यकता है। विषय–वासना से विमुख हो जाने वाला पापकर्मो मे प्रवृति नही करेगा।

पूर्ण सत्य तो केवल आदर्श रूप है। जो वस्तु जेसी हो, वह वेसी ही कही जाये, अर्थात् बोलने मे एक भी अक्षर का अन्तर न पडे, वह पूर्ण सत्य है। पूर्ण ज्ञानी ही पूर्ण सत्य कह सकते ह। प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी ही अगर पूर्ण सत्य बोल सकते ह तो दूसरे लोगो को केसा सत्य बोलना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते ह कि हृदय म विषय–भावना

या वास्तविकता के विरुद्ध बोलने का भाव न हो तो इस दशा मे जो—कुछ भी बोला जाता है, वह भी सत्य ही है। श्री आचाराग सूत्र मे कहा है—

**समय ति मन्नमाणे समया या असमया वा समया होई उवेहाए।**

अर्थात् मन मे समता हो, फिर मुख से कदाचित् विषम शब्द भी निकल जाये तो वह भी सत्य ही है, क्योकि बोलने वाले का आशय खराब नही है।

शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि खराब आशय और विषय—वासना रखे बिना जो—कुछ बोला जाता है, वह भी सत्य है। जो इस प्रकार सत्य वचन बोलता है और असत्य का त्याग करता है, वह किसी दिन पूर्ण सत्य को भी प्राप्त कर सकता है। जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार हमारे लिए पूर्ण सत्य तो कल्पना के समान प्रतीत होता है। किन्तु जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की लम्बाई—चौडाई न होने पर भी मानी जाती है— माननी पडती है, इसी प्रकार सत्य मे भी पूर्ण सत्य का आदर्श मानना आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि असत्य का पाप भी विषय—लालसा से ही उत्पन्न होता है।

तीसरा पाप चोरी का है। चोरी का पाप भी विषय—लोलुप मनुष्य ही करता है। जिसने विषय—वासना पर विजय प्राप्त करली है, वह चोरी नही करेगा। अर्थात् विषय—विजयी पुरुष चोरी का पाप नही करता। चोरी मे केवल दूसरो की चीजो को बिना अधिकार लेने का ही समावेश नही होता, परन्तु अपना या दूसरो का विकास रोकना भी चोरी ही है। तुम श्रावक हो, गृहस्थ हो, अतएव तुम पूरी तरह चोरी से निवृत्त नही हो सकते अतएव तुम्हे स्थूल चोरी से निवृत्त होने के लिए कहा गया है। अर्थात् तुम्हारे लिए ऐसी चोरी करने की मनाही की गई है जिससे राज्य या समाज के नियमो का उल्लघन होता हो, अथवा जिसे राज्य या समाज चोरी मानता हो। पूर्ण चोरी मे तो रास्ते मे पडे हुए एक छोटे—से तिनके को भी बिना पूछे लेने का समावेश हो जाता है। पर तुमने अगर रास्ते मे पडी हुई तिनके जेसी मामली वस्त ले ली हो तो तम्हे

समाजाज्ञा का भग नही होता, वह स्थूल चोरी नही हे ओर तुम्हे स्थूल चोरी त्यागने के लिए ही कहा गया हे। हा, यह बात दूसरी है कि राजा के बनाए हुए कानून योग्य हैं या नही, और उनका पालन करना उचित है या नहीं, परन्तु राजा के किसी अयोग्य कानून का अगर तुम छिपकर भी भग करते हो तो तुम्हारा यह कार्य स्थूल चोरी मे गिना जा सकता है। तुम्हे कोई कानून खराब और हानिकारक प्रतीत होता हो तो तुम उसे खराब कहकर सविनय कानूनभग की भाति उल्लघन कर सकते हो। अगर कानून बुरा न हो और छिपकर उसे भग करो तो यह कार्य स्थूल चोरी मे गिना जा सकता हे।

कदाचित् तुम कहोगे कि शास्त्र मे राजा के विरुद्ध कार्य करना निषिद्ध है, तो फिर राजा का कानून किस प्रकार भग किया जा सकता हे? इस का उत्तर यह है कि शास्त्र मे जो 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' कहा गया है, उसका अर्थ राजा के विरुद्ध काम न करना नही, वरन् राज्यविरुद्ध कार्य न करना है। राज्य का अर्थ सुव्यवस्था है। सुव्यवस्था को भग करने की मनाही की गई है। परन्तु राजा के खराब कायदे का भग करने की मनाही नही की गई। मानलो कि किसी राजा ने अपना भण्डार भरने के लिए यह कानून बनाया है कि प्रत्येक प्रजाजन को प्रतिदिन एक–एक प्याला शराब पीनी चाहिए, जिससे राज्य की आय मे वृद्धि हो। तो क्या राजा के इस आदेश का पालन किया जायेगा? ऐसे आदेश का विरोध करना धर्म हो जाता हे, परन्तु छिपकर किसी कानून को भग करना चोरी हे। अगर कोई कानून वास्तव मे बुरा है तो प्रकट रूप से उसे भग करना चाहिए, छिप कर नही। 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ हे सुव्यवस्था के विरुद्ध कोई काम न करना। इस शास्त्रकथन का यह अर्थ नही कि दुर्व्यवस्था के विरुद्ध भी कोई कार्य न किया जाये। जहा दुर्व्यवस्था हे, वहा राज्य नही हे, ऐसा समझना चाहिए। राजा अगर न्यायपूर्वक राज्य का सचालन करता हो तो उसके न्याय को शिरोधार्य करना ही चाहिए। अगर राजा अन्याय करता हो तो उस अन्याय को दूर करने के लिए नैतिक बल से उस का विरोध करना ही कर्तव्य हे।

आज लोगो मे नैतिक बल की कमी हे ओर जिनमे नैतिक बल की कमी होती हे, उनसे भलीभाति धर्म का पालन नही हो सकता। नैतिक बल होने पर ही धर्म का पालन हो सकता हे। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण दिया जाता हे।

जिस समय की बात कह रहा हू, उस समय भारत मे अगरजी राज्य फेल गया था। उस समय रामचन्द्र नामक एक सिख गुरु सत्य का उपदेश

देकर धर्म प्रचार कर रहा था। सत्य का पालन करो, बस यही उसके उपदेश का मूल मत्र था। अपने मन को न ठगना ही सत्य है, ऐसा वह अपने उपदेश मे कहता था। रामचन्द्र गुरु के इस उपदेश की जन–समाज पर अच्छी छाप पडी और बहुत–से लोगो ने सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली। सत्यपालन की प्रतिज्ञा लेने वालो मे कूका नामक एक जाट भी था। वह जाट भी रामचन्द्र का शिष्य बन गया और सत्य बोलने का अभ्यास करने लगा।

उन दिनो अम्बाला मे हिन्दुओ को सताने के लिए मुसलमानो ने गायो का कत्ल करना आरम्भ किया। मुसलमानो ने विचार किया– इस समय अगरेजो का राज्य है, इस कारण कोई किसी के धर्म मे विक्षेप नही कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपना–अपना धर्म पालने मे स्वतन्त्र हे। इस प्रकार विचार कर उन मुसलमानो ने गायो का एक जुलूस निकाला और उन्हे कत्ल करने के लिए नियत स्थान पर ले गए। हिन्दुओ ने ऐसा दुष्कृत्य न करने के लिए उन्हे बहुत समझाया, पर उन्होने एक न सुनी। तब कुछ हिन्दुओ ने विचार किया कि समझाने–बुझाने पर भी गायो को कत्ल करने वाले ये मुसलमान अपनी करतूत से बाज नही आते। ऐसी हालत मे रात्रि के समय इन्हे मार डालना चाहए। कूका जाट ने और दूसरे हिन्दुओ ने रात के समय उन पर हमला कर दिया और निद्रावस्था मे ही उन्हे मार डाला। यह समाचार जब रामचन्द गुरु के पास पहुचा तो उन्होने ऐसा कृत्य करने वालो की निन्दा की और ऐसा करना कायरता है यह घोषणा की। रात्रि के समय निद्रावस्था मे किसी को मार डालना वीरता नही कायरता ही है।

हिन्दू और मुसलमानो के बीच जो क्लेश हुआ सो कचहरी तक पहुचा। पुलिस ने कितने ही आदमियो की धरपकड की। मगर जो लोग पकडे गये थे उनमे बहुत–से निरपराध थे। सरकार को यह विश्वास हो गया था कि हिन्दुओ ने मुसलमान कसाइयो को मारा हे। इस विश्वास के कारण न्यायाधीश ने सभी पकडे जाने वालो को प्राणदण्ड की सजा दे डाली। जब रामचन्द गुरु के कानो तक यह बात पहुची तो उन्होने कहा– यह तो बहुत बुरा हुआ। बेचारे निदोष मनुष्य मारे जाएगे। जिन्होने मुसलमानो को मारा हे, वही लोग अगर अपना अपराध स्वीकार कर ले तो निर्दोष लोगो के प्राण बच सकते है। अपना अपराध स्वीकार कर लेना भी वीरता ही हे। रामचन्द्र गुरु का यह कथन कूका जाट ने सुना। कूका ने गुरु से कहा– आपने मुझे सत्य बोलने की शिक्षा और प्रतिज्ञा दी है। अगर कोई मुझ से पूछे तो मुझे सत्य ही बोलना चाहिए यह बात मै पसन्द करता हू। इसी कारण अपराधी होने पर

भी मैं कुछ कहता–बोलता नही हू। अब आप कहते हैं कि अपना अपराध स्वीकार करना भी सत्य और वीरता हे, तो में आपके समक्ष स्वीकार करता हू कि जो लोग पकडे गये हैं और जिन्हे मौत की सजा मिली हे, उन्होने कसाइयो की हत्या नही की। कसाइयो की हत्या मैंने और मेरे साथियो ने की हे। इस समय जो लोग पकडे गये हैं, वे बेचारे निर्दोष है।

कूका की बात सुनकर रामचन्द्र गुरु बोले– अगर वास्तव मे यही बात है और तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली हे तो तुम सरकार के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लो, निरपराध लोगो के प्राण बचाओ।

रामचन्द्र गुरु का कथन सुनकर कूका ने कहा– मै अपना अपराध तो स्वीकार कर लूगा। मगर अपने साथियो के नाम नही बताऊगा। क्योकि मेने उन्हे वचन दिया है कि अगर मैं पकडा गया तो भी उनके नाम नही बताऊगा। रामचन्द्र गुरु बोले 'तुम सरकार को यही उत्तर देना कि मैंने और मेरे साथियो ने यह दुष्कृत्य किया है, मगर मैं अपने साथियो के नाम बताने की स्थिति मे नही हू। हा, इतना अवश्य कह सकता हू कि इस समय जिन लोगो को अपराधी समझकर मौत की सजा बोली गई है, वे लोग निर्दोष हे।'

कूका ने गुरु से पूछा– तो क्या में स्वय ही सरकार के पास चला जाऊ? गुरु ने कहा– अगर तुममे सत्य बात को स्वीकार करने का साहस हे तो फिर सरकार के सामने अपना अपराध स्वीकार करने मे क्या बाधा हे?

कूका पुलिस–प्रधान के पास जा पहुचा। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। पुलिस के अनेक प्रलोभन देने पर भी उसने अपने साथियो के नाम प्रकट नही किये। पुलिस ने यहा तक कहा कि अगर तू अपने साथियो के नाम प्रकट करदे तो तू फासी की सजा से बच जाएगा। मगर कूका अपने निश्चय से विचलित नही हुआ। उसने कहा– आप मुझे फासी पर चढा सकते हैं, मगर मे अपने साथियो के नाम जाहिर नही कर सकता।

कहने का आशय यह हे कि कूका ने सत्य की प्रतिज्ञा पालने के लिए अपने प्राण दे दिये। यह तो ऐतिहासिक घटना हे। आर्हत दर्शन मे तो सत्य को ही प्रधान पद दिया गया हे। परन्तु तुम लोग जेन दर्शन के श्रद्धालु होते हुए भी, नेतिक बल के अभाव मे, दूसरो को बुरा न लगने देने के लिए भी असत्य बोलते हो! वास्तव मे वही सत्यभाषी हो सकता हे, जिसमे साहस विद्यमान हो। जिसमे साहस नही, वह सत्य नही बोल सकता। सत्यभाषण मे सदेव लाभ ही हे।

साराश यह है कि जिस व्यक्ति मे विषय–लालसा होती है, उसी के द्वारा हिसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म होते है। विषय–वासना से विमुख हो जाने पर पापकार्य नही होते। जो व्यक्ति विषय–लालसा का त्याग कर देगा, वह किसलिए पाप करेगा? अतएव पापकर्मो से बचने के लिए सर्वप्रथम विषय–लालसा पर विजय प्राप्त करो। विषय–लालसा को जीत कर मन को जितना अधिक पवित्र बनाओगे, तुम परमात्मा के उतने ही अधिक समीप पहुच जाओगे। कदाचित् पहले के कोई कर्म बचे होगे तो उनकी भी निर्जरा हो जाएगी। पापकर्मो को दूर करने के लिए, पापकर्मो की जड– विषय–लालसा का उच्छेद करने का प्रयत्न करो। अगर तुम विषय–वासना को जीत जाओगे और व्रतपालन मे दृढ रहोगे तो परमात्मा का साक्षात्कार होगा और आत्मा का कल्याण होगा। स्मरण रहे, पाप को छिपाने से पाप दूर नही होता। कदाचित् पाप हो जाये तो उसे छिपाओ मत। उसे हटाने का प्रयत्न करो। ससार के जाल मे से छूटने का यही मार्ग है।



# तेतीसवां बोल

## सभोगप्रत्याख्यान

विषय–सुख से पराड्मुख होना भी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठ प्रीति का एक उपाय है। जो लोग विषय–सुख से पराड्मुख हो जाते हैं, उनके भाव उच्च बनते है, उनकी परमात्मप्रीति दृढ होती हे और वे सभोग का त्याग करके स्वावलम्बी बनते हैं। अतएव गौतम स्वामी अब यह प्रश्न पूछते है। कि सभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

मूलपाठ

**प्रश्न– सभोग पच्चक्खाणेण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– सभोग पच्चक्खाणेण आलबणाइ खवेइ, णिरालबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवति। सएण लामेण सतुस्सइ, पर रस लाम नो आसाएइ, णो तक्केइ, नो पीहेइ, णो पत्थेइ, णो अभिलसइ, परस्स लाभ अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणाभिलसेमाणे दुच्च सुहसेज्ज उवसंपज्जित्ता ण विहरइ।। 33।।**

शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– हे गोतम! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव परावलम्बन का क्षय करता हे ओर उस स्वावलम्बी जीवात्मा के योग उत्तम अर्थ वाले हो जाते हे। वह आत्मलाभ से ही सतुष्ट रहता हे, पर के लाभ की आशा नहीं करता एव कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना अथवा अभिलाषा भी नही करता। इस प्रकार जीवात्मा अस्पृही–अनअभिलाषी बनकर उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता हे।

## व्याख्यान

सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीवो को होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सभोग का अर्थ क्या है?

जिस समान मिलन से अपना और दूसरो का कल्याण होता हो, उस समान मिलन को सभोग कहते हैं। इसके विपरीत जिस मिलन से स्व–पर का अकल्याण होता हो, वह विसभोग कहलाता है। मिलन चार प्रकार का है। श्रीस्थानागसूत्र मे मिलन को चौभगी बना कर कहा गया है –

(1) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभकारक होता है, किन्तु लम्बे समय के लिए हानिकारक होता है।

(2) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभप्रद होता है और थोडे समय के लिए हानिकारक होता है।

(3) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी लाभकारक होता और थोडे समय के लिए भी लाभकारक होता है।

(4) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी हानिकर होता है और थोडे समय के लिए भी हानिकर होता है।

यहा जो बात कही गई है, वह साधुओ से सम्बन्ध रखती है। साधुओ मे कोई सभोगी और कोई विसभोगी होता है। शास्त्र मे सभोगी और विसभोगी, दोनो प्रकार के साधु कहे गये हैं। कुछ लोगो का कहना है कि साधु होने के बाद साधुओ मे आपस मे भेद क्यो रखा जाता है? साधुओ को तो एक–रूप हो जाना चाहिए। उन्हे एक साथ ठहरना और एक साथ आहार करना चाहिए। ऐसे लोगो को समझना चाहिए कि यह कथन एकान्तत ठीक होता तो शास्त्र मे साधुओ के सभोगी और विसभोगी भेद न किये गये होते। शास्त्र मे कहा है कि किसी के साथ सभोग करने से गुण की वृद्धि होती हो तो वह सभोग रखना चाहिए, अन्यथा विसभोगी होकर रहना ही अच्छा है। अगर किसी के सभोग से अपने गुणो की हानि होती हो तो उस सभोगी को भी विसभोगी बना लेना चाहिए। साधुओ मे से कोई साधु अगर साधुता के मार्ग से हट गया हो तो उसे यही कहा जा सकता हे कि तुम साधुता का मार्ग अगीकार करो अन्यथा हम तुमसे विसभोगी बन जाएगे। जब शास्त्र मे इस प्रकार कहा गया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सब साधुओ को एक–रूप होकर ही रहना चाहिए।

मान लीजिए कोई आदमी अपनी थाली मे कन्दमूल लेकर भोजन कर रहा है और तुम कन्दमूल के त्यागी होने के कारण अलग थाली मे

भोजन करने बैठे हो। अब वह आदमी तुम से कहता है, 'मेरे साथ ही भोजन करने बैठो।' तुमने उत्तर दिया– 'मैं कन्दमूल का त्यागी हू अतएव तुम्हारे साथ एक ही थाली मे भोजन करने कैसे बैठ सकता हू? अगर तुम अपनी थाली मे से कन्दमूल हटा दो तो मैं तुम्हारे साथ जीमने बैठ सकता हू।' तब वह आदमी कहता है – 'मैं अपनी थाली मे से कन्दमूल नही हटा सकता?' ऐसी स्थिति मे तुम उसे क्या उत्तर दोगे? तुम यही कहोगे कि अगर तुम्हे ऐसा ही करना है तो हम लोग अलग–अलग ही जीमने बैठे, यही ठीक है। इस प्रकार जब तुम अलग जीमने बैठे तो वह कहता है– 'तुम अलग बैठकर आपस मे फूट फैलाते हो !' इस कथन का उत्तर यही दिया जा सकता है कि कुछ भी हो, केवल तुम्हे मनाने के लिए मैं अपने नियमो का उल्लघन नही कर सकता।

इस प्रकार यदि तुम भी अपने नियम का पालन करने के लिए असमान आहार–विहार करने वाले के साथ भोजन करने नही बैठ सकते, तो फिर साधुता के नियमो का ठीक तरह पालन न करने वाले साधुओ के साथ हम सभोग कैसे चालू रख सकते हैं? कोई मोती असली और कोई नकली होता है। तो क्या असली और नकली मोती को एक–सरीखा माना जा सकता है ? क्या असली और नकली मोती को एक ही हार मे पिरोया जाना उचित है ? अगर नही, तो फिर साधुओ के विषय मे भी यही समझ लेना चाहिए। निश्चय मे तो कौन मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु व्यवहार मे तो देखना ही पडता है कि अमुक साधु मे साधुता का गुण है या नही? जो साधु समानरूप से साधुता के नियमो का पालन करते हैं, उनके साथ तो सभोग व्यवहार चालू रह सकता है, परन्तु जो साधु साधुता के नियमो की अवहेलना करते हैं, उनके साथ सभोग–व्यवहार किस प्रकार चालू रह सकता है?

सभोग किसे कहना चाहिए, इस विषय मे टीकाकार कहते है कि एक मण्डल मे बैठकर साथ–साथ आहार करना सभोग कहलाता है। ऐसा करने से अपने गुणो का लाभ होता हो तो सभोग चालू रखना उचित है। अगर गुणो की हानि होती हो तो विसभोगी बनकर रहना ही अच्छा है। विसभाग का तो त्याग नही होता, परन्तु सभोग का ही त्याग होता है। अतएव यहा सभोग के त्याग करने का ही फल पूछा गया है। परन्तु यहा विशेष रूप से देखना यह है कि किस दशा मे सभोग का त्याग किया जा सकता है? इस विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि साधु जब भलीभाति पढ–लिखकर गीतार्थ

हो गया हो, तब वह जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी अन्य उच्च वृत्ति का धारक बन कर सभोग का त्याग कर सकता है, अन्यथा नही।

कतिपय एकलविहारी साधु शास्त्र मे वर्णित सभोग–त्याग का उल्लेख करके कहते हैं कि हमने भी शास्त्र के कथनानुसार सभोग का त्याग किया है और हम अकेले रहते हैं। परन्तु ऐसा कहने वाले एकलविहारी साधु शास्त्र के नाम पर धोखा देते हैं और अपना बचाव करते हैं। श्री स्थानागसूत्र मे स्पष्ट कहा है –

**अट्ठहि ठाणेहिं सपण्णे अणगारे अरही एगलविहारी पडिमं उवसपज्जिताण विहरित्तए।**

अर्थात् जिस साधु मे आठ गुण हो, वही साधु पडिमा धारण करके अकेला रह सकता है। परन्तु जिसमे ये आठ गुण न हो, वह अकेला नही रह सकता। इस पर से यह बात समझने योग्य है कि साधु कब और कैसी अवस्था मे अकेला रह सकता है? जिन गुणो की विद्यमानता मे सभोग का त्याग करना बतलाया गया है, वे गुण अपने मे न होने पर भी सभोग का त्याग करके अकेला रहना और फिर शास्त्र की आड मे अपना झूठा बचाव करना सर्वथा अनुचित है। एकलविहारी साधु शास्त्र का प्रमाण पेश करते है और शास्त्र का प्रमाण तुम्हे भी मान्य होना चाहिए। तुम भी श्रावक हो। शास्त्र मे कहा है–

**निग्गंथे पावयणे पुरओ काउं विहरति।**

साधु और श्रावक निर्ग्रथ प्रवचन को समक्ष रखकर विचरते हैं। अतएव तुम भी शास्त्र का अध्ययन करो और देखो कि किस अवस्था मे साधु अकेला रह सकता है। अगर तुम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करोगे तो कोई एकलविहारी साधु शास्त्र का नाम लेकर तुम्हे ठग नही सकता।

तात्पर्य यह है कि जो साधु गीतार्थ हो चुके हो, वही जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी उच्च वृत्ति का धारक बनने के लिए सभोग का त्याग कर सकता है और उग्र विहार कर सकता है। साधु जिनकल्पी हो, प्रतिमाधारी हो या किसी उच्च वृत्ति को धारण की इच्छा वाला हो, तो ही वह सभोग का त्याग कर सकता है। ऐसे उच्च साधु को ऐसे अवसर पर सभोग का त्याग क्यो करना पडता है यह बात उदाहरण द्वारा समझाता हू –

कल्पना करो एक मनुष्य ब्याज–बट्टे का धधा करता है। उसने अधिक लाभ की इच्छा से अपना धन्धा बन्द करके जवाहरात का व्यापार करने का विचार किया। ब्याज–बट्टे के धन्धे मे उसे लाभ तो होता था, परन्तु उत्कृष्ट लाभ प्राप्त करने के लिए उसे ब्याज का धन्धा बन्द करना आवश्यक

हो गया। इसी प्रकार जब कोई उच्च श्रेणी का लाभ होता हो, तभी सभोग का त्याग किया जाता है। सभोग का त्याग करने का अर्थ यह नही है कि सभोग मे रहना ही बुरा है। साधारण रूप से तो साधु को सभोग मे ही रहना चाहिए, परन्तु अगर अपने मे विशिष्ट शक्ति हो और उत्कृष्ट लाभ पाना हो तो सभोग का त्याग करना लाभप्रद है।

सभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते है– सभोग का त्याग करने से जीव आलम्बन रहित बनता है। साधु जब सभोग मे रहता है तो उसे अन्य साधुओ का सहारा रहता है। वह सोचता है– 'मै बीमार हो जाऊगा तो जिन साधुओ के साथ मै सभोग करता हू, वे साधु मेरी सेवा करेगे।' सभोग का त्याग कर देने से उसे इस प्रकार का आलम्बन नही रह जाता।

मृगापुत्र की माता ने मृगापुत्र से कहा था– हे पुत्र! तू दीक्षा तो लेता है, मगर दीक्षा के बाद 'दुक्ख निपडिकम्मया' अर्थात् जिनकल्पी आदि दशा प्राप्त होने के पश्चात् जब बीमारी उत्पन्न होती है तो बडी ही कठिनाई उपस्थित होती है। क्योकि जिनकल्पी होने के बाद बीमारी मिटाने के लिए दवा भी नही ली जा सकती।

मृगा माता के इस कथन के उत्तर मे मृगापुत्र ने कहा– हे माता ! ऐसा दुख आलम्बन लेने वाले को ही होता है। जो आलम्बन का त्याग कर चुकता है उसे दु ख का अनुभव नही होता। मै राजपुत्र हू, इस कारण मेरी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु ससार मे ऐसे अनेक प्राणी है जिनकी बीमारी दूर करने के लिए दवा ही नही की जाती। वन मे रहने वाले मृगो को जब बीमारी होती है तो वे वन मे क्या करते है? वे मृग एकान्त मे किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं और जब तक रोग शात नही हो जाता तब तक वही बैठे रहते हैं। रोग शात हो जाने पर वे स्वय उठकर चरने चले जाते है। उन मृगो को वह आशा ही नही होती कि कोई आकर हमारी सेवा करेगा और यह आशा न रखने के कारण उन्हे किसी प्रकार का दु ख नही होता। मै भी उन मृगो के समान निरावलम्बी रहूगा और निरावलम्बी रहने के कारण व्याधि उत्पन्न होने पर भी मुझे भी दु ख नही होगा।

इस प्रकार सभोग का त्याग करने से साधु निरावलम्ब बनता है। निरावलम्ब बनने का अर्थ ही सभोग का त्याग करना है। ऐसा नही होना चाहिए कि सभोग का त्याग करने वाला साधुओ का आलम्बन तो न लेवे और

इसके बदले गृहस्थो का आलम्बन ले और उनसे अपनी सेवा करावे। कहा जा सकता है कि गृहस्थो का आलम्बन लिए बिना हमारा काम नही चल सकता, क्योकि हम मे ऐसी शक्ति ही नही है कि दूसरे के आलम्बन के बिना ही हम अपना काम चला सके। ऐसा कहने वाले को यही उत्तर देना चाहिए कि अगर तुम मे आलम्बन लिये बिना काम चलाने की शक्ति ही नही है तो तुमने सभोग का त्याग ही क्यो किया? और जब तुमने सभोग का त्याग कर दिया है तो सभोग–त्याग का उद्देश्य ही निरावलम्बी बनना है। अब किसी का आलम्बन लेने की क्यो आवश्यकता होनी चाहिए?

भगवान् कहते है– सभोग का त्याग करने से निरावलम्बी बन सकते है। आलम्बन लेने से तिरस्कारवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव सभोग का त्याग करने वाला स्वावलम्बी बनता है, अर्थात् किसी की सहायता की अपेक्षा नही रखता। कवि कालिदास ने रघुवशी राजा का वर्णन करते हुए कहा है–

**स्ववीर्यगुप्ता हि मनो· प्रसूति**

अर्थात् अपनी रक्षा करने मे आप समर्थ होने के कारण रघुवशी राजा अकेला वन मे गया।

यद्यपि राजा व्यावहारिक दृष्टि से अपने साथ रक्षक रखता था, परन्तु उसे अपने ऊपर ऐसा विश्वास था कि रक्षक मेरी रक्षा नही कर रहे है, वरन् मै स्वय इतना समर्थ हू कि रक्षको की भी रक्षा कर सकता हू। इस प्रकार वह रघुवशी राजा अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ था और इसी कारण वह अकेला वन मे गया था।

इस प्रकार जिस मे आलम्बनरहित रहने की क्षमता होती है और जो किसी की सहायता की अपेक्षा नही रखता, वही सभोग का त्याग कर सकता है। अत आलम्बन का त्यागी ही सभोग का त्यागी कहलाता है।

प्रजा उसी राजा का सम्मान करती है जो राजा अपनी और प्रजा की रक्षा करने मे समर्थ होता है। जो राजा स्वय अपनी सेवा दूसरो से कराता हो, उसे प्रजा कायर कहेगी और उसका प्रजा पर कोई प्रभाव नही पडेगा। इसी प्रकार स्वावलम्बी होने से और अपनी रक्षा मे स्वयमेव समर्थ होने से और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने से ही साधु सभोग का त्यागी कहलाता है।

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरो का काम करने मे समर्थ होता है वह व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और दूसरो पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है। यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो।

विराटनगरी मे अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे। वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभिमन्यु का विवाह उत्तरा के साथ धूमधाम के साथ कर रहे थे। इस विवाहोत्सव मे भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानिया भी विराटनगरी मे आई हुई थी। विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानिया वापिस द्वारका लोटने लगी तो द्रौपदी उन्हे विदा करने गई। श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भोली थी। इसीलिए 'भोली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है। भोली सत्यभामा ने रास्ते मे द्रौपदी से कहा– मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हू। द्रौपदी ने उत्तर मे कहा– तुम मुझ से बडी हो और तुम्हे मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार है। तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा– मेरे एक ही पति है फिर भी वह मेरे वश मे नही रहते, और तुम्हारे पाच पति हैं, फिर भी वे पाचो तुम्हारे वश मे रहते है। अतएव मै पूछना चाहती हू कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पाचो पतियो को अपने वश मे रख सकती हो? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हो तो मुझे भी वह मन्त्र सिखा दो न?'

द्रौपदी ने उत्तर दिया– मैं ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हू, परन्तु जान पडता है, कोमलागी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नही सकोगी।

सत्यभामा कहने लगी– मै उस मन्त्र को अवश्य साध सकूगी। मुझे वह मन्त्र अवश्य बताओ। मुझे उसकी बडी आवश्यकता है।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नही होती? उसे तो सभी चाहते है। पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को ओर इस प्रकार सभी एक–दूसरे को अपने वश मे करना चाहते हे। मगर यह मन्त्र जब साध किया जाये तभी सब को वश मे किया जा सकता हे।

द्रोपदी ने सत्यभामा से कहा– मे वशीकरण मत्र द्वारा सब को अपने वश मे रखती हू। वह मन्त्र यह है कि स्वय दूसरो के वश मे रहना। इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश मे कर सकती हो। इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है। मन्त्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था–पति के उठने से पहले उठ जाना। फिर पति की आवश्यकताए अपने हाथ से पूरी करना। दास–दासियो के भरोसे न वेठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना ओर दास–दासी की अपेक्षा अपने–आप–को बडी दासी समझना। इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना। बडे–बूढों की मर्यादा रखना। सब की सेवा–शुश्रूषा करना ओर सब को भोजन कराने क वाद आप भोजन करना। इसी प्रकार सब के सो जाने पर सोना। काम करते–

करते फुरसत मिल जाये तो सब को कर्तव्य और धर्म का भान कराना। इस प्रकार कर्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना। यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय है। इस उपाय से मन्त्र की अच्छी तरह साधना की जाये तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बीजनो को अपने अधीन किया जा सकता है। अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश मे हो जाएगे।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करो। साहस और शक्ति के साथ मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे। अगर तुमने मन्त्र–साधना का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी। शास्त्र तुम्हे जो उपदेश देता है, सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है। शास्त्र तो तुम्हे आध्यात्मिक और व्यावहारिक, दोनो दृष्टियो से स्वतन्त्र करना चाहता है। इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ 72 कलाओ का शिक्षण सम्पादन करने का भी उपदेश देता है। मगर तुम परतन्त्रता मे और दूसरो के हाथो काम कराने मे ही सुख मान बैठे हो। परतन्त्र रहने मे और दूसरो के हाथो से काम कराने मे कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने मे कम पाप लगता है या दूसरे से कराने मे, इस बात का अगर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो विश्वास हो जायेगा कि स्वतन्त्रता मे सुख है और परतन्त्रता मे दु ख है। पाप परतन्त्र दशा मे अधिक होता है और स्वतन्त्र दशा मे कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा– दूसरो के वश मे रहना सच्चा वशीकरण है और पति–सेवा मे सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय है। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश मे कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश मे करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता हे ओर अपना काम आप करके दूसरो का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता हे। दूसरो को गुलाम रखने वाला स्वय गुलाम बनता है।

कहते हे, भारत का पहला लॉर्ड क्लाइव जब ढाका के नवाब से मिलने गया तो नवाब ने अपने दरबार मे गुलामो को सुन्दर वस्त्र पहना कर एक कतार मे खडा किया था ओर गुलामो को नीचे झुकाकर सलामी दी थी।

नवाब जब लॉर्ड क्लाइव से मिला तो उसने क्लाइव से पूछा— तुम अपने बादशाह को बहुत बडा कहते हो तो उसके पास कितने गुलाम है? लॉर्ड ने उत्तर दिया— 'हमारे बादशाह के पास एक भी गुलाम नही हैं। नवाब ने कहा— 'तो फिर बादशाह बडे क्यो कहलाते है? लॉर्ड ने कहा— हमारे बादशाह के पास यो तो गुलाम बहुत हे, पर वे शरीर से नही मन से हैं। जो शरीर से ही गुलाम होता है और मन से गुलाम नही होता, अर्थात् जो मन से स्वतन्त्र है, वह गुलाम नही है। वास्तव मे गुलाम वही है, जो मन से गुलाम है।

आशय यह कि द्रौपदी के कथनानुसार जो स्वावलम्बी बनता है, वही सभोग का त्याग कर सकता हे। सभोग का त्याग करने के लिए अपने बल–अबल का विचार पहले करना आवश्यक है। शास्त्र कहता है कि अगर आज तुम मे सभोग का त्याग करने की शक्ति नही है तो सभोग का त्याग करने वाले जिनकल्पी महात्माओ का आदर्श दृष्टि के सामने रखो और उनके समान बनने का प्रयत्न करो। इसी मे कल्याण है।

यह तो बतलाया जा चुका है कि सभोग का त्याग करने से निरावलम्ब अवस्था प्राप्त होती है। सभोग पारस्परिक लाभ के लिए किया जाता है, फिर भी उसमे परतन्त्रता तो है ही। अतएव साहस ओर शक्ति हो तो इस परतन्त्रता को दूर करने के लिए सभोग का त्याग करना आवश्यक है। जहा लाभ होता हे वहा परतन्त्रता भी होती है। अत स्वाधीन बनने के लिए उस लाभ से वचित रहना और सभोग का भी त्याग करना आवश्यक हे।

सभोग मे रहने से दूसरो का आलम्बन लेना पडता हे। अगर सभोग का त्याग कर दिया जाये तो निरावलम्ब बन सकते हे। सभोग का त्याग करना शक्ति ओर साहस पर निर्भर करता हे। शक्ति ओर साहस न हो तो सभोग का त्याग करना अनिवार्य नही हे। आज आपसे रेल मे बेठने का त्याग करने के लिए कहा जाए तो क्या आप त्याग कर सकेगे? आप यही कहेग कि रेल मे बेठने का त्याग करने से हमारा काम नही चल सकता। मगर तुम्हारे पूर्वजो का काम रेल के बिना चल सकता था या नही? अगर उनका काम चल सकता था तो तुम्हारा काम क्यो नही चल सकता? इससे यही मालूम होता हे कि साधनो की अधिकता से शक्ति का नाश होता हे। अतएव साधना का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए।

सभोग के त्याग से आलम्बन का त्याग होता हे। आलम्बन क त्याग से आयत अर्थ की सिद्धि होती हे, अर्थात् सभोग आर आलम्बन का त्याग करने से सयम आर मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नही रहता। सभाग

त्याग से प्रत्यक्ष लाभ यह होता कि अपने ही लाभ से सतुष्टि होती है और
रे के लाभ की आशा नही रहती। फलस्वरूप हृदय मे ऐसा सकल्प–विकल्प
नही होता कि कोई मुझे अमुक वस्तु दे, अमुक ने अमुक वस्तु क्यो न दी
वा मुझे दूसरे से अमुक वस्तु मिल जाये। इस दशा मे 'हमारा अमुक काम
दो इस प्रकार की प्रार्थना भी नही करनी पडती। जिसे किसी प्रकार की
भिलाषा होती है उसी को दूसरे से प्रार्थना करनी पडती है। जिसे दूसरे से
हायता लेने की इच्छा ही नही है और जो दूसरे से लाभ की आशा ही नही
रखता, वह दूसरे के सामने प्रार्थी क्यो बनने लगा? इसी प्रकार जो साधु
भोग का त्याग करके निरवलम्बी, निर्विकल्पी, अप्रार्थी, अस्पृही और अनभिलाषी
नता है, वह साधु श्रीस्थानागसूत्र मे कही हुई उत्तम प्रकार की दूसरी
खशय्या पा कर विचरता है।

जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते है। शय्या दो प्रकार
की है– सुखशय्या और दु खशय्या। दूसरे के आधार पर रहने वाला दु खशय्या
र सोने वाला है और जो अपने ही आधार पर सोने वाला है, दूसरो का
आधार नही लेता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है। दूसरो के आधार पर रहना
पराधीनता है और अपने आधार पर रहना स्वाधीनता है। पराधीनता के समान
और कोई दु ख नही तथा स्वाधीनता के समान दूसरा सुख नही। पराधीनता
के साथ खाने को मिष्टान्न मिलना भी अच्छा नही। उसकी अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक
मिला हुआ रूखा सूखा रोट ही अच्छा है। स्वतन्त्रता मे जो आनन्द है वह
परतन्त्रता मे स्वप्न मे भी सभव नही।

आज लोग स्वतन्त्रता को भूल गये हैं और लकीर के फकीर की भाति
बहुत–से लोग जो कार्य करते है, उसी को करने बैठ जाते हैं। परन्तु यह
उनकी भूल है। अधिक लोग जो काम करते है वह करना ही चाहिए, यह ठीक
कैसे कहा जा सकता है? क्या अधिक सख्या मे लोग अप्रामाणिक और
विश्वासघाती नही है? क्या उनका अनुकरण करना उचित कहा जा सकता
है? अतएव इस धारणा का त्याग कर दो कि बहुजनसमाज जो कार्य करता
है वही कर्तव्य है। बहुजनसमाज के कार्यो की नकल न करके, जिससे आत्मा
का कल्याण हो वही करना चाहिए।

शास्त्रानुसार स्वाधीनता मे ही सुख है। यह बात दूसरी है कि आज
[illegible] परवश हो जाने के कारण तत्काल पराधीनता का त्याग नही कर सकते,
[illegible] स्वतन्त्रता को भूल तो नही जाना चाहिए। स्वाधीनता का आदर्श तो
[illegible] नजर के आगे रखना ही चाहिए। जो लोग पराधीनता को सर्वस्व मान

बैठते हैं और स्वाधीनता को सर्वथा भूल जाते हैं, उनका परतन्त्रता के दु ख से मुक्त होना कठिन है। अगर स्वाधीनता का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखा जाये और आदर्श पर पहुचने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाये तो एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि पराधीनता के दु ख का अन्त हो जायेगा। स्वाधीनता के सिद्धान्त को सर्वथा भुला देने से पराधीनता के दु ख से छुटकारा मिलना कठिन है।

कल्पना करो, एक कैदी को केदखाने मे बन्द कर दिया गया है और एक पागल को पागलखाने मे डाल दिया है। अब ये दोनो अपने बन्धन से कब छूट सकते है? कैदी की तो कैदखाने से छूटने की अवधि निश्चित है। किन्तु पागल का दिमाग जब शात और स्थिर होगा तभी वह पागलखाने से छूट सकेगा। दिमाग शात और स्थिर हुए बिना वह पागलखाने से छुटकारा नही पा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी मे भी इस प्रकार का अन्तर है। अपराध तो ज्ञानी से भी हो जाता है, परन्तु ज्ञानी के अपराध के दण्ड की अवधि होती हे और अज्ञानी के दण्ड की अवधि नही होती। अतएव जब अज्ञानी का अज्ञान मिटता है तभी वह दु ख से छूटता हे। इस प्रकार अज्ञानता एक प्रकार का पागलपन है। अतएव स्वतन्त्रता क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त करो।

एक लेख मे मैने देखा था– किसी जगह पागलखाने मे आग लग गई। कुछ दयालु लोग पागलो को बाहर निकालने के लिए दोडे आये। मगर पागल तो आग को देखकर उलटे आनन्द मनाने लगे। कहने लगे– यहा ओर दिन तो एक–दो ही दीपक जलाये जाते थे, पर आज हजारो दीपक जलाये जा रहे हैं। ऐसे प्रकाशमय स्थान से हमे बाहर क्यो निकाला जा रहा हे?

अगर तुम वहा होते तो यही कहते कि ये पागल कितने मूर्ख ह कि विनाश को भी प्रकाश मान रहे हे! आह! लोगो की दशा कितनी दयनीय हे!

पागल भ्रम मे फसे होने के कारण ही विनाश मे आनन्द मान रहे हे। इसी प्रकार आज की जनता भी ऊपरी भभके के भ्रम मे पडी हे ओर इसी कारण लोग ऊपरी भभका बढाने मे ही आनन्द मान रहे हे। ऐसे लोगा स ज्ञानीजन कहते हैं– इस ऊपरी भभके के भ्रम से बाहर निकलो, अन्यथा इस भपके के भडके मे ही भस्मीभूत हो जाओगे। ज्ञानीजन तो इस प्रकार चेतावनी देकर दिखावटी फेशन के चक्कर मे से लोगो को निकालने का प्रयत्न करते हे, मगर शोकीन लोग ज्ञानियो की चेतावनी की अवगणना करते ह। इस अवगणना के फलस्वरूप उन्हे दु ख ही सहन करना पडता हे, क्योकि फेशन बढने से पराधीनता बढती हे ओर पराधीनता मे दु ख हे।

स्वामी विवेकानन्द यूरोप–अमेरिका आदि देशो मे धर्मप्रचार करके जब भारत लौटे, तो उन्होने अपने अनुभव बतलाते हुये एक भाषण मे कहा था– इस समय सारा यूरोप ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा है। यह नही कहा जा सकता कि यह ज्वालामुखी कब फटेगा और कब यूरोप का विनाश होगा। इसी प्रकार आज का फैशन भी ज्वालामुखी के शिखर तक पहुच चुका है। इस फैशन की बदौलत कब विनाश का आगमन होगा, यह नही कहा जा सकता। आज कितनेक लोग पैरिस आदि पाश्चात्य नगरो मे जाकर और वहा की ऊपरी तडक–भडक देखकर कहने लगते हैं– सारा मजा तो बस, यही है। हम लोग तो अभी जगली दशा मे है। ऐसा मानने वाले लोगो को यह भान नही है कि इस तडक–भडक के पीछे कैसी और कितनी परतन्त्रता छिपी हुई है। जिन्होने तडक–भडक का त्याग कर दिया है, उन्हे तुम मूर्ख मानते हो। मगर यदि तुम इस बात का गम्भीर विचार करोगे कि इस तडक–भडक से स्वतन्त्रता मिलती है या परतन्त्रता मिलती है, तो अपने पूर्वजो को मूर्ख नही कहोगे। वास्तव मे तुम ऊपरी तडक–भडक का त्याग करने वाले अपने पूर्वजो को मूर्ख कह कर अपनी मूर्खता का ही परिचय देते हो।

आज स्वतन्त्रता की भावना क्षीण हो गई है और इसी कारण त्यागशील पूर्वजो को मूर्ख समझा जाता है। उदाहरणार्थ, हरिश्चन्द्र के विषय मे कहा जाता है कि उसने अपना राज्य एक अयोग्य व्यक्ति को सौंप दिया, यह मूर्खता नही तो क्या है? मगर जिसने इतना महान् और अपूर्व त्याग किया, उसे मूर्ख कहना क्या उचित है? हरिशचन्द्र ने कदाचित् वचनबद्ध होने के कारण अपने राज्य का त्याग किया था, परन्तु शास्त्र मै तो यहा तक कहा है कि–

**चइत्ता भारह वास चक्कवट्टी महिड्ढिओ।**
**सन्ती सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तर।।**
**इक्खागराइवसभो कुन्थू नाम नरेसरो।**
**विक्खायकित्ती भगव पत्तो गुइमणुत्तरं।।**

**–उत्तराध्ययन, अ 18, गा 30–40।**

अर्थात् जिनका सम्पूर्ण भरतखण्ड पर अधिकार था, उन भगवान् शान्तिनाथ और भगवान् कुन्थुनाथ ने अपनी समस्त ऋद्धि का त्याग किया था।

उन्होने यह त्याग क्यो किया था? उनके त्याग का यही कारण था कि उन्हे उस ऋद्धि मे परतन्त्रता प्रतीत हुई थी। उस ऋद्धि मे उन्हे स्वतन्त्रता

नही मालूम हुई। उन्होने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही राज्य की ऋद्धि का त्याग किया था।

भगवान् शान्तिनाथ चक्रवर्ती राजा थे, फिर भी उन्होने शान्ति प्राप्त करने के लिए राजपाट को त्याग दिया। त्याग से ही शान्ति मिलती हे। भोग से कभी किसी को न शान्ति मिली है, न मिलती हे ओर न मिलेगी। अतएव भगवान् शान्तिनाथ ने शान्ति प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया है, उसे जीवन मे स्थान देने से ही वास्तविक कल्याण होगा।

यह आशका उठाई जा सकती है कि हम लोग अगर शान्ति धारण करके बैठे रहे तो बदमाश लोग हमे शान्त कैसे रहने देगे ? इसका उत्तर यह है कि अगर तुम्हारे भीतर वास्तविक शान्ति होगी तो कोई दूसरा तुम मे अशान्ति उत्पन्न कर ही नही सकता। अशान्ति तो अपने भीतर मोजूद अशान्ति के कारण ही होती है। अतएव शान्ति प्राप्त करने के लिए त्याग–भावना को अपनाना चाहिए। तुम त्याग तो करते हो, मगर त्याग की पद्धति ठीक न होने के कारण तुम्हे शान्ति प्राप्त नही होती। उदाहरणार्थ, एक किसान गीली जमीन मे बीज बोता हे और दूसरा सूखी जमीन मे। गीली जमीन मे बोया हुआ बीज तो अकुरित हो जाता है, पर सूखी जमीन मे बोया बीज जल के अभाव मे कैसे अकुरित हो सकता है? इसी प्रकार तुम लोग जो त्याग करते हो वह सूखी जमीन मे बोये बीज की तरह निष्फल जाता हे। त्याग निष्फल हो जाने से तुम्हे शान्ति प्राप्त नही हो सकती। अगर कोई पदार्थ अहकारपूर्वक त्यागा जाता हे तो वह त्याग शान्ति देने वाला ओर परमात्मा की शरण मे ले जाने वाला सिद्ध नही होता। शान्ति देने वाला सच्चा त्याग तो वही हे जो बिना किसी अभिमान के परमात्मा को समर्पित कर दिया जाये। परमात्मा को समर्पित करने की दृष्टि से किया हुआ त्याग हमेशा फलदायक हाता हे, क्योकि इस प्रकार त्याग करने वाले को किसी दिन पश्चात्ताप करन का अवसर नही आता।

मान लो, तुमने किसी मनुष्य को हजार रुपये उधार दिये। उधार लने वाले ने दिवाला निकाल दिया। ऐसी स्थिति मे तुम्ह हजार रुपये क लिए पश्चात्ताप होना स्वाभाविक हे। इसके बजाय वही हजार रुपया अगर दान दिया होता तो क्यो पश्चात्ताप होता? इस प्रकार परमात्मा को समर्पण करन की दृष्टि से जो त्याग किया जाता हे, उस त्याग क लिए पश्चात्ताप करन का कोई कारण नही रहता।

प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाए होती है– दान, भोग और नाश। तुम लोग वस्तु का भोग करते हो और उसका नाश भी होता देखते हो, परन्तु दान मे बहुत कम उपयोग करते हो। आजकल वस्तुओ का भोग और नाश तो होता दिखाई देता है परन्तु दान मे बहुत कम उपयोग होता है। इस जमाने मे बहुत बेकारी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुओ का भोग और नाश करने मे क्या कुछ कमी रखी जाती है? कमी तो वस्तुओ के दान मे ही आई है।

यहा एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह यह कि वस्तुओ का भोग और नाश करने से तो अन्त मे पश्चात्ताप ही पल्ले पडेगा, परन्तु दान मे वस्तुओ का उपयोग करने से पश्चात्ताप का अवसर नही आएगा। अतएव प्राप्त सम्पत्ति का भोग और नाश करके ही दुरुपयोग मत करो, उस सम्पत्ति का दान देकर सदुपयोग करना सीखो।

कुछ लोग तो दान करने मे भी पाप मानते है। उन लोगो की मान्यता यह है कि हम जिनको दान देते है, वह दान लेने वाले अगर कोई पापकर्म करे तो उनके सब कर्मो का पाप हमे लगता है इत्यादि। मारवाड मे ऐसी मान्यता वाले लोग है। इन लोगो के बीच भ्रमण करके मैंने उनकी इस दुर्भावना को दूर करने का प्रत्यन भी किया था, और उन्हे समझाया था कि उनकी यह मान्यता ठीक नही है। दान मे विवेक रखने की आवश्यकता तो है, मगर दान मे एकान्त पाप मानना गलत है। लोगो को दान मे पाप मानने की बात बहुत जल्दी पसन्द आ जाती है, क्योकि ऐसा मानने से गाठ का कुछ जाता नही और धर्म भी हो जाता है। ऐसी बात जल्दी पसन्द आना स्वाभाविक है। दान मे विवेक रखना ठीक है, मगर एकान्त पाप मानना ठीक नही है। बीज नष्ट हो जाने के डर से बोना ही छोड बैठना कोई बुद्धिमत्ता नही है। एक किसान खेती करता है और बीज का आरोपण करता है, जब कि दूसरा किसान खेती करता है किन्तु बीज नष्ट हो जाने के भय से बीज ही नही बोता। इन दोनो मे से तुम किसे ठीक कहोगे? इसी प्रकार एक आदमी दान मे विवेक रखता है मगर दान देता है और दूसरा, दान लेने वाला जो पापकर्म करेगा वह पापकर्म मुझे लगेगा, इस भय से दान ही नही देता। इन दोनो मनुष्यो मे से वही मनुष्य अच्छा कहलाएगा जो दान देगा। दान ही न देना तो बीज ही न बोने के समान है। अतएव विवेकपूर्वक दान तो अवश्य देना चाहिए। पाप के भय से दान ही न देना अनुचित है।

सुना है, अमेरिका मे एक बार दो मित्र जा रहे थे। रास्ते मे एक लंगडा मनुष्य बैठा दिखाई दिया। दोनो मित्रो मे से एक को उस लगडे पर

दया आई और उसने अपनी जेब से कुछ रुपये निकाल कर उसे दे दिये। यह देखकर दूसरे ने कहा—तुमने इस अपग मनुष्य को रुपये तो दिये मगर इससे उसका भिखारीपन दूर नही हुआ। रहा तो भिखारी का भिखारी ही। तुम्हारा यह दान करुणादान तो अवश्य है, पर उसे ऐसा दान देना चाहिए कि उसका भिखारीपन ही मिट जाए और वास्तव मे ऐसा दान करना ही श्रेष्ठ दान है। इस प्रकार कहकर वह दूसरा मित्र उस अपग को अपने घर ले गया। वहा उसने उसे हुनर—उद्योग सिखाया और लकडी तथा रबड के कृत्रिम पैर बनाकर उसके पैर दुरुस्त कर दिये। वह अपग हुनर—उद्योग के द्वारा अपना और दूसरो का भी पोषण करने मे समर्थ बन सका। दान तो दोनो मित्रो ने दिया, परन्तु किस मित्र का दान सच्चा और ऊचा दान है, इस बात पर विचार करो। जिस मित्र ने रुपये का दान दिया, उसका दान भी करुणादान था, परन्तु दूसरे ने भिखारीपन दूर करने का जो दान दिया वह उस की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है। इस प्रकार दान मे विवेक रखना अच्छा है, परन्तु दान देने मे पाप ही मान कर दान न देना उचित नही कहा जा सकता।

न्यायमूर्ति रानडे के विषय मे सुना है कि जब वे हाईकोर्ट के जज थे तब एक बार दुष्काल के समय घोडागाडी मे बैठकर हवाखोरी के लिए जा रहे थे। रास्ते मे उन्होने देखा कि एक मनुष्य गोबर मे से अन्न के दाने बीन रहा है। यह दृश्य देखकर उनका दिल दया से द्रवित हो उठा। वह मन ही मन कहने लगा, बेचारे लोगो की केसी दीन दशा हे ओर मे बग्घी मे सवार होकर घूम रहा हू। दया भाव से प्रेरित होकर वे उस मनुष्य को अपने घर ले गये और उसकी आजीविका की उचित व्यवस्था कर दी। इस घटना के बाद उन्होने अपनी नोकरी त्याग दी ओर वे गरीबो की सेवा करने मे ही प्रवृत्त हो गये।

कितनेक लोगो के कथनानुसार इस प्रकार के अशक्तो को सशक्त बनाना शस्त्र को तीक्ष्ण बनाने के समान हे। परन्तु ऐसा मानना एक प्रकार की भूल हे। हम लोग शिष्य बनाते हें। इस समय कोई मोक्ष मे तो जाता ही नही हे, अत वे देवलोक मे जाएगे और वहा सुख का उपभोग करेगे। क्या यह पाप हमे लगना चाहिए? अगर नही तो फिर यही न्याय सब जगह लागू क्यो नही किया जाता? लोक सशक्त मनुष्य द्वारा होने वाला पाप तो देखत ह, मगर करुणा करने वाले के उच्चभाव को नही देखते। करुणा करने वाले की भावना पाप कराने की नही हे, दुखी का दुख दूर करने की हे। ऐसी स्थिति म करुणा करने वाले मे भावना रक्खो। अनुकम्पा करने मे पाप ह, यह मान्यता ही

भूलभरी है। अनुकम्पा करने वाला और दान देने वाला किसी दिन सुबाहुकुमार जैसी ऋद्धि प्राप्त कर सकता है, अन्यथा पुण्य सचय करने मे तो सदेह ही नही है। इसलिए अनुकम्पा करने का प्रयत्न करो। अनुकम्पा करने मे कल्याण ही है। अपने घर से ही अनुकम्पा आरम्भ करो। ज्यो–ज्यो अनुकम्पा बढती जायेगी, त्यो–त्यो विश्वमैत्री बढती जायेगी। अतएव सब जीवो के प्रति अनुकम्पा और दान की वृत्ति रखने का ध्यान रक्खो। इसी मे कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जो आनन्द स्वतन्त्रता मे है, वह परतन्त्रता मे नही। अतएव स्वतन्त्रता को मत भूलो। आज के लोग परावलम्बी बनते जा रहे है और उनकी आवश्यकताए इतनी अधिक बढ रही है कि उन्हे स्वतन्त्रता के विषय मे विचार करने की फुर्सत ही नही मिलती। ऐसी पराधीन दशा मे दूसरो की अनुकम्पा किस प्रकार हो सकती है? दूसरे जीवो के प्रति अनुकम्पा करने के लिए अपनी आवश्यकताए कम करना आवश्यक है। अपनी आवश्यकता कम करना अपने सासारिक बन्धनो को कम करने के समान है। अतएव स्वतन्त्रता की भावना को हृदय मे स्थान देकर सासारिक बन्धनो को तोडने का प्रयत्न करो। ऐसा करने मे ही स्व–पर कल्याण है।



# चौतीसवां बोल

## उपधिप्रत्याख्यान

तेतीसवे बोल मे सभोग के प्रत्याख्यान के विषय मे विचार किया गया। सभोग का त्याग करने से आलम्बन का त्याग भी करना पडता है। आलम्बन का त्याग करना साधारण आदमी के लिए सरल काम नही है। शक्तिशाली महात्मा ही आलम्बन का त्याग कर सकते है। जिनमे सभोग का त्याग करने की शक्ति होती है वे सभोग का त्याग कर देते है ओर साथ ही साथ उपधि (उपकरण) का भी त्याग कर देते हे। इस कारण अब गोतम उपधि के त्याग के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हे –

### मूलपाठ

**प्रश्न– उवहिपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे कि जण्यइ?**

**उत्तर– उवहिपच्चक्खाणेण अपलिमथं जणयइ, निरुवहिए ण जीवे निक्कखे उवहि मन्तरेण य ण सकिलिस्सइ।।34।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवान्! उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– हे गोतम! उपधि का त्याग करने से जीव उपकरण धरने–उठाने की चिन्ता से मुक्त हो जाता हे ओर उपधिरहित जीव निस्पृही (स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन मे निश्चिन्त रहने वाला) होकर उपधि के अभाव म शारीरिक या मानसिक क्लेश अनुभव नही करता।

### व्याख्यान

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को होने वाले लाभा पर विचार करन से पहले उपधि क्या हे, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत हाता

है। उपधि का अर्थ है– उपकरण या साधन। ये उपकरण या साधन दो प्रकार के है। एक साधन तो सद्गति मे ले जाने वाला होता है और दूसरा अधोगति मे ले जाने वाला। उपधि का व्याख्यान करते हुए कहा गया है– **'उपधीयते इति उपधि ।'** अर्थात् जिसमे उपधि हो वह उपधि कहलाती है। इस प्रकार कोई–कोई उपधि दुर्गति मे ले जाने वाली और कोई सद्गति मे ले जाने वाली होती है। दुर्गति मे ले जाने वाली उपधि मे धन–धान्य आदि परिग्रह का समावेश होता है और सद्गति मे पहुचाने वाली उपधि मे उन चीजो का समावेश होता है जो सयम मे स्थिर करने वाली है। उपधि तो दोनो ही है, परन्तु सर्वप्रथम अशुभ का ही त्याग किया जाता है, शुभ का नही। जिन्होने सयम धारण किया है, वे दुर्गति मे ले जाने वाली धनधान्य आदि उपधि का तो पहले ही त्याग कर डालते है, उन्हे सिर्फ सयम मे स्थिर रखने वाली उपधि का त्याग करना शेष रहता है। शास्त्रकार कहते है– अगर किसी मे शक्ति हो तो सयम मे स्थिर करने वाली उपधि का भी त्याग कर देना चाहिए।

कुछ लोग कहते है– परिग्रह हमारे पास भी है और साधुओ के पास भी है। जेसे हमे अन्न–वस्त्र चाहिए, उसी प्रकार महाराज को भी अन्न–वस्त्र चाहिए। इस प्रकार कहने वाले लोग अपनी और साधु की एक ही गति है, ऐसा कहते जान पडते है। दूसरी और कुछ लोग कहते हैं– साधु को उपकरण की क्या आवश्यकता है ? साधु को तो दिगम्बर रहना चाहिए और जो साधु दिगम्बर रहता हो, वही साधु है। इस प्रकार दो अलग–अलग मत प्रचलित है। इन दो मतो के कारण ही परस्पर वाद–विवाद और कलह उत्पन्न हुआ करती है। पर शास्त्रकार कहते है कि इस तरह के वाद–विवाद मे न पडकर उपधि–उपकरण का विवेकपूर्वक त्याग करो। जो भी त्याग करो, विवेकपूर्वक ही करो। ऐसा करने मे ही त्याग की शोभा है। मान लो, किसी मनुष्य ने धोती भी पहनी है और पगडी भी पहनी है। अब अगर उसमे त्याग–भावना आ जाये तो वह सर्वप्रथम किस वस्तु का त्याग करेगा? पहले धोती त्यागेगा या पगडी त्यागेगा? उसके लिए पहले पगडी का त्याग करना ही उचित है। लेकिन यदि वह आग्रह करे कि मै तो पहले धोती त्यागूगा और पगडी पहने रखूगा, तो क्या वह त्याग का आग्रह विवेकपूर्वक कहलाएगा? अतएव–जो कुछ भी त्याग किया जाए वह सब विवेकपूर्वक ही होना चाहिए। जिस वस्तु का त्याग करने की शक्ति नही है उसका भी त्याग करके नवीन कठिनाइया उपस्थित करना उचित नही है।

पाच समिति और तीन गुप्ति जैन शास्त्रो का सार है। समिति अर्थात् प्रवृत्ति और गुप्ति अर्थात् निवृत्ति। उपदेश तो गुप्ति अर्थात् मन, वचन और काय की निवृत्ति के लिए ही है, परन्तु निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति न हो तो धर्म मे गति ही कैसी होगी? इस कारण भगवान् ने पाच समितियो के द्वारा प्रवृत्ति बतलाई है और मन, वचन, काय द्वारा अशुभ प्रवृत्ति न करने के लिए कहा गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना समिति है। चलते समय ईर्यासमिति का ध्यान रखना आवश्यक है। ईर्यासमिति का ध्यान न रखा जाये तो गुप्ति का भग होता है। अतएव चलने मे, बोलने मे, भिक्षा लेने मे अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु को पाच समिति और तीन गुप्ति का ध्यान रखना आवश्यक है। समिति और गुप्ति प्रवचन माता कहलाती हैं। वीरपुत्र साधु को अपने प्राणो का भी उत्सर्ग करके भी प्रवचनमाता की रक्षा करनी चाहिए।

शरीर टिकाने के लिए जब भिक्षु को भिक्षा लेनी पडती है जब भिक्षा लेने के लिए पात्रो की भी आवश्यकता रहती है। अगर साधु पात्र न रखे और गृहस्थो के पात्र मे भोजन करे या गृहस्थो के पात्र का उपयोग किया करे तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना है। यह बात दृष्टि मे रखकर ही साधुओ को काष्ठ, तुम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की छूट दी गई है। जब पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाना पडता है तो पात्र रखने के लिए झोली भी चाहिए ही और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र भी चाहिए। भगवान् ने कहा है– अगर पात्र रखोगे तो तुम अपने सयम की रक्षा कर सकोगे और रोगी या वृद्ध साधुओ की सेवा भी कर सकोगे। अगर तुम स्वय गृहस्थो के घर खाते होगे अथवा गृहस्थो के पात्र मे जीमते होगे तो वृद्ध तथा रोगी आदि सतो के लिए भिक्षा किस प्रकार और कहा से लाओगे? कदाचित् यह कहो कि हम गृहस्थो के घर जीमेगे और वृद्ध तथा रोगी साधुओ की सेवा गृहस्थ करेगे, तो ऐसा करने मे अयतना होगी और सयम मे बाधा आएगी। अतएव सयम पालन के लिये पात्र भी उपकारी है।

जो भोजन किया जाता हे वह शरीर मे रसभाग और खलभाग म परिणत होता है। खलभाग का– जो मल मूत्र रूप होता है– त्याग करना ही पडता हे। मल–मूत्र का त्याग दश बोलो का ध्यान रखकर करना चाहिए।

साधु–क्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोगो का कहना हे कि साधु मल का विखेरते हें, परन्तु यह कथन भ्रामक ओर मिथ्या हे। ऐसा करन स ता साधु को प्रायश्चित्त लगता हे। मल–मूत्र का त्याग करने म साधुओं का विवक

तो रखना ही पडता है, परन्तु मल–मूत्र का विसर्जन करते समय साधु ऐसी कोई क्रिया नही करते कि उन्हे मल–मूत्र का स्पर्श करना पडता हो।

यहा कोई यह पूछ सकता है कि यह तो साधुओ के आचार–विचार की बात हुई, परन्तु शास्त्र मे गृहस्थो के लिए भी कोई धर्म बताया है या नही, और उनके लिए किसी प्रकार का विधि–विधान किया गया है या नही? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र मे गृहस्थो का धर्म न बतलाया जाये यह कैसे सभव है? क्योकि साधुओ का धर्म गृहस्थो के धर्म पर ही आश्रित है। इसीलिए उववाई सूत्र मे कहा है–

**दुविहे धम्मे पण्णत्ते, तंजहा–आगारधम्मे अणगारधम्मे य।**

अर्थात् धर्म दो प्रकार के हैं–गृहस्थधर्म और साधुधर्म।

साधुधर्म का आधार गृहस्थ का धर्म ही है। श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र मे कहा है कि जब धर्म का नाश होगा तो सर्वप्रथम साधुधर्म का नाश होगा और फिर गृहस्थधर्म का नाश होगा। साधुधर्म जीवित रहे और गृहस्थधर्म नष्ट हो जाए, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता, क्योकि गृहस्थधर्म, साधुधर्म का आधार है और यदि गृहस्थ लोग अपने धर्म का सम्यक् प्रकार पालन न करे तो ऐसी दशा मे साधुधर्म का भी सम्यक् प्रकार से पालन नही हो सकता। अतएव गृहस्थो को अपने धर्म का यथोचित पालन करना चाहिए। धर्म किसी व्यक्ति को, फिर वह साधु हो या गृहस्थ हो, किसी प्रकार के बन्धन मे बद्ध नही करता। धर्म तो अविवेक को दूर करता है। धर्म का कथन यह है कि जो–कुछ करो विवेकपूर्वक ही करो। गृहस्थो को विवेक समझाने के लिए ही शास्त्र मे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं। इन बारह व्रतो को ही आगारधर्म कहते है। पहले अहिसाव्रत मे श्रावक को हिसा का त्याग करना पडता है। गृहस्थ–श्रावक हिसा का सर्वथा त्याग नही कर सकता, अतएव उसे स्थूल हिसा का त्याग करने का विधान किया गया है। स्थूल हिसा किसे कहना चाहिए और सूक्ष्म हिसा क्या है, इस विषय मे शास्त्र मे अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया गया है। शास्त्रकारो ने जगत् के जीवो की सुविधा के लिए स्थूल हिसा की व्याख्या करते हुए कहा है– जो जीव चलते–फिरते दिखाई देते हैं, उनका घात करना स्थूल हिसा है। गृहस्थ–श्रावक को ऐसे जीवो की हिसा नही करनी चाहिए। जीव तो पृथ्वी, पानी आदि मे भी है परन्तु वे प्रत्यक्ष दिखाई नही देते और गृहस्थ–श्रावक उन जीवो की हिसा से बच भी नही सकता। अतएव जो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसकी हिसा श्रावक को नही करनी चाहिए।

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता है कि अगर हम ऐसे हिसा से बचते ही रहे और अहिसक बनकर बेठे रहे तो हमारा ससार–व्यवहार ही न चले। इसका समाधान यह है कि यह खयाल ही गलत है। एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझे ऐसे ही कहा था। उनका कहना था– अगर हम अहिसक ही बन जाए तो ऐसी दशा मे अनेक मनुष्य मर जाए। मनुष्यो की रक्षा के लिए हमे हिसा करनी ही पडती है। रोग के कीटाणु, जो रोगी के शरीर मे होते ह, उनका हमे विनाश करना पडता हे। अगर कीटाणु नष्ट न किए जाए तो रोगी जीवित नही रह सकता और कीटाणुओ का नाश करने से हिसा होती है। ऐसी दशा मे हमे क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिसा का पालन करना चाहिए? डाक्टर का कर्तव्य निभाने के लिए हमे दवा से, इन्जेक्शन से या आपरेशन से कीटाणुओ का नाश करना ही पडता है।

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते है– 'वास्तव मे कीडो को बचाना चाहिए या मनुष्यो को बचाना चाहिए?'

मैने उस डाक्टर साहब से कहा– 'कीडे दो प्रकार के होते है– आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक। आरोग्यनाशक कीडे के कारण ही रोग उत्पन्न होता है। तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्यनाशक कीडो को ही मारते है, मगर इसी मान्यता मे भूल है। वास्तव मे तुम आरोग्यरक्षक कीडो को सशक्त बनाते हो। ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीडे अशक्त होकर स्वत मर जाते है। तुम आरोग्यनाशक कीडो को मार डालत हो, यह तुम्हारा ख्याल गलत है। तुम ऐसा क्यो नही मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्यरक्षक कीटाणुओ को सशक्त बनाते हो? इस दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीडो को मारना नही, वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता हे। यही दृष्टि लक्ष्य मे रखोगे तो हिसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा। उदाहरणार्थ जब दीपक जलाया जाता हे तो अधकार स्वत नष्ट हो जाता हे। परन्तु यह नही कहा जाता हे कि अधकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जा सकता हे– दीपक उजल गया हे! इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुआ को नष्ट करने के बदले कीटाणुओ को सशक्त बनाना कहा जाए ओर ऐसा ही माना जाये तो हिसा के समर्थन के बदले अहिसा का समर्थन होता हे।

ससार मे कुछ लोग अधकार का समर्थन करने वाले निकल आएग ओर कुछ प्रकाश का समर्थन करने वाले निकलेगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएगे आर अधकार का समर्थन करने वाल कृष्णपक्षीय कहलाएगे। प्रकाश तो शुक्लपक्ष मे भी रहता ह ओर कृष्ण पक्ष म

भी रहता है, फिर भी एक को शुक्लपक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष [illegible]
है? इसका कारण यही है कि एक पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अधकार का समर्थक है। इसी कारण दोनो पक्षो के नाम भिन्न–भिन्न है। साधारणतया देखा जाये तो पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपदा के दिन अधकार कम होता है और प्रकाश अधिक होता है, परन्तु वह पक्ष अधकार का पक्षपाती होता है, इसी कारण उसकी गणना कृष्णपक्ष मे करते है। इसी तरह शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन नाम मात्र को ही प्रकाश होता है, फिर भी वह पक्ष प्रकाश का पक्षपाती है, इसी कारण उसकी गणना शुक्लपक्ष मे की गई है। ससार मे तो शुक्लपक्षीय लोग भी रहेगे और कृष्णपक्षीय भी रहेगे। मगर तुम विवेकपूर्वक विचार करो कि इन दोनो मे से तुम्हे किस पक्ष मे रहना है? तुम हिसा के पक्ष मे रहना चाहते हो या अहिसा के पक्ष मे रहना चाहते हो? विवेक के साथ तुम्हे निर्णय करना चाहिये।

शास्त्र मे शुभाशुभ भावो को शुक्लता और कृष्णता बतलाकर छह लेश्याओ के विषय मे विचार किया गया है। छह लेश्याओ मे तीन लेश्याए तो शुभ अर्थात् धर्म की द्योतक है और तीन अशुभ, अर्थात् पाप की द्योतक है। इन शुभो शुभ लेश्याओ को उदाहरण द्वारा समझाता हू।

अलग–अलग प्रकृति वाले छह मनुष्य कुल्हाडिया लेकर घर से बाहर निकले। रास्ते मे उन्होने आम्रफलो से झुका हुआ आम्रवृक्ष देखा। पके आम देखकर सब ने खाने का विचार किया। मगर वृक्ष बहुत ऊचा था। प्रश्न उपस्थित हुआ– आम किस तरह खाये जाए?

उन छह मे से एक ने कहा– अपने पास कुल्हाडी है। वृक्ष को मूल से ही काट गिराया जाये तो सरलता से आम ले सकेगे। इस प्रकार पहले मनुष्य ने केवल आमो के लिए सारे वृक्ष को ही काट डालने का विचार किया। शास्त्र कहता है, इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाला है। क्योकि वह थोडे–से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है। वृक्ष काट डालने से केवल उन्हे ही थोडे–से फल मिल जाएगे, परन्तु वृक्ष अगर [illegible] रहा तो न जाने कितने लोगो को आम मिलेगे। ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ मे अधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतरू हो गया है। वह कृष्णलेश्या वाला है।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा– भाई! सारा पेड काटने से क्या लाभ! और [illegible] शाखाओ को काट लिया जाय तो भी फल मिल जाएगे और [illegible]। इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोडे लाभ के लिए

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता हे कि अगर हम ऐसे हिसा से बचते ही रहे और अहिसक बनकर बैठे रहे तो हमारा ससार–व्यवहार ही न चले। इसका समाधान यह हे कि यह खयाल ही गलत हे। एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझे ऐसे ही कहा था। उनका कहना था– अगर हम अहिसक ही बन जाए तो ऐसी दशा मे अनेक मनुष्य मर जाए। मनुष्यो की रक्षा के लिए हमे हिसा करनी ही पडती है। रोग के कीटाणु, जो रोगी के शरीर मे होते हे, उनका हमे विनाश करना पडता हे। अगर कीटाणु नष्ट न किए जाए तो रोगी जीवित नही रह सकता और कीटाणुओ का नाश करने से हिसा होती है। ऐसी दशा मे हमे क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिसा का पालन करना चाहिए? डाक्टर का कर्तव्य निभाने के लिए हमे दवा से, इन्जेक्शन से या आपरेशन से कीटाणुओ का नाश करना ही पडता है।

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते हैं– 'वास्तव मे कीडो को बचाना चाहिए या मनुष्यो को बचाना चाहिए?'

मैने उस डाक्टर साहब से कहा– 'कीडे दो प्रकार के होते हे– आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक। आरोग्यनाशक कीडे के कारण ही रोग उत्पन्न होता है। तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्यनाशक कीडो को ही मारते है, मगर इसी मान्यता मे भूल है। वास्तव मे तुम आरोग्यरक्षक कीडो को सशक्त बनाते हो। ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीडे अशक्त होकर स्वत मर जाते है। तुम आरोग्यनाशक कीडो को मार डालते हो, यह तुम्हारा ख्याल गलत हे। तुम ऐसा क्यो नही मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्यरक्षक कीटाणुओ को सशक्त बनाते हो? इस दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीडो को मारना नही, वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता हे। यही दृष्टि लक्ष्य मे रखोगे तो हिसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा। उदाहरणार्थ जब दीपक जलाया जाता हे तो अधकार स्वत नष्ट हो जाता हे। परन्तु यह नही कहा जाता हे कि अधकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जा सकता है– दीपक उजल गया है। इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुओ को नष्ट करने के बदले कीटाणुओं को सशक्त बनाना कहा जाए ओर एसा ही माना जाये तो हिसा के समर्थन के बदले अहिसा का समर्थन होता हे।

ससार मे कुछ लोग अधकार का समर्थन करने वाले निकल आएगे ओर कुछ प्रकाश का समर्थन करने वाले निकलेगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएगे ओर अधकार का समर्थन करने वाले कृष्णपक्षीय कहलाएगे। प्रकाश तो शुक्लपक्ष मे भी रहता हे ओर कृष्ण पक्ष मे

भी रहता है, फिर भी एक को शुक्लपक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष क्यो कहते है? इसका कारण यही है कि एक पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अधकार का समर्थक है। इसी कारण दोनो पक्षो के नाम भिन्न–भिन्न है। साधारणतया देखा जाये तो पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपदा के दिन अधकार कम होता है और प्रकाश अधिक होता है, परन्तु वह पक्ष अधकार का पक्षपाती होता है इसी कारण उसकी गणना कृष्णपक्ष मे करते है। इसी तरह शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन नाम मात्र को ही प्रकाश होता है, फिर भी वह पक्ष पकाश का पक्षपाती है, इसी कारण उसकी गणना शुक्लपक्ष मे की गई है। ससार मे तो शुक्लपक्षीय लोग भी रहेगे और कृष्णपक्षीय भी रहेगे। मगर तुम विवेकपूर्वक विचार करो कि इन दोनो मे से तुम्हे किस पक्ष मे रहना है? तुम हिसा के पक्ष मे रहना चाहते हो या अहिसा के पक्ष मे रहना चाहते हो? विवेक के साथ तुम्हे निर्णय करना चाहिये।

शास्त्र मे शुभाशुभ भावो को शुक्लता और कृष्णता बतलाकर छह लेश्याओ के विषय मे विचार किया गया है। छह लेश्याओ मे तीन लेश्याए तो शुभ अर्थात् धर्म की द्योतक हैं और तीन अशुभ, अर्थात् पाप की द्योतक है। इन शुभो शुभ लेश्याओ को उदाहरण द्वारा समझाता हू।

अलग–अलग प्रकृति वाले छह मनुष्य कुल्हाडिया लेकर घर से बाहर निकले। रास्ते मे उन्होने आम्रफलो से झुका हुआ आम्रवृक्ष देखा। पके आम देखकर सब ने खाने का विचार किया। मगर वृक्ष बहुत ऊचा था। प्रश्न उपस्थित हुआ– आम किस तरह खाये जाए?

उन छह मे से एक ने कहा– अपने पास कुल्हाडी है। वृक्ष को मूल से ही काट गिराया जाये तो सरलता से आम ले सकेगे। इस प्रकार पहले मनुष्य ने केवल आमो के लिए सारे वृक्ष को ही काट डालने का विचार किया। शास्त्र कहता है, इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाला है। क्योकि वह थोडे–से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है। वृक्ष काट डालने से केवल उन्हे ही थोडे–से फल मिल जाएगे, परन्तु वृक्ष अगर कायम रहा तो न जाने कितने लोगो को आम मिलेगे। ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ मे अधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतारू हो गया है। वह कृष्णलेश्या वाला है।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा– 'भाई! सारा पेड काटने से क्या लाभ! और पेड की शाखाओ को काट लिया जाये तो भी फल मिल जाएगे और पेड भी कायम रह सकेगा। इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोडे लाभ के लिए

विशेष हानि करने की है, फिर भी पहले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी हे। अतएव दूसरा मनुष्य नीललेश्या वाला कहलाता है।

तीसरे मनुष्य ने कहा–'भाई! आम तने मे तो लगे नही। आम तो छोटी–छोटी डालियो मे लगते हैं, फिर वृक्ष की शाखा काटने से क्या लाभ हे? छोटी डालिया काट लेना ही अच्छा हे, इससे हमे आम भी मिल जाएगे ओर वृक्ष भी बचा रहेगा।' इस तीसरे मनुष्य के विचार के अनुसार कार्य होने मे हानि अधिक ओर लाभ थोडा–थोडा है, अतएव इसकी लेश्या कापोती होने के कारण पापकारिणी तो हे ही, फिर भी पहले और दूसरे मनुष्य की लेश्या की अपेक्षा यह लेश्या अच्छी हे। यह तीनो लेश्याए पापकारिणी ओर अप्रशस्त मानी जाती हैं।

चोथे मनुष्य ने कहा– 'भाई! डालिया काटने से पत्ते भी कट जाएगे और वृक्ष भी छाया देने योग्य नही रह जाएगा। हमे तो आमो से मतलब हे अतएव सब आम गिरा लिए जाए तो ठीक हे।' इस चोथे की भावना पूर्वोक्त तीनो की अपेक्षा प्रशस्त हे ओर इसीलिए उसकी लेश्या तेजोलेश्या कहलाती है। यह तेजोलश्या, पद्मलेश्या से हीन होने पर भी पहली तीनो लेश्याओ स अच्छी है। इसी लेश्या से धर्म का आरम्भ होता है।

पाचवे मनुष्य ने कहा– 'भाई! सभी आम गिराने से क्या लाभ? अगर पके–पके आम तोड लिए जाए तो ठीक हे। कच्चे आम जब पकेंगे तो दूसरा के काम आएगे।' इसकी लेश्या पद्मलेश्या हे। यद्यपि पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या से नीची हे, फिर भी पूर्वोक्त चारो की अपेक्षा प्रशस्त हे। यह लेश्या धर्मरूप हे।

छठा शुक्ललेश्या वाला मनुष्य हे। इसने कहा– भाइयो! तुम पक आम खाना चाहते हो तो फिर इतना अनर्थ क्यो करते हो? वृक्ष उदार हाता हे। वह पके फलो को अपने पास सग्रह करके नही रखता। लागा क हित क लिए नीचे गिरा देता हे। अगर अभी हवा चलेगी तो पके आम स्वय नीच गिर जाएगे। इसीलिए थोडी देर राह देखो।' इस मनुष्य की भावना अत्यन्त उच्च हे। इसे शुक्ललेश्या कहते हं। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या कही गई ह। यद्यपि आम तो सभी को खाने ह, परन्तु आम प्राप्त करने के प्रयत्ना म अन्तर हे।

इस प्रकार छह लेश्याओ मे तीन पापकारिणी ओर तीन धर्मकारिणी हैं। इसका कारण यही हे कि तीन लेश्याए पाप का पक्ष लन वाली ह ओर तीन धर्म का पक्ष लेने वाली हे। जिस व्यक्ति म धर्म हागा आर जो धर्म का पक्ष लेता होगा वह तो हिसा से वचने का ही प्रयत्न करेगा।

कहने का आशय यह है कि ससार मे हिसा और अहिसा, दोनो के स्वतन्त्र पक्ष हैं। परन्तु तुम्हे तो अहिसा का पक्ष लेना चाहिए और हिसा से बचना चाहिए। तुम्हारे लिए स्थूल हिसा त्याज्य है। स्थूल हिसा के भी दो भेद किये गये है। एक सकल्पी हिसा और दूसरी आरभी हिसा है। आरम्भ की हिसा का गृहस्थ त्याग नही कर सकता, अत उसकी गृहस्थ के लिए छूट है। खेती करने मे अगर कोई कीडा आदि मर जाए तो उससे तुम्हे कोई पापी नही कह सकता, अगर जान–बूझकर तुम कीडो को मारोगे तो अवश्य पापी कहलाओगे, क्योकि वह हिसा सकल्प की हिसा है। सकल्पी हिसा भी दो प्रकार की है– अपराधी की हिसा और निरपराध की हिसा। इनमे से निरपराध जीव को मारना तुम्हारे लिए वर्ज्य है। श्रावको को अपराधी को मारने का त्याग नही होता। किन्तु निरपराध जीव को मारने का त्याग श्रावक को करना ही चाहिए। निरपराधी जीव को सकल्प करके मारने से व्यवहार मे भी तुम पापी कहलाओगे। इस प्रकार तुम्हारे लिए चलते–फिरते जीव को (जो व्यवहार मे भी जीव माने जाते हैं) सकल्पपूर्वक मारने का त्याग करना आवश्यक है। स्थूल हिसा से बचना श्रावक का पहला अहिसाव्रत है।

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नही होता। लोग कहते हैं कि अहिसा का पालन करने से कायरता आती है परन्तु ऐसा कहना भूल है। जान पडता है, यह भ्रमपूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगो के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है। जैन धर्म गृहस्थ के लिए यह नही कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे। गृहस्थ के लिए जैन धर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नही ठहराया है और न अपराधी को दण्ड देने वाले को पापी ही कहा है। यह बात स्पष्ट करने के लिए यहा एक उदाहरण दिया जाता है –

जिस समय भारतवर्ष मे चारो ओर अराजकता फैलती जा रही थी और शक्तिशाली लोग अशक्तो को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवी ओर नौ मल्ली नामक अठारह राजाओ ने मिलकर एक गण–सघ की स्थापना की थी। इस गणसघ का उद्देश्य सबलो द्वारा पीडित निर्बलो की रक्षा करना था। गणसघ के अठारह गणराजाओ का गणनायक (President) चेटक राजा था। राजा चेटक या चेडा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था। आज तुम लोग ढीली धोती पहनने वाले बनिया बन रहे हो परन्तु जैन धर्म क्षत्रियो का धर्म हे। तुम्हे धर्म ने बनिया नही बनाया हे। तुम महाजन बने थे। व्यापार मे लग जाने के कारण आज तुम मे गुलामी का भाव आ गया ह ओर तुम बनिया बन गये हो।

स्वार्थ की अधिकता के कारण तुम्हारे हृदय मे कायरता और गुलामी घुस गई है। वास्तव मे वणिक नही, महाजन हो।

सशक्त लोगो से निर्बलो की रक्षा करने के लिए ही गणसघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी मे कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह भाई थे, जिनमे सबसे छोटे भाई का नाम बहिलकुमार था। बहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। बहिलकुमार को राज्य मे कोई हिस्सा नही मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही सतोष कर लिया था।

बहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्व क्रीडा करता था। लोग उसकी प्रशसा करते हुए कहते थे– राज्य के रत्नो का उपभोग तो बहिलकुमार ही करते है। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है! लोगो का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानो तक पहुचा। रानी ने विचार किया– 'किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य मे मगवाना चाहिए।' यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा– नाथ! राजा आप है, मगर राज्य के रत्नो का हार ओर हाथी का उपभोग बहिलकुमार करता हे। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही हे।'

कोणिक ने कहा स्त्रियो की बुद्धि बहुत ओछी होती हे। इसी कारण तू ऐसा कहती है। बहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी ह, मगर म तो सारे राज्य का स्वामी हू। इसके अतिरिक्त बहिलकुमार के पास हार ओर हाथी है तो कोई गेर के पास थोडे ही हे। आखिर हे तो मेरे भाई क पास ही न?

रानी पद्मा ने सोचा– मेरी यह युक्ति काम नहीं आई। अब दूसरा कोई उपाय काम मे लाना चाहिए। यह सोचकर उसने कोणिक स कहा– तुम्हे अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास हे, यह मुझे नही मालूम था। तुम्हे इतना विश्वास हे, यह अच्छा ही हे। मगर एक बार अपने विश्वासपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हे तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास ह आर तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता हे या नहीं?

कोणिक को यह बात पसन्द आ गई। उसने बहिलकुमार के पास सदेश भिजवा दिया– इतने दिनो तक हार आर हाथी का उपभाग तुमने किया हे। अब कुछ दिनो तक हम उपभोग करने दो।

यह सदेश पाकर बहिलकुमार ने सोचा अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पडी है। वह प्रत्येक उपाय से हार--हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा। मुझे राज्य मे कोई हिस्सा नही मिला। फिर भी मैने हार--हाथी पाकर ही सन्तोष मान लिया। अब यह भी जाने की तैयारी मे है।

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पडा और अपने नाना राजा चेटक की शरण मे जा पहुचा। बहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी घटना कह सुनाई। चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा-- 'तुम्हारी बात ठीक है।' राजा चेटक ने उन्हे अपने यहा आश्रय दिया।

बहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी-- तुम जिसे भाई--भाई कहकर ऊचा चढाते थे उसकी करतूत देख ली न! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है! उसने हार और हाथी नही भेजा। इतना ही नही, कदाचित् तुम जबरदस्ती हार--हाथी लूट लो, इस भय से वह अपने नाना की शरण मे भाग गया है। वहा जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नही भेजी। अब मै देखती हू कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो!

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बाते कहकर पद्मा ने कोणिक को खूब भडकाया। पद्मा की ये बाते सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा मै चेडा राजा के पास अभी दूत भेजता हू। अगर चेडा राजा बुद्धिमान होगा तो बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत चेटक के पास पहुचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर मे कहला दिया कि मेरे लिए तो कोणिक ओर बहिलकुमार, दोनो सरीखे है। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयो को राज्य मे हिस्सा दिया है उसी प्रकार बहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाये अथवा हार ओर हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाये।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय--अन्याय कौन देखता है? जिसके हाथ मे सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उगली उठाये, उधर ही पूर्व दिशा है।

चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा– हम राजा हैं। रत्नो पर राजा का ही अधिकार होता है। तुम्हे हमारे बीच मे पडने की कोई आवश्यकता नही है। बहिलकुमार को मेरे पास भेज दो। हम भाई–भाई आपस मे निपट लेगे।

दूत ने चेटक के पास पहुचकर कोणिक का सन्देश सुनाया।

कोणिक ने अपने सदेश मे राज्य का हिस्सा देने के विषय मे कुछ भी नही कहलाया था। अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया– अगर कोणिक, बहिलकुमार को राज्य मे हिस्सा देने को तैयार हो तो ठीक है। मगर उसने इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहलाया। ऐसी स्थिति मे बहिलकुमार को कैसे भेज सकता हू? सबलो से निर्बलो की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है।

दूत फिर चम्पानगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया। कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था। उसने राजा चेटक को कहला दिया– या तो बहिलकुमार को हार–हाथी के साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

चेटक राजा ने अपने गणसघ के सब सदस्यो को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया। ऐसी परिस्थिति मे क्या करना चाहिए इस विषय मे उनकी सम्मति पूछी। आगे–पीछे का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुचे कि– क्षत्रिय होने के नाते सबलो द्वारा सताये जाने वाले निर्बलो की रक्षा करना हमारा धर्म है। अपने गणसघ का उद्देश्य भी निर्बलो की रक्षा करना है। बहिलकुमार न्याय के पथ पर है। न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नही है। युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगो का कर्तव्य है।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने तक उतारू हो गए। परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोडा–सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो? स्वार्थ त्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। गणराजाओ जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाये तो तुम क्या करोगे? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि कहा का हार और कहा का हाथी! हमारा उससे क्या लेन–देन है? मगर क्या वे राजा लोग ऐसा नही सोच सकते थे? वास्तव मे इस प्रकार का विचार करना कायरता का काम है। वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नही करते। वे दूसरो की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते है। आज तो लोगो मे कायरता व्याप गई है। यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है मगर

लोगो का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है। यह कहना एक गम्भीर भूल है। धर्म के कारण कायरता कदापि नही आ सकती। वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं।

समस्त गणराजाओ के साथ चेडा राजा युद्ध के लिए तैयार होगया। इधर कोणिक राजा भी अपने दसो भाइयो के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ। यद्यपि कोणिक के दस भाई कह सकते थे कि हम सबको राज्य का हिस्सा मिला है तो बहिलकुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होने भी सत्ता के सामने मस्तक झुका दिया। इतिहासवेत्ताओ का कथन है कि गणराज्य प्रजातन्त्र राज्य के समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द थे और गरीबो पर अन्याय करते थे।

गणराजाओ की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया। वास्तव मे धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता हे। आज के प्रमुख तो कार्य करने के समय नौकरो को आगे कर देते है, परन्तु चेटक राजा स्वय अगुआ बना और उसने अपनी युद्धकला का परिचय दिया। राजा चेटक ने अपनी अचूक वाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयो का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयो के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्रो की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आए। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा– तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नही है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला– कुछ भी हो, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया– मै अधिक तो कुछ नही कर सकूगा, सिर्फ चेटक राजा के बाण से तुम्हारी रक्षा करूगा। मैं उनका बाणवेध चुका दूगा।

चमरेन्द्र बोला– तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेनावैक्रिय करूगा और रथमूसल का सग्राम वैक्रिय करके तुम्हे विजय दिलाऊगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ। अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामने युद्ध करने आ पहुचा। भगवान ने कहा–उस सग्राम मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य मारे गये।

भगवतीसूत्र मे भी एक ऐसा उदाहरण आया है। वरुण नागनतुआ नामक एक श्रावक था। यह श्रावक बेले–बेले पारणा करता था। वह चेटक राजा का सामन्त था। एक बार उसे युद्ध मे जाने के लिए कहा गया। उस समय उसके दूसरा उपवास था। क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध मे जाना उचित था? क्या वह नही कह सकता कि मै उपवासी हू, युद्ध में कैसे

जा सकता हू? परन्तु उसने कोई उत्तर न देते हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी ही चाहिए। स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है। अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नही है?

आज भारतवर्ष मे बडी हरामखोरी दिखाई देती है। जो लोग भारत का अन्न खाते हैं वही भारत की नाक काटने वाले कामो मे शामिल होते हैं। जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते हैं, उन्ही को वे अपनाते हैं। भारत की सभ्यता को, रहन–सहन आदि को भुला देते हैं। यह नमकहरामी नही तो क्या है? वायसराय गवर्नर आदि आते है ओर भारत का शासन करते हे पर उन्हे भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाए तो क्या वे कहना मानेगे? वे यही उत्तर देगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं, द्रोह करने नही। अतएव हम अपना वेश केसे छोड सकते हे? इस प्रकार अग्रेज लोग भारत मे रहते हुए भी अग्रेजी पोशाक पहन कर फूले नही समाते। यह कृतघ्नता के सिवाय और क्या है? पोशाक और रहन–सहन से मातृभूमि की पहचान होती है। मगर आज भारत का रहन–सहन बदल गया हे। सभ्यता बदल देने से मातृभूमि के प्रति द्रोह होता हे। देशहित की दृष्टि से भी भारतीय सस्कृति अपनाने योग्य है।

वरुण नागनतुआ वीर होने के कारण, ही उपवासी होता हुआ भी देशरक्षा के लिए युद्ध मे शामिल हो गया। मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज ओर धर्म का पतन हो रहा हे।

कहने का आशय यह हे कि चेटक राजा ओर वरुण नागनतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी सग्राम लडा। फिर भी उनका स्थूल अहिसाव्रत खण्डित न हुआ। इसका कारण यही हे कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे। ऐसी अवस्था मे उनका स्थूल अहिसाव्रत कैसे भग हो सकता था? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिसा मे नही होता। राज्य भी ऐसे कामो को अपराध नही गिनता। लोग अपराधी को दण्ड देने के समय दूर–दूर भागते हें ओर निरपराध के गले पर कलम कुठार चलाने के लिए तैयार हो जाते हें। यह उनकी कायरता हे।

उक्त कथन का आशय यह हे कि गृहस्थ धर्म मर्यादायुक्त है। गृहस्थ धर्म का पालन करने से आत्मा का विकास भी होता हे ओर सासारिक काम भी नही रुकता। जेन धर्म वीर का धर्म हे। इस वीर धर्म मे कायरता के लिए लेश मात्र भी गुजाइश नही। जिसमे वीरता होगी, वही जैन धर्म का भलीभाँति

पालन कर सकेगा। आज कायरता को पोषने का जो अपवाद जैन धर्म पर लगाया जाता है, उसका पधान कारण जैन कहलाने वालो का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है। अगर जैन धर्म का यथोचित पालन किया जाये तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए बिना नही रह सकता। धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नही कर सकता, वह दूसरो की रक्षा कैसे कर सकता है? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल पाप्त करने की आवश्यकता है।

तुम श्रावकधर्म का गम्भीर विचार करो और उसका भलीभाति पालन करने का प्रयत्न करो। अगर तुम सभी वस्तुओ के त्यागी होते या साधु होते तो तुम्हे इस विषय मे इतना अधिक कहने की आवश्यकता न होती। तुम गृहस्थ श्रावक हो और इसीलिए तुम्हे समष्टि का ध्यान रखकर नियम बनाना चाहिए। व्यक्तिगत प्रश्नो को एक ओर रखकर समष्टि के हित का श्रावको को खास ध्यान रखना चाहिए। अगर तुम अपने गृहस्थधर्म का बराबर पालन करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। अब मूल विषय पर आना चाहिए।

उपधि की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकार कहते है– जिसके प्रताप से आत्मा दुर्गति को प्राप्त हो, वह उपधि है। श्रीस्थानागसूत्र मे उपधि के तीन भेद कहे गये है– (1) कर्मउपधि, (2) शरीर उपधि और (3) बाह्य भडोपकरण उपधि।

कर्म भी उपधि है और इस उपधि के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुडा हुआ है। कर्म उपधि के कारण ही आत्मा को सुख–दु ख का अनुभव करना पडता है। परन्तु सुख–दु ख बाहर से आए है, इस प्रकार आत्मा का मानना भूल है। कर्म–उपधि के कारण ही आत्मा को शरीर धारण करना पडता है। आत्मा जब शरीरधारी बनता है तो उसे अनेक बाह्य वस्तुओ की भी आवश्यकता रहती है। आत्मा इन बाह्य वस्तुओ को अपनी मानकर भयानक भूल करता है। मकान लकडी पत्थर, मिट्टी आदि से बनता है। परन्तु आत्मा उसे अपना समझ बैठता है। जब तक मकान लकडी पत्थर आदि से नही बना था तब तक आत्मा को उसके प्राते ममत्व भाव नही था। परन्तु घर जब तैयार हो गया तब आत्मा ममत्व के कारण उसे अपना मानने लगा। इस प्रकार कर्म–उपधि और शरीर–उपधि के कारण ही बाह्य उपकरणो की आवश्यकता उपस्थित होती है और फिर उन बाह्य उपकरणो के प्रति ममता का भाव जाग्रत होता है। शास्त्र के कथनानुसार यह उपधि ही उपधि है। यह उपधि आत्मा को संसार–जाल मे फसाने वाली है। अतएव उपधि के त्याग का यथाशक्ति

प्रयत्न करो और बाह्य पदार्थो के प्रति जो ममत्वभाव बध गया हे उसे शक्य प्रयत्न द्वारा दूर करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि उपधि का त्याग किस प्रकार किया जाये और पदार्थो सम्बन्धी ममता का निवारण किस प्रकार किया जाये? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि धर्म की आराधना करने से उपधि का त्याग भी हो सकता है और ममत्व भी दूर हो सकता है। धर्म दो प्रकार का है, आगारधर्म अर्थात् गृहस्थधर्म और अनगारधर्म अर्थात् साधुधर्म। दोनो प्रकार के धर्म की श्रद्धा तो समान ही है, केवल स्पर्शना–आराधना मे अन्तर है। अतएव अगर आज तुम शास्त्र के इस कथन को जीवन मे सक्रिय रूप नही दे सकते तो इतना तो मानो कि उपधि, उपधि ही हे ओर आत्मा तथा इतर पदार्थ भिन्न–भिन्न है। सासारिक पदार्थो मे जितनी कम ममता होगी, उतना ही अधिक सुख मिलेगा और जितनी ज्यादा ममता होगी, उतना ही अधिक दु ख होगा। जब तक तुम इन पदार्थो की ममता मे फसे रहोगे, तब तक आत्मा की उन्नति नही हो सकेगी। आज का विज्ञान भी यही कहता है कि जो मनुष्य दूसरो के फदे मे फसा रहता है, वह अपना विकास नहीं कर सकता। ममत्व का त्याग करने वाला ही अपना विकास कर सकता है। कमल जल मे लिप्त होकर रहे तो उसका विकास नही हो सकता। वह जल से अलिप्त होकर जब बाहर निकलता है तभी उसका विकास होता हे। यही बात आत्मा के विकास के लिए लागू होती है। आत्मा भी जब तक बाह्य पदार्थो मे लिप्त रहता हे, तब तक वह अपना विकास नही साध सकता। जब वह पदार्थो के ममत्व–लेप से रहित हो जाता हे तभी अपना विकास साध सकता हे। इसीलिए शास्त्रकारो ने उपधि के त्याग का उपदेश दिया हे। भगवान् ने कहा हे– उपधि का त्याग करने से आत्मा कर्मरहित बनकर सिद्ध, बुद्ध ओर मुक्त वन सकता हे। इस प्रकार एक तरह की एक उपधि का त्याग करने से प्राप्त होने वाला फल कहा गया है। एक उपधि ऐसी भी हे जिससे सयम मार्ग की पुष्टि होती हे। प्रश्न किया जा सकता हे कि ओर तो उपधि का त्याग करने के लिए कहा जाता हे और दूसरी ओर उपधि से सयम की पुष्टि होना बतलाया जाता हे, इसका क्या कारण हे? इसका समाधान यह हे कि उपधि बन्धनरूप होन से त्याज्य हे और दूसरी, सयम मे सहायक होने के कारण, विवश होकर रखनी पडता हे। इसी कारण वह ग्राह्य हे। यह वात एक साधरण उदाहरण द्वारा विशेष स्पष्ट की जाती हे।

कल्पना करो, किसी मनुष्य के पैर मे फोडा हो गया है। डाक्टर ने मलहम लगा कर पट्टी बाधने के लिए कहा। डाक्टर के कथनानुसार उसने मलहम लगाया और पट्टी बाध ली। अब यहा विचारणीय यह है कि उसने कपडे की पट्टी ममता के कारण बाधी है या दुख दूर करने के लिए बाधी है ? आखिर वह पट्टी को छोड ही देने वाला है। मगर जब तक उसके पैर मे फोडा है तब तक उसे पट्टी बाधनी पडेगी। पैर मे फोडा न होता तो वह पट्टी क्यो बाधता? पैर मे पट्टी बाधने की इच्छा तो उसकी है नही, फिर भी फोडे की पीडा जब तक बनी है, तब तक विवश होकर उसे पट्टी बाधनी पडती है।

यह बात साधुओ की उपधि के विषय मे समझनी चाहिए। साधु सयम का पालन करने के लिए ही उपधि रखते हैं। अगर रखकर, अर्थात् वस्त्र, पात्र आदि सयम के साधन रखकर साधु अभिमान करे तो वह उसी प्रकार अनुचित है, जैसे फोडा न होने पर भी पट्टी बाधना अनुचित है। परन्तु जैसे फोडा होने पर पट्टी बाधना अनुचित नही है, उसी प्रकार निरभिमान होकर और अपनी अशक्ति को स्वीकार करके उपधि रखना साधुओ के लिए अनुचित नही है। शहरो मे कितने ही भिखारी भीख मागने के लिए पैर पर कपडा बाध कर ढोग करते है। ऐसा ढोग करना दूसरी बात है। ऐसा ढोग करके उपधि रखने वाले की सभी ने निदा की है। परन्तु फोडा होने पर जैसे पट्टी बाधना अनुचित नही है, उसी प्रकार सयम का पोषण करने वाली उपधि को, जब तक कर्मो का नाश न हो जाए, तब तक या उपधि त्याग करने की शक्ति आने तक, रखना अनुचित नही हे। हा, उपधि रखकर अभिमान करना या आनन्द मानना उसी प्रकार मूर्खता है, जिस प्रकार फोडा न होने पर भी पैर मे पट्टी बाधना मूर्खता है। भगवान् कहते है, जिस वस्तु की जितनी अनिवार्य आवश्यकता है, उतनी ही उपधि रखना चाहिए, परन्तु जिसकी आवश्यकता नही है और जिसका त्याग करने की शक्ति है, उस वस्तु को अपनाये रखना भी मूर्खता है। फिर भी जब तक उपधि रखनी पड रही है, तब तक किसी प्रकार का अभिमान न करना चाहिए। ऐसा न हो कि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अन्य वस्तुए रखे ओर फिर उन पर ममत्व एव अभिमान करे। फोडे पर जो पट्टी बाधी जाती हे वह आघात आदि से बचने के लिए ही हे, सुन्दरता बढाने के लिए नही। इस प्रकार साधु जो वस्त्र रखते हे सो लज्जा की रक्षा के लिए ही हे तथा शरीर को शीत और ताप के आघात से बचाने के लिए है, जिन्हे सहन करने की शक्ति साधु मे अभी तक नही आई हे। अतएव साधुओ को वस्त्र आदि रखने मे शृगार की

भावना से बचना ही चाहिए। शृगार की भावना होने पर वस्त्र आदि उपधि सयम मे वाधक सिद्ध होती हे।

शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग कर देना उचित नही। ऐसा करने से अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की सभावना रहती हे। जेसे फोडा मिटने से पहले ही पट्टी उतार देने से फोडे के बढ जाने का, पक जाने का या उसमे कीडे पड जाने का भय रहता हे, उसी प्रकार शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग करने से अनेक अनर्थ होने की सभावना रहती हे। अतएव उपधि का त्याग करने मे विवेक की आवश्यकता है। अगर शक्ति हो तब तो उपधि का त्याग करना ही चाहिए। अगर शक्ति न हो तो सयम के निर्वाह के लिए उपधि रखना कुछ बुरा नही हे। हा, उपधि के कारण अभिमान करना तो बुरा ही हे। शास्त्र कहता है कि साधुओ को तो ऐसी ऊची भावना भानी चाहिए कि वह शुभ अवसर कब मिलेगा जब मे सब प्रकार की उपधि का त्याग कर जिनकल्पी बनकर विचरूगा। जब साधुओ को ऐसी उच्च भावना भाने के लिए कहा गया हे तो फिर उपधि रखने के कारण साधुओ को अभिमान क्यो करना चाहिए? उपधि रखकर अभिमान करने से सयम का पोषण करने वाली सुमति भी दुर्गति के मार्ग पर ले जाने वाली बन जाती हे।

उपधि के त्याग से जीव को क्या लाभ होता हे? इस प्रश्न क उत्तर मे भगवान् ने फरमाया-- उपधि का त्याग करने वाला भय आदि क्लेश से रहित हो जाता हे, अर्थात् उसे किसी प्रकार का भय नही रहता। उपधि का त्याग करने से जीवात्मा किस प्रकार निर्भय बनता हे, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती हे--

मान लो, एक आदमी सोने का हार पहन कर जगल म गया हे ओर दूसरे आदमी ने सोने का कुछ भी गहना नही पहना। अब जगल म चार मिल जाये तो किसे भय लगेगा? अगर सोने का हार पहनने वाले के हृदय म हार के प्रति ममत्व न होगा ओर निर्भय होकर वह विचार करगा कि सोना क्या चीज हे? चोर ले जाये तो भले ही ले जाये, तो उसे भय होने का काई कारण नही। अगर हार के प्रति उसे ममता होगी ता चोर का भय लग बिना नही रहेगा। सोने के प्रति ममत्व होने के कारण कभी-कभी सोने के साथ जा जाने का भी भय हो जाता ह।

जिस प्रकार सोने के प्रति ममता न हान क कारण मनुष्य निर्भय बन जाता हे, उसी प्रकार उपधि का त्याग करन से जीवात्मा क्लशरहित हा जाता हे। वाह्य उपधि का त्याग करने के बाद कर्म की ओर शरीर की जा उपधि

शेष रह जाती है, उसके लिए भगवान् ने कहा– बाह्य उपधि की भाति कर्म और शरीर की उपधि का भी त्याग करना चाहिए। उपधि का त्याग करने से ज्ञान, ध्यान तथा स्वाध्याय भी भलीभाति हो सकता है। जब तक उपधि होती है तब तक उपकरणो की सार–सभाल भी रखनी पडती है और उनके उठाने–धरने की भी चिन्ता करनी पडती है। इसी प्रकार जब तक शरीर की उपधि बनी है, तब तक भोजन–पानी लेने के लिए जाने मे भी समय का भोग देना ही पडता है। अतएव उपधि का जितना त्याग हो सके, उतना ही अच्छा है। लेकिन अपनी शक्ति देखकर ही उपधि का त्याग करना उचित है। उपधि के त्याग की शक्ति न हो तो उपधि के कारण अभिमान नही करना चाहिए, वरन् ऐसी उच्च भावना भानी चाहिए कि मै उपधि का त्याग करने के लिए कब समर्थ हो सकूगा।

उपधि दो प्रकार की होती है– औधिक उपधि और औपग्रहिक उपधि। जिसके बिना काम चल ही नही सकता, अर्थात् जिस वस्तु की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, वह औधिक उपधि है और जो वस्तु किसी विशेष कारण से लेनी पडती है और कारण मिटने के बाद त्याग दी जाती है, वह औपग्रहिक उपधि कहलाती है। यह बात गृहस्थो की उपधि के लिए भी लागू पडती है और साधुओ की उपधि के लिए भी। साधु जघन्य बारह, मध्यम चोदह और उत्कृष्ट पच्चीस उपधि–उपकरण रख सकता है। इससे अधिक नही रख सकता। यहा निर्ग्रन्थ धर्म का ही वर्णन किया जा रहा है, अतएव यह मर्यादा निर्ग्रन्थ साधु के लिए बतलाई गई है। यहा गृहस्थ धर्म का वर्णन नही किया गया है, परन्तु इस कथन के आधार पर गृहस्थो को भी विचार करना चाहिए, और जितनी उपधि कम हो सके उतनी का त्याग करना चाहिए।

तुम श्रावक लोग जो सामायिक करते हो, सो उपधि के त्याग का अभ्यास करने के लिए ही है। अगर आज तुम उपधि का त्याग करने मे समर्थ नही हो तो उपधिरूप उपाधि मे रहते हुए भी अभिमान मत करो। बल्कि उपधि के प्रति ममत्व कम करके परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडो। ऐसा करने से एक दिन उपधि का त्याग करने मे सामर्थ्यवान् हो सकोगे। यह दुःख की बात है कि तुम लोग ससार–सम्बन्धी कार्यो मे बहुत समय व्यतीत कर देते हो, परन्तु परमात्मा को पसन्द आने योग्य कार्यों मे समय नही लगाते। अगर तुम चाहो तो व्यावहारिक कार्यो के साथ परमात्मा का नाम–स्मरण करके तथा परमात्मा को पसन्द आने वाले सत्कार्य करके आत्मकल्याण कर सकते हो। ऐसा होने

पर भी आत्मकल्याण न करना तुम्हारी कितनी बडी भूल है? पनिहारी पानी भरते समय अपनी सखियो से बाते भी करती जाती है और घडा गिर न जाय, इस बात का ध्यान भी रखती है। जैसे पनिहारी का चित्त घडे की ओर बराबर लगा रहता है, उसी प्रकार दूसरे काम करते हुए भी तुम अपने चित्त को परमात्मा मे पिरो दो तो कितना अच्छा हो? परमात्मा मे चित्त एकाग्र करने से आत्मा का हित भी होता है और चित्त भी स्वच्छ रहता है। मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है, अतएव मन जितना पवित्र रहेगा, उतना ही कल्याण होगा। मन को स्वच्छ रखने का सबसे अच्छा साधन परमात्मा का नाम स्मरण करना है। तुम्हारे शरीर को राजा कदाचित् बन्धन मे डाल सकता है, परन्तु मन को राजा तो क्या, कोई महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी बन्धन मे नही बाध सकता। मन तो स्वतन्त्र ही है। अतएव जेल मे भी अगर मन से परमात्मा का स्मरण किया जाये तो जेल भी कल्याण का धाम बन सकता है।

श्रीकृष्ण का जन्म कारावास मे हुआ था। वसुदेव और देवकी जब कारागार मे बन्द थे तब कृष्ण का जन्म हुआ। फिर भी क्या वे जेल मे दु ख मानते थे? अगर उन्होने कारागार को कष्टागार माना होता तो क्या वे श्रीकृष्ण के जन्म का आनन्द लूट सकते थे?

एक पुस्तक मे मैंने पढा है कि देवकी जेसी सहनशील स्त्री दूसरी नही हुई। देवकी मे स्त्रियो उचित अन्यान्य सद्गुण तो थे ही, परन्तु पति के वचन की रक्षा के लिए अपनी सतान को सोप देना और फिर समता रखना उसका बडा–भारी गुण था। सतान सभी को प्रिय होती हे। पशु–पक्षी भी अपनी सतान पर प्रेम रखते हें तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या हे? विशेषत स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा भी सतान के प्रति अधिक स्नेह पाया जाता है। परन्तु देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा के लिए ही अपनी प्राणप्रिय सतानो को मार डालने के लिए सोंप दिया! देवकी जब पुत्र को जन्म देती तो वसुदेव उससे कहते– 'में अत्यन्त पापी हू। मैंने जन्म होते ही सतान सोंप देने का वचन दे दिया हे। मगर तुम तो स्वय स्वतन्त्र हो, जो उचित समझो वह कर सकती हो।' इस प्रकार वसुदेव ऐसे अवसर पर काप उठते थे। देवकी के ऊपर ऐसे मोके पर दो उत्तरदायित्व आ पडते थे। एक तो पतिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिए पति के वचन का पालन करना और दूसरा सतान की रक्षा करना, जिसे उसने अभी जन्म दिया हे। ये दोनो यित्व परस्पर विरोधी थे ओर दोनो म से किसी एक का ही निर्वाह हो था। देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा को ही अधिक महत्त्व

दिया। देवकी मन मे विचार करती– मेरे पति काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर कोई अनुचित काम करते होते तो मैं उस काम का विरोध करती और पति को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती। परन्तु मेरे पति तो धर्म का पालन कर रहे हैं और धर्म की रक्षा के लिए अपनी सतान का भी उत्सर्ग कर रहे हैं। ऐसी स्थिति मे उनके कार्य को मै कैसे अनुचित कहू? मैं उनके कार्य मे कैसे बाधा डालू? इस प्रकार विचार करके देवकी बालक का जन्म होते ही वसुदेव को सौंप देती और कहती– यह बालक तो तुम्हारा ही है। मैं तो इसका पालन करने वाली दासी हू। इसलिए तुम्हे जो उचित प्रतीत हो, वही करो। वसुदेव भी क्षत्रिय और वीर पुरुष थे। वह भी अपने वचन का पालन करने के लिए दृढप्रतिज्ञ थे।

आज तुम लोगो ने कायरता के कपडे पहन लिये हैं और इसी कारण तुम धार्मिक कार्यो मे भी कायरता दिखलाते हो और जो वचन देते हो उसका बराबर पालन नही करते। मगर दिये हुए वचन का प्राणो का उत्सर्ग करके भी अवश्य पालन करना चाहिए। कहा भी है–

**सत मत छोडो शूरमा, सत छोडे पत जाय।**
**सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी आय।।**

दृढप्रतिज्ञ मनुष्य कदापि वचनभग नही करता। वचनभग करने से प्रतीति–विश्वास कम हो जाता है। अतएव वचन का पालन करके प्रत्येक का विश्वास–सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

विवाह के समय तुमने अपनी पत्नी को और तुम्हारी पत्नी ने तुम को क्या वचन दिया था? तुमने आपस मे कैसी प्रतिज्ञा ली थी? इस बात पर जरा विचार करो। पत्नी ने उस समय पतिव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा ली थी और पति ने पत्नीव्रत के पालन की। तुम विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञा तो लेते हो पर उसका बराबर पालन करते हो? पत्नीव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा लेने वाला पति अगर परस्त्री का सेवन करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होता है या नही? ज्ञानी के सामने ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा को पति या पत्नी भग करे तो कितना अनुचित है? अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक का कर्तव्य है।

वसुदेव अपनी प्रतिज्ञा के पालन मे दृढ रहे। वे यह विचारते थे कि सिर पर कितना ही सकट क्यो न आ पडे, धर्मपालन मे तो दृढ ही रहना चाहिए। धर्मपालन मे दृढ रहने वाले लोगो की सेवा करने के लिए देव भी लालायित रहते है। कहा भी है–

**देवा वि तं नमंसति, जस्स धम्मे सया मणो।**

अर्थात् धर्म मे दृढ रहने वाले धर्मात्माओ को देव भी नमस्कार करते हैं। इस कथन के अनुसार देवकी की सतान मारी नही गई। हरिणगमेषी देव ने उसकी सतान नाग गाथापति के घर पहुचा दी ओर नाग गाथापति की मृत सतान लाकर वसुदेव को सौंप दी। इस प्रकार सत्य पर दृढ रहने के कारण वसुदेव की किसी प्रकार की हानि नही हुई।

भाइयो! तुम भी सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखो। सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखने वालो की रक्षा हुई है, होती है ओर होगी। अगर तुम्हारे अन्त करण मे धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न नही होती तो यहा आना भी निरर्थक है। अतएव निर्ग्रन्थ वचन से बधे हुए हैं। आपके ओर मेरे बीच सम्बन्ध जोडने वाला निर्ग्रन्थ प्रवचन ही है। अतएव उस पर श्रद्धा रखकर सत्य का पालन करने वाले ओर देवकी जैसी पतिव्रता के घर ही श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषो का जन्म होता है। ऐसे महापुरुष जन्म लेकर क्या करते हैं, इस विषय मे गीता मे कहा है–

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।**

जब धर्म का अपमान होता हे ओर अधर्म का साम्राज्य फेलता हे, तव महापुरुष का जन्म होता है। वह महापुरुष धर्म की रक्षा करता हे। मनुस्मृति मे कहा है –'धर्मो रक्षति रक्षित' अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता हे, धर्म उस व्यक्ति की रक्षा करता हे। अत धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसका पालन करो और परमात्मा का स्मरण करने मे मन को तल्लीन कर दो। इसी मे स्व–पर का कल्याण हे।

गोतम स्वामी के इस प्रश्न से कि उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता हे कि उपधि रखने मे लाभ नही, वरन् उपधि का त्याग करने मे ही लाभ हे। इसलिए शास्त्र मे भी कहा गया हे–

**उवसमेण हणे कोह माणं मद्दवया जिणे।**
**मायामज्जवभावेणं लोह सतोसओ जिणे।।**

अर्थात् उपशम–क्षमा द्वारा क्रोध का नाश करो, मृदुता से मन को जीतो, आर्जव से माया को जीतो ओर सतोष से लोभ को जीतो।

क्रोध आदि को आत्मा का शत्रु माना जाये तो ही उन्ह जीता या नष्ट किया जा सकता हे। क्रोध तो साक्षात् शत्रु हे ही, अहकार भी आत्मा का शत्रु हे। अतएव क्षमा के द्वारा क्रोध को ओर नम्रता क द्वारा अहकार को जीतना चाहिए। जब आम के पेड मे फल लगते हैं तो वह नम जाता हे, मगर

एरण्ड नही नमता। अब विचार करो कि तुम आम जैसे बनना चाहते हो या एरण्ड सरीखे बनना चाहते हो? आम सरीखा बनने के लिए तुम्हे नम्रता सीखनी चाहिए। वास्तव मे ससार मे वही पुरुष यशस्वी बनता है, जिसमे अहकार नही होता और नम्रता होती है। जिसमे अहकार भरा है वह नष्टप्राय हो जाता है। अहकारी व्यक्ति का अहकार ही उसके नाश का कारण बन जाता है।

रावण का नाश अहकार के कारण ही हुआ था। वह अच्छी तरह जानता था कि सीता का हरण करके मैने अच्छा काम नही किया। मगर उसे अभिमान था कि मै लका का स्वामी हू, अब उसे वापिस कैसे लौटाऊ ! मदोदरी ने रावण को बहुत समझाया था –

**सासु नारि निज सचिव बुलाई,**
**पहुंचावहु जो चहहु भलाई।**

अर्थात् अगर तुम अपना और राज्य का भला चाहते हो तो आज ही अपने मन्त्री को बुलाकर सीता को वापस भेज दो। मन्दोदरी ने इस प्रकार रावण को समझाया। रावण भी यह समझ गया था कि सीता को वापस न करने से हानि ही होगी, मगर उसमे अहकार था। वह सोचता था कि मै जिस सीता को ले आया हू उसे वापस सौप देना मेरी कायरता कहलाएगी, लोग मुझे कायर कहेगे। इसी अहकार के कारण वह राम के पास सीता न भेज सका। इस अहकार का नतीजा यह हुआ कि रावण का नाश हो गया।

रावण तो अपने बल और वैभव आदि के कारण अहकार करता था, परन्तु तुम किस बूरते पर अहकार कर रहे हो? अहकार विनाश का मूल कारण है ऐसा समझ कर अहकार का त्याग करो और नम्रता धारण करो।

आम को कोई पत्थर मारे या लकडी मारे, वह तो सब को मीठे फल देता है। आम किसी पर क्रोध नही करता और न ऐसा अभिमान ही करता हे कि मै सब को मीठे फल देता हू! इसके विपरीत तुम सार–असार का विवेक कर सकने वाली बुद्धि–शक्ति के धनी हो, फिर भी साधारण–सी बात मे क्रुद्ध हो जाते हो ! और धन के मद मे चूर होकर व्यर्थ ही अहकार का प्रदर्शन करते हो ! जरा विचार करो यह कितनी बुरी बात है। क्रोध, अहकार वगेरह आत्मा के विकार हे। इस विकाररूप उपधि का त्याग करने मे ही लाभ हे। भगवान् महावीर ने भी यही बतलाया हे कि उपधि का त्याग करने से हानि नही, वरन् लाभ ही होता हे। उपधि का त्याग करने से आत्मा निसक्लेश बनता हे। आत्मा और परमात्मा मे उपधि के कारण ही अन्तर हे। उपधि का सर्वथा

विनाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नही रहेगा।

पानी तो सरोवर मे भी होता है और एक पात्र मे रखा हुआ पानी भी पानी ही है। पानी दोनो जगह है, मगर भिन्न–भिन्न स्थिति मे होने के कारण उसमे भेद है। अगर पात्र का पानी सरोवर के पानी मे मिला दिया जाये तो दोनो मे क्या भेद रह जाएगा? फिर तो दोनो पानी एकमेक हो जाएगे। जहा तक पात्र की उपधि थी वही तक भेद था। पात्र की उपधि हटते ही किसी प्रकार का भेद नही रहा।

इस साधारण–से मालूम होने वाले उदाहरण मे भी बहुत सार छिपा है। इस उदाहरण से सगठन के साथ एकतापूर्वक रहने का उपदेश मिलता है। अगर समाज मे ऊपर के उदाहरण का अनुकरण किया जाये तो बहुत सुधार हो सकता है। अगर कोई मनुष्य किसी दुर्गुण के कारण समाज से बहिष्कृत हुआ हो, और फिर वह प्रायश्चित्त लेकर, दुर्गुण का त्याग करके, फिर समाज मे सम्मिलित होना चाहे तो उसे समाज मे पूर्ववत् स्थान मिलना चाहिए। परन्तु आज समाज की स्थिति अस्तव्यस्त हो गई है और समाज व्यवस्था ठीक तरह नही चल रही है। समाज–सेवको को विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए समाज की व्यवस्था ठीक करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। समाज की व्यवस्था बराबर सुधर जाएगी तथा समाज मे सब को समान स्थान मिलेगा तो समाज की दशा भी अवश्य सुधर जाएगी।

कहने का आशय यह हे कि आत्मा ओर परमात्मा मे कर्मरूपी उपधि के कारण ही भेद हे। जो व्यक्ति कर्म की उपधि का त्याग कर देता हे, वह परमात्मामय बन जाता हे। इसीलिए परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना की गई हे कि–

**प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।**
**एक नदिया एक नार कहावत मेलो नीर भरो,**
**मिलके दोऊ एक रूप भई तो सुरसरि नाम परो।। प्रभुजी।।**
**एक लोहा पूजा मे राखत एक घर बधिक परो।**
**पारस तामे भेद ना राखत कचन करत खरो।। प्रभुजी।।**

गटर का पानी गन्दा ओर खराब होता हे ओर गगा का पानी निर्मल तथा अच्छा होता हे। सुना हे, काशीनगरी की सब गटर बहुत गन्दी हे ओर उन सब का गन्दा पानी गगा नदी मे जाता हे। गगा का पानी पवित्र ओर गटर

का अपवित्र माना जाता है, अतएव अगर गगा अपने पानी मे गटर का पानी न आने दे तो क्या तुम गगा को गगा कहोगे? गटर गन्दी होती है फिर भी गगा उसे अपने मे मिला लेती है और गटर को भी गगा रूप बना लेती है। जो अपनी अपवित्रता दूर करके पवित्र बनना चाहता है, गगा उसे अपने ही समान पवित्र बना लेती है।

जब गगा भी उपाधि का त्याग करके आये हुए गटर के पानी को अपने साथ मिला कर पवित्र बना देती है तो क्या परम पवित्र परमात्मा उपाधि का त्याग करके आये हुए प्राणियो को पवित्र नही बनाएगा? परमात्मा तो प्रत्येक प्राणी को– चाहे वह छोटा हो या बडा, उच्च हो या नीच हो, पवित्र बनाता है। उपाधि का त्याग करके आत्मा अगर परमात्मा के शरण मे जाये तो आत्मा परमात्मा बन जाता है। शास्त्रकार भी यही उपदेश देते हैं कि उपाधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझ कर आत्मोद्धार करो। आत्मोद्धार करने मे ही कल्याण है। जो व्यक्ति आत्मकल्याण करके पर का कल्याण करता है वही व्यक्ति पूजनीय माना जाता है।

लोग शकर को मानते हैं। पर किस कारण? इसी कारण कि शकर जगत् का कल्याण करने वाले माने गये हैं। 'शकर' की व्याख्या करते हुए कहा गया है– श करोतीति शकर, अर्थात् जो जगत् के दु ख दूर करके जगत्कल्याण करता है, वही शकर है। कहा जाता है कि समुद्र मथन करते–करते अन्य चीजो के साथ हलाहल विष भी निकला था। दूसरी चीजे तो दूसरे लोग ले गये पर हलाहल विष को कौन ले? इस विष को लेने के लिए कोई तैयार नही था। तब विष्णु ने शकर से कहा– आप देवाधिदेव हैं, अतएव जगत् की रक्षा के लिए विषपान करके कृतार्थ कीजिए। शकर भोले थे। जिसमे भोलापन होता है, वही जगत् की रक्षा के लिए तैयार होता है। राम भी भोले थे, इसी कारण वे राज्य का त्याग करके वन मे गये थे। ऐसे भोले ही परमात्मा के सन्निकट पहुचते है। महादेव भोले थे, अतएव उन्होने विषपान कर लिया।

महादेव ने तो जगत् की रक्षा के लिए विषपान किया था, परन्तु आज लोग महादेव के नाम पर गाजा–भाग आदि नशीली ओर विषैली वस्तुओ का उपयोग करते हे। जब मेने सयमधर्म स्वीकार नही किया था, वेराग्य अवस्था मे ही था, तब एक बार मुझे पास के गाव मे जाना पडा। मेरे पास एक आदमी था। उसने मुझसे पैसे मागे। मेने उससे पूछा कि पेसे किसलिए चाहिए? उसने उत्तर दिया– मुझे दारू पीना है और इसीलिए पेसो की आवश्यकता हे। में विरक्त अवस्था मे था। मेने उससे कहा– दारू पीने के लिए में पेसे नही दे

सकता। तब वह कहने लगा– दारू पीने मे हर्ज क्या है? दारू तो महादेव ने बनाई है।

इस प्रकार दारू आदि नशीली वस्तुओ का उपयोग करने मे महादेव कारण बतलाये जाते हैं। व्यसनी लोग महादेव को व्यसनपूर्ति का साधन बना लेते हैं जब कि भक्त लोग उन्हे भक्ति का भगवान् मानते हैं। वास्तव मे जगत् की रक्षा के अर्थ विषपान करने वाले शकर व्यसनी लोगो की व्यसनपूर्ति के साधन किस प्रकार हो सकते हैं? शकर को तो जगत् का कल्याण करने वाले लोग ही प्यारे लगेगे। महादेव ने विषपान करके विपत्ति को भी सपत्ति के रूप मे ग्रहण किया था और जगत् की रक्षा की थी। शकर बनने का यही मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करके महापुरुष महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य जगत्कल्याण के लिए स्वय कष्ट सहन करता है और विपत्ति को भी सम्पत्ति मानता है, वही मनुष्य महादेव या परमात्मा का भक्त है।

शास्त्र कहता है उपधि या उपाधि का त्याग करने से आत्मा सक्लेशहीन बनता है। शास्त्र की इस बात पर साधुओ को तो ध्यान देना ही चाहिए, मगर श्रावको के लिए भी यह बात समान रूप से लागू पडती है। शास्त्रकारो ने साधुओ के लिए सोने–चादी की चीजो का त्याग करके केवल काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की आज्ञा दी है। फिर काष्ठ के पात्रों पर ममता रखने की या उन्हे गृहस्थो के घर ताले मे बन्द रखने की इच्छा कितनी अनुचित है! अतएव साधुओ के लिये तो उपधि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उपधि का त्याग करना आवश्यक है। राम या भगवान् महावीर की प्रशसा उपधि का त्याग करने के कारण ही की जाती है। अतएव तुम भी त्याग का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखकर उपधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझो। विपत्ति के बादल चढ आवे तो ऐसी अवस्था मे घबराहट त्याग कर परमात्मा का स्मरण करो। इससे विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप मे परिणत हो जायेगी।

जादूगर धूल मे से रुपया पेदा करके उपस्थित जनता को आश्वर्यचकित कर डालता है। यह हाथ की चालाकी है। अगर धूल से रुपया बन सकता होता तो जादूगर क्यों पेसे की भीख मागता? वह भीख मागता है इसी से स्पष्ट जान पडता है कि यह हाथ की चालाकी है। परन्तु परमात्मा के नाम–स्मरण के जादू से सचमुच ही विपत्ति, सम्पत्ति बन जाती है। किसी ने कहा है–

**ताबे से सोना बने, वह रसाण मत झीख।**
**नर से नारायण बने, वही रसायन सीख।।**

आजकल ताबे से सोना बनाने वाले अनेक ठग देखे–सुने जाते है। इन ठगो के चमत्कार से बहुतेरे पढे–लिखे लोग भी प्रभावित हो जाते हैं। सुना है, एक बडा जागीरदार भी ठग के चमत्कार के चक्कर मे फस गया था। ठग ने जागीरदार से कहा कि तुम्हारे घर मे जितना सोना हो वह सब मेरे पास लाओ तो मै उसका दुगुना बना दूगा। इस प्रकार प्रलोभन मे फसाकर ठग जागीरदार को जगल मे ले गया। ठग ने वहा जागीरदार से कहा– अब तुम्हारे पास जो अच्छी से अच्छी घोडी हो ले आओ। इस सोने के चारो ओर घोडी की प्रदक्षिणा करना आवश्यक है। जागीरदार ने घोडी मगवाई। ठग घोडी पर सवार होकर कुछ देर तो उसे घुमाता रहा, फिर मौका देखकर और सोना उठाकर ऐसा भागा कि जागीरदार और उसके आदमी आखे फाडकर देखते रह गये।

इस प्रकार ताबे से सोना बनाने की ठगविद्या से अनेक लोग ठगे गये है। परन्तु आत्मा को परमात्मा बनाने का रसायन इतना उत्तम है कि उससे विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है। यह रसायन अनेक महापुरुषो द्वारा अनुभूत है। इस अनुभूत रसायन के द्वारा ठगे जाने का अणुमात्र भी अदेशा नही। इस रसायन के सेवन से आत्मा परमात्मा अथवा नर नारायण बन जाता है। ताबे से सोना बनाना तो ठगविद्या है। परन्तु आत्मा से परमात्मा प्रकटाना सच्ची सद्‌विद्या है। यही सद्‌विद्या मुक्ति का साधन है। इस साधन द्वारा आत्मा का कल्याण करो। इसी मे मानव–जीवन की सिद्धि है।



# सम्यक्त्व—पराक्रम

## भाग—4

# पैंतीसवां बोल

## आहार प्रत्याख्यान

वस्तुत आत्मा और परमात्मा एक है। आत्मा मे ज्ञान की किसी प्रकार की कमी नही है, परन्तु उसके ज्ञान पर आवरण आया हुआ है। वह ज्ञानावरण क्रिया के बिना दूर नही हो सकता। इसीलिए शास्त्र मे उसे क्रिया द्वारा नष्ट करने का उपदेश दिया गया है।

चौतीसवे बोल मे उपधि के त्याग के विषय मे कहा जा चुका है। जो व्यक्ति उपधि या उपाधि का त्याग करता है, वह अपनी शक्ति के अनुसार आहार का त्याग करता है। अत गौतम स्वामी अब भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते है कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

**मूलपाठ**

**प्रश्न– आहार पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– आहारपच्चक्खाणेण जीवियाससप्पओगं वोच्छिन्दइ, जीवियाससप्पओग वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमंवरेणं न सकिलिस्सइ।।35।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न–** भगवान्! आहार का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

**उत्तर–** आहार का त्याग करने से आत्मा जीवन की लालसा नष्ट [illegible] के कारण आहार के अभाव मे खेद नही पाता।

**व्याख्यान**

यह सूत्रपाठ बहुत सारपूर्ण है। इस मे महत्त्वपूर्ण बोधपाठ मौजूद है। [illegible] प्रत्येक वाक्य अर्थसूचक है। यहा लाभ पर विचार करना है कि [illegible] त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

यह शरीर आहार पर ही टिका हुआ है। यह सही हे कि शरीर को टिकाये रखने के लिए ओर वस्तुए भी सहायक हैं, परन्तु उनमे प्रधानता आहार की ही है। मकान या वस्त्रो के अभाव मे जीवन कायम रह सकता है। अफ्रीका के एक प्रदेश के विषय मे सुना जाता है कि वहा के निवासी वस्त्र नही पहनते, नग्न ही रहते हैं। जब वस्त्र ही नही पहने जाते तो आभूषण पहनने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह बात सभी समझते हैं कि मनुष्य मकान ओर कपडो के बिना भी जीवित रह सकता हे। मगर तुमने कभी सुना है कि आहार के बिना भी कोई प्राणी जीवित रह सकता हे? वास्तव मे जीवन कायम रखने के लिए आहार की अनिवार्य आवश्यकता है, और इसी कारण प्राण की व्याख्या करते हुए अन्नमयप्राण कहा गया हे।

जब शरीर आत्मा से भिन्न है, इस प्रकार का भेदज्ञान होता हे और जब वैराग्य की उत्पत्ति होती हे, तब शारीरिक परतन्त्रता दूर करने के लिए और आत्मा को शरीर–बन्धन से मुक्त करने के लिए धर्मात्मा पुरुष आहार का त्याग करते हैं। आहार के इस त्याग से जीव को क्या लाभ होता हे, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से किया हे।

आहार का त्याग करना सरल नही हे। शरीर–आत्मा का भेदज्ञान, स्व–पर की पहिचान तथा उत्कृष्ट वेराग्य जब उत्पन्न होता हे, तभी आहार का त्याग किया जा सकता हे। इस प्रकार आहार का त्याग करने वाला जीवन की आशा ही त्याग देता हे।

जीवन की आशा त्याग देने से होने वाला लाभ, शास्त्र मे आये हुए एक कथन का उल्लेख करके समझाता हू। भृगु पुरोहित के दोना पुत्रा ने अपन पिता को जीव की स्थिति बतलाते हुए कहा था –

**इमं च मे अत्थि इम च नत्थि, इमं च मे किच्चमिम अकिच्च।**
**तं एवमेव लालप्पमाण, हारा हरति इति कह पमाए।।**

यह मेरा हे, यह मेरा नही हे, यह काम मुझे करना हे, यह काम मुझे नही करना हे, इस प्रकार की घटना ससार मे दिन–रात चलती रहती है। जीवन छोटा ओर काम बहुत हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम पूरा नही कर सकता। आज दिन तक ऐसा नही हुआ कि किसी ने ससार के सब काम पूरे कर दिये हो ओर वह कृतकृत्य हो गया हो। ऐसा हो भी नहीं सकता। प्रत्येक जीव को यही तृष्णा लगी रहती है कि

मैने अमुक–अमुक काम तो कर लिया है, मगर अब अमुक काम करना शेष है। इस तृष्णा की पूर्ति कभी होती ही नही उदाहरणार्थ – कठ के आभूषण तैयार हुए कि हाथ के आभूषणो की बात चलने लगती है और हाथ के आभूषण भी कदाचित् तैयार हो गए तो पैरो के गहने तैयार करने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार चादी के आभूषण हो तो सोने के और सोने के हो तो हीरा–माणिक के जेवर गढवाने की लालसा बढती ही जाती है। इस तरह ससार मे तृष्णा का कही अन्त नही आता, वह तो उत्तरोत्तर बढती जाती है। परन्तु जब आत्मा मे शरीर–आत्मा का भेदविज्ञान प्रकट होता है, तब आत्मा इन सब वस्तुओ का त्याग कर देता है और तृष्णा को जीतकर सतोषामृत का पान करता है। आत्मा जब सन्तुष्ट बनता है तभी तो शाति का अनुभव होता है, अन्यथा यह आत्मा तृष्णा नदी मे बहता और गोते खाता हुआ दु ख उठाता है। पर भेदज्ञानी आत्मा ससार की बहुमूल्य समझी जाने वाली वस्तुओ को भी तुच्छ समझकर उनका त्याग कर देता है।

पुरोहित–पुत्र कहते है– पिताजी इस प्रकार ससारिक कार्य तो बहुत हैं और उन कार्यो के लिए हाय–हाय भी बहुत करनी पडती है। परन्तु जिसके आधार पर यह सब काम किये जाते है, वह आयुष्य भी प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। जब आयुष्य ही क्षीण हो जाता है तो सासारिक कार्य पूर्ण किस प्रकार होगे? कोई नही जानता, आयु कब पूर्ण हो जावेगी? महान् पुरुषो को भी पता नही होता कि कल क्या होने वाला है? फिर भी ससार मे प्राणी मात्र को सासारिक कार्यो की हाय–हाय लगी रहती है। कहने का आशय यह है, ससार–सम्बन्धी लालसा बढती ही चली जाती है, ओर जो बढती ही चली जाती है वह पूर्ण कैसे हो सकती है? लालसा की पूर्ति तो तभी सभव है, जब उसकी मर्यादा बाध ली जाये और उस मर्यादा के अनुसार आशा पूरी करने के लिए आयुष्य भी हो। लालसा की वृद्धि करते रहने से वह पूरी नही हो सकती। आशा की पूर्ति तो लालसा का त्याग करने से ही होती हे। आहार का त्याग करने वाला आशा–लालसा का त्याग कर देता है। वस्तुत जो व्यक्ति आशा–लालसा का त्याग करने के लिए ही आहार का त्याग करता है उसी व्यक्ति का आहार–त्याग उचित कहा जा सकता है।

इस प्रकार आशा का त्याग करने के लिए, जो व्यक्ति आहार का त्याग करता है उस आहार–त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है, इस

विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा– आशालता का उच्छेद करने के लिए आहार का त्याग करने वाला सर्वप्रथम तो जीवन जीने की लालसा त्याग देता है। वह विचारता है कि शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। इस प्रकार भेदविज्ञान पैदा होने से वह आहार–त्याग के साथ जीवित रहने की आशा का भी त्याग कर देता है। वह अनशनव्रत स्वीकार कर लेता है।

अनशनव्रत दो प्रकार का होता है इत्वरिक अनशन, यावज्जीवन अनशन। यावज्जीवन अनशन तो कोई विरला ही करता है, परन्तु इत्वरिक अनशन का अभ्यासी पुरुष यावज्जीवन अनशन करने का साहस कर लेता है। इत्वरिक अनशन करना एक प्रकार से यावज्जीवन अनशन करने का अभ्यास करना ही है।

कुछ लोगो का कहना है– 'जैन आहार का त्याग करते है, यह भी एक प्रकार की हिसा है। आहार का त्याग करना या मरना, दोनो बाते समान हैं। आहार के बिना शरीर टिक नही सकता। कडकडाती भूख लगने पर अगर भोजन नही खाया जाता तो उस समय शरीर का रक्त–मास खाया जाता है। इस प्रकार आहार का त्याग करना आत्महत्या करने के समान है।

गीता के एक श्लोक का अर्थ करते हुए भी कुछ लोग इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करते है। मगर ऐसा कहने वाले लोग भूल करते है। आहार–त्याग करना अथवा उपवास करना जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है। अनेक लोग इस समय भी उपवास का महत्त्व समझ कर उसे प्राकृतिक ओषध के रूप मे स्वीकार करते हैं। उपवास करने से शरीर का रक्त–मास नहीं खाया जाता। उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता है, मगर उससे शरीर को किसी प्रकार की हानि नही पहुचती। शरीर कृश होने से शारीरिक शक्ति का ह्रास नही हो जाता। आजकल वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा दूध सुखा लिया जाता है ओर उसका ठोस पदार्थ बना लिया जाता है। उसे पानी मे मिलाने से फिर वह दूध बन जाता है। जैसे उस दूध मे शक्ति नष्ट नही होती उसी प्रकार उपवास करने से शरीर के कृश हो जाने पर भी उसकी शक्ति का नाश नही होता। इसके विपरीत यदि उपवास विधिपूर्वक किया जाये और उपवास समाप्त होने पर शीघ्र ही आहार की वृद्धि न की जाय, तो शरीर की कृशता के दूर हो जाने के साथ ही साथ शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएगे। यह बात कपोलकल्पित नहीं, अनुभूत है। जिसे इस कथन मे सदेह हो वह

अपना वजन करके कम से कम एक दिन का उपवास कर देखे और दूसरे दिन फिर वजन करे। उसे विश्वास हो जायेगा कि उपवास करने से किसी भी प्रकार शारीरिक शक्ति क्षीण नही होती।

उपवास से शरीर कृश हो जाता है और रोग से भी शरीर कृश हो जाता है। मगर दोनो प्रकार की कृशता मे बहुत अन्तर है। लोग उपवास के अभ्यासी नही, दवा के अभ्यासी है और इसी कारण उन्हे उपवास करने से शरीर के निर्बल, निस्तेज और कृश हो जाने की भ्रान्ति बनी हुई है। वास्तव मे उपवास तो शरीर को स्वस्थ बनाने की एक अमोघ प्राकृतिक औषध है। अगर इस प्राकृतिक औषध का महीने मे छह बार सेवन किया जाये तो शरीर मे किसी प्रकार का रोग ही न रहने पाए और न डाक्टर की शरण मे जाना पडे। मगर जब हम उपवास करने का उपदेश देते है तो तुम हमारे कथन की उपेक्षा करते हो और जब बीमार पडते हो और डाक्टर 6–7 दिन के लिए लघन–उपवास करने की सलाह देता है तब इच्छा या अनिच्छा से भी तुम्हे उपवास करने के लिए मजबूर होना पडता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के नियमो का बराबर पालन करे और स्वेच्छापूर्वक प्रतिमाह 4–6 उपवास करने की आदत डाले तो शरीर रोगी न बने और न डाक्टर की शरण न लेनी पडे।

सिर्फ शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से किये जाने वाले उपवास परिपूर्ण नही कहे जा सकते। ऐसे उपवास से शारीरिक लाभ होता है, परन्तु सच्चा उपवास तो वही है जो आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए किया गया हो। उपवास की व्याख्या करते हुए कहा गया है – **'उप समीपे वसतीति उपवास ।'** अर्थात् आत्मा को परमात्मा के समीप पहुचाने के लिए आत्मध्यान करना और आत्मचिन्तन करने के लिए आहार का त्याग करके जीने की आशा का भी त्याग कर देना ही सच्चा उपवास है। उपवास तो परमात्मा के पास पहुचने का एक मार्ग है। इस प्रकार सच्चा उपवास करने से शरीर–स्वास्थ्य का आनुषगिक लाभ तो होगा ही, परन्तु उपवास का असली प्रयोजन – परमात्मा के निकट पहुचना भी सिद्ध होगा। जैसे पनिहारी अपने घर के लिए घडे मे पानी भर लाती है ओर इस कारण वह शकुनवती भी कहलाती है, उसी प्रकार परमात्मा की शरण मे जाने के लिए [illegible] [illegible] उपवास से आत्मिक लाभ के साथ शारीरिक लाभ भी होता है।

उपवास करने से परमात्मा की शरण मे किस प्रकार जा सकते है [illegible] परमात्मा की शरण मे जाने के लिए आत्मा को क्या करना चाहिए, इस [illegible] मे गीता मे कहा है –

**विषय विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन-।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।**

अर्थात् निराहार रहने से विषयरूपी पक्षी तो ऊड जाता है, परन्तु विषयो की वासना नही मिटती। विषयो की जो वासना उपवास करने पर भी शेष रह जाती है, उस वासना का उच्छेद करने के लिए परमात्मा की शरण ग्रहण करना आवश्यक है। उपवास करने से विषय तो दूर हो जाते है, परन्तु विघ्नरूप जो वासना बाकी रह जाती है, वह परमात्मा की शरण मे जाकर दूर की जा सकती है। तपश्चरण द्वारा विषयेच्छा भी समूल नष्ट की जा सकती है और इसलिए बाह्य तथा आभ्यन्तर तपश्चरण किया जाता है। बाह्य तपश्चरण से विषय निवृत्त हो जाते हैं और आभ्यन्तर तप द्वारा अर्थात् परमात्मा की शरण ग्रहण करने से विषयो की वासना भी मिट जाती है और चित्त की शुद्धि भी हो जाती है।

आज के लोग दवा के ऐसे अभ्यासी बन गये हैं कि दवा के नाम पर वे अखाद्य और असेव्य पदार्थ भी खा जाते और सेवन करते है। इस प्रकार की भ्रष्ट दवा से बचने के लिए तथा अन्त करण को शुद्ध करने के लिए उपवास करना शारीरिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अत्यावश्यक है। तपश्चरण करने वाला भ्रष्ट दवा के सेवन से बच सकता हे और अपने अन्त करण को भी शुद्ध कर सकता है।

कोई–कोई लोग उपवास के नाम पर खान–पान मे ही मशगूल रहते है। कल उपवास करना हे, ऐसा विचार करके कुछ लोग हलुवा आदि गरिष्ठ पदार्थो से पहले ही पेट भर लेते हे। जेन शास्त्रो का कथन हे कि उपवास की यह विधि नही हे। धारणा ओर पारणा के दिन एक ही बार भोजन करने से चतुर्थभक्त उपवास होता हे। अर्थात् धारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से, पारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से ओर उपवास के दिन दो बार का भोजन त्यागने से ही चतुर्थभक्त उपवास कहलाता हे। खान–पान की लालसा रोककर, विधिपूर्वक उपवास करने वाला अनेक गुना लाभ प्राप्त करता हे।

हम तुम सब लोगो को सुख का ही मार्ग बतलाते ह ओर कहते हे कि सुख कही बाहर से नही आता। सुख कहा से आता हे, इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा हे–

**सुखस्य दु खस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीतिकुबुद्धिरेषा।।**

अर्थात् अविवेकी लोग ही कहते हैं कि दूसरे ने हमे सुख या दु ख दिया है। ज्ञानीजनो का कहना है कि दूसरा न सुख दे सकता है और न दु ख ही दे सकता है। तुम भी शायद यह समझते हो कि दूसरो ने हमे अमुक दु ख दिया है, परन्तु अगर तुम अपना मन शात और पवित्र रखो तो कदापि नही कह सकोगे कि कोई दूसरा हमे सुख–दु ख देता है। मन को शान्त और पवित्र रखने से दु ख पैदा ही नही होता। अतएव अपना मन शात और पवित्र बनाने के लिए परमात्मा तथा तपश्चरण की शरण ग्रहण करो। अपना आत्मा ही सुख–दु ख का कर्ता और हर्ता है, ऐसा मानने से दु ख भी सुख मे परिणत हो जाता है।

केतुमती ने अजना को मातृगृह भेज दिया था और मायके वालो ने भी उसे अपने घर न रखकर जगल मे भेज दिया था। परन्तु अजना ने जगल मे भी यही माना कि सास ने मुझ पर कितनी बडी कृपा की कि मुझे जगल मे भेज दिया और मुझे जगल मे महात्मा के दर्शन का लाभ हुआ। इस प्रकार अजना ने अपने दु ख को भी सुखरूप मे परिणत कर लिया। क्या तुम भी सकट के समय शान्ति धारण करते हो ? तुम अजना का नाम–स्मरण करते हो, परन्तु अजना का नाम–स्मरण किसलिए करते हो, इसका भी विचार करो और मन को शान्त तथा पवित्र रखने का प्रयत्न करो।

मोरबी के दीवान साहब कहते थे कि चार महीनो तक व्याख्यान सुनने के बाद भी हम लोग तो जैसे के तैसे ही रहेगे। क्या दीवान साहब का कथन सही है? तुम कैसे भी रहो, इस विषय मे मुझे किसी प्रकार का दुर्भाव नही लाना चाहये। मुझे यह भी विचार नही करना चाहिए कि मैने इतना उपदेश दिया, मगर परिणाम कुछ भी न आया। मुझे तो यह विचारना चाहिए कि मै जो–कुछ करता हू, अपने कर्मो की निर्जरा करने के लिए ही करता हू। दूसरा कोई सुधरे या न सुधरे, इस झझट मे मुझे नहीं पडना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुझे तो ऐसा ही प्रयत्न करना है कि मेरे आत्मा को सुख–शाति मिले। शास्त्र मे दो प्रकार के निमित्तकारण बतलाये हे पुष्ट और अपुष्ट। जो निमित्तकारण केवल सम्बन्ध जोडते है, वे पुष्ट कहलाते हैं और जो सम्बन्ध जोडते भी हैं और तोडते भी हैं, वे अपुष्ट निमित्तकारण कहलाते हैं। पुष्ट निमित्तकारण सबध जोडता ह तोडता नही ह। जेसे फूल तेल को फुलेल तो बना देता है मगर उसके चिकनेपन को नष्ट नही करता। अत तेल फुलेल होने

पर भी पहले की भाति जल सकता है। अपुष्ट कारण चाक को घुमाने वाले डण्डे के समान होता है। वह घडा बनाता भी हे और घडे को नष्ट भी कर सकता है।

साधू दूसरो के दिल को जोडने वाला होना चाहिए, तोडने वाला नही। अर्थात् साधू को किसी का दिल नही दुखाना चाहिए। साधू दूसरे का सुधार भले चाहे, मगर उसका दिल दुखाकर नही, त्यागधर्म का उपदेश देकर, उसे समझा–बुझाकर उसके जीवन–सुधार का प्रयत्न करना चाहिए। साधू जो–कुछ करे, कर्म की निर्जरा के लिए करे। इसी मे स्व–पर का लाभ है। त्याग एक ऐसी वस्तु है कि जिससे हानि होने का कुछ भय नही है। त्याग से कल्याण ही होता है। त्यागमार्ग कल्याण का मार्ग है।



# छत्तीसवां बोल

## कषाय–प्रत्याख्यान

शास्त्र कहता है– आत्मन्! तुझमे अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। तू उसका उपयोग नही करता, यह तेरी भूल है। तू अपने शक्ति–सामर्थ्य को काम मे ले। आत्मा के सामर्थ्य को विकसित करने के लिए त्याग करने की आवश्यकता रहती है। त्याग के विषय मे ही यहा विचार चल रहा है। गौतम स्वामी अब कषाय के त्याग के विषय मे प्रश्न करते है–

### मूलपाठ

**प्रश्न**– कषायपच्चक्खाणेण भते! जीवे कि जणयइ?

**उत्तर**– कसायपच्चक्खाणेण वीयराग भाव जणयइ। वीयराग भावपडिवन्ने वि यण जीवे समसुहदुक्खे भवइ।।36।।

### शब्दार्थ

**प्रश्न– भगवन्! कषाय का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?**

**उत्तर– कषाय का त्याग करने से वीतराग भाव उत्पन्न होता है और वीतरागभाव को प्राप्त जीव के लिए दु ख और सुख समान बन जाते है।**

### व्याख्यान

कषाय–त्याग के विषय मे विचार करने से पहले यह विचारणीय हे कि आहार–प्रत्याख्यान के बाद कषाय–प्रत्याख्यान के विषय मे प्रश्न क्यो किया गया है? आहार–प्रत्याख्यान के साथ कषाय–प्रत्याख्यान का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं कि सभोग–प्रत्याख्यान, उपधि–प्रत्याख्यान और आहार–प्रत्याख्यान तभी सफल होते हे, जब कषाय

का त्याग कर दिया जाय। कषाय का त्याग किये बिना ऊपर के सभी त्याग सफल सिद्ध नही होते। सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग भी कषाय का त्याग करने के उद्देश्य से ही किया जाता है।

सभोग मे रहने से किसी को कुछ कहने और सुनने का प्रसग आ जाता है। इससे बचने के लिए सभोग का त्याग किया जाता है। उपधि रखने से सदैव यह भय बना रहता है कि कोई उसे ले न जाये? इस भय से मुक्त होने के लिए उपधि–त्याग किया जाता है। आहार के लिए अनेक प्रकार के क्रूर कर्म भी करने पडते है और अनेक प्रकार की उपाधिया भी बटोरनी पडती है। इनसे छुटकारा पाने के लिए आहार का त्याग किया जाता है। परन्तु जब तक कषाय का त्याग नही किया जाता, तब तक ये सब त्याग निष्फल है अथवा अल्पफलदायी ही सिद्ध होते है।

कषाय का त्याग करने पर भी अगर सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल होता, तो कुटुम्बक्लेश के कारण घर का त्याग कर देने वाले लोग भी सभोग के त्यागी कहलाते। इसी प्रकार बहुत–से लोगो के पास किसी प्रकार की उपधि नही होती तो क्या वे उपधि के त्यागी माने जा सकते है? क्या उन्हे साधुओ की श्रेणी मे रखकर वदन–नमस्कार किया जा सकता है? नही। पशु निरुपधि होने पर भी उपधि के त्यागी नही कहलाते हे, क्योकि उन्होने ज्ञानपूर्वक उपधि का त्याग नही किया हे। इसी प्रकार दुष्काल के समय बहुत–से लोग अन्न के अभाव मे मर जाते हैं। क्या उन्हे आहार का त्यागी कहा जा सकता हे? नही। क्योकि उनके पास आहार नही हे ओर उन्हे अनिच्छापूर्वक आहार का त्याग करना पडता हे। अगर उन्हे आहार उपलब्ध होता तो, वे स्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करने के लिए तेयार नही थे। कहने का आशय यह हे कि सभोग, उपधि ओर आहार आदि का त्याग कषाय का त्याग करने के लिए ही किया जाता हे। कषाय के त्यागी बने विना सभोग, उपधि ओर आहार आदि का त्याग सफल नही हो सकता।

कषाय का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता हे? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया हे कि कषाय का त्याग करने से सभोग, उपधि ओर आहार का त्याग सफल होता हे तथा जीवन मे वीतरागभावना उत्पन्न होती हे।

कषाय के त्याग से किस प्रकार वीतरागभावना उत्पन्न होती हे, इस विषय पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक हे कि कषाय क्या हे ओर किसलिए उसका त्याग किया जाता हे?

जिससे ससार की वृद्धि होती है, वह कषाय है। अर्थात् राग और द्वेष, जो कर्मबीज है और क्रोध, मान, माया, लोभ, जो ससारवृद्धि के कारण हैं, उन्हे कषाय कहते है। जिन मलिन परिणामो द्वारा नरक आदि की प्राप्ति या वृद्धि होती है, वे मलिन परिणाम भी कषाय है। सक्षेप मे, जिस चित्तवृत्ति द्वारा ससार की वृद्धि हो, वह कषाय है।

शास्त्रकारो ने कषाय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है–

**कोहो य माणो य अनिग्गहीया,**
**माया य लोहो य पवड्ढमाणा।**
**चत्तारि एए कसिणा कसाया,**
**सियति मूलाइं पुणब्भवस्स।।**

अर्थात् पुनर्जन्म की जड को सीचने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय है। क्रोध और मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभवृत्ति बढती जाने वाली है, अर्थात् माया तथा लोभ का कही अत नही है। ये हमेशा बढते ही चले जाते हैं। ये कषाय ससारवृद्धि करने वाले हैं, अत त्याज्य ही है।

कषाय की वृद्धि होने के कारण नरक आदि नीच गतियो मे तथा ससारचक्र मे परिभ्रमण करना पडता है। कषाय जीवात्मा को कर्मबन्धन से विशेष बद्ध करता है। कषाय के कारण कर्मबन्धन से छुटकारा नही मिलता। राग–द्वेष से कर्मो का बन्ध होता है और कषाय से कर्मबधन मजबूत होता है। ससारचक्र मे से छूटने के लिए, पुनर्भव के फदे से मुक्त होने के लिए तथा कर्मबधन को ढीला करने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है।

कषाय की तीव्रता के कारण ही नरक आदि नीच गतियो मे जाना पडता है। नरक कही बाहर से नही आता। वह तो अपने ही परिणामो मे है। कितने ही लोग दु ख माथे पर आ जाने के समय हाय–तोबा मचाने लगते हैं। वे यह नही सोचते कि दु ख कहा से और कैसे आया है ? दु ख न बाहर से आते है और न आये ही है, वे तो अपने ही मलिन परिणामो की उपज है। मलिन परिणामो का त्याग करना ससार पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है। साथ ही मलिन परिणामो के अधीन होना ससार के अधीन होने के समान है। अतएव जल्दी से जल्दी कषाय का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय मे यह बात अकित कर रखनी चाहिए कि 'कषाय की बदोलत ही [illegible] स्वाधीन आत्मा पराधीनता मे पडा है। आत्मा को स्वाधीन बनाने के लिए कषायशत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहिए।'

जो स्थान और कारण कषाय उत्पन्न करने वाला है, वही स्थान और कारण कषाय को जीतने वाला भी है। यह बात स्पष्ट करने के लिए भी उत्तराध्ययनसूत्र मे आया हुआ एक उदाहरण तुम्हे सुनाता हू।

एक बार एक क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को जान से मार डाला। मृत क्षत्रिय की पत्नी उस समय गर्भवती थी। वह क्षत्रियपत्नी विचार करने लगी– मेरे पति मे थोडी–बहुत कायरता थी, तभी तो उनकी अकालमृत्यु हुई। वे वीर होते तो अकाल मे मृत्यु न होती। क्षत्रियपत्नी की इस वीरभावना का प्रभाव उसके गर्भस्थ पुत्र पर पडा। आगे चल कर यह पुत्र वीर क्षत्रिय बना।

माता अपने बालक को जैसा चाहे, वैसा बना सकती है। माता चाहे तो अपने पुत्र को वीर भी बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है। साधारणतया सिह का बालक सिह ही बनता हे और सूअर का बालक सूअर ही बनता है। उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता, परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार वीर या कायर बनाया जा सकता है।

क्षत्रियपत्नी ने अपने बालक को वीरोचित्त शिक्षा देकर वीर क्षत्रिय बनाया। क्षत्रियपुत्र वीर होने के कारण राजा का कृपापात्र बन गया।

एक दिन राजा ने क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा लेने का विचार किया। राजा ने सोचा– शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए क्षत्रियपुत्र को भेजने से एक पथ दो काज होगे। एक तो शत्रु वश मे आ जायेगा, दूसरे क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा भी हो जायगी।

इस प्रकार विचार कर राजा ने क्षत्रियपुत्र को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना के साथ भेज दिया। क्षत्रियपुत्र वीर था। वह तेयार होकर शत्रु को जीतने के लिए रवाना हुआ। उसने शत्रु की सेना को अपनी वीरता का परिचय दिया, परास्त किया और शत्रु राजा को जीवित ही केद करके राजा के सामने उपस्थित किया। राजा क्षत्रियपुत्र का पराक्रम देख बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने उचित पुरस्कार देकर उसका सत्कार किया। सारे गाव मे क्षत्रियपुत्र की वीरता की प्रशसा होने लगी। जनता ने भी उसका सम्मान किया। क्षत्रियपुत्र प्रसन्न होता हुआ अपने घर जाने के लिए निकला। रास्ते मे वह विचार करने लगा – आज मेरी माता मेरी पराक्रमगाथा सुनकर अवश्य प्रसन्न होगी। घर पहुचते ही वह सीधा माता को प्रणाम करने और उसका आशीर्वाद लेने गया। पर जब वह माता के पास पहुचा तो उसने देखा– माता

रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है। माता को रुष्ट और क्रुद्ध देखकर पुत्र विचार करने लगा कि मुझसे ऐसा कौन–सा अपराध बन गया है जिससे माता रुष्ट और क्रुद्ध हुई हैं? आजकल का पुत्र होता तो माता को मनचाहा सुना देता। परन्तु उस क्षत्रियपुत्र को तो पहले से ही वीरोचित शिक्षा दी गई थी कि –

**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।**

अर्थात् माता देवतुल्य है, पिता देवतुल्य है, और आचार्य देवतुल्य है। अतएव माता, पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नही करनी चाहिए।

यह सुशिक्षा मिली होने के कारण क्षत्रियपुत्र ने नम्रतापूर्वक माता से कहा– माँ, मुझसे ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध है? मेरा अपराध मुझे बतलाइए जिससे मै उसके लिए आपसे क्षमायाचना कर सकू।

माता बोली– जिसका पितृहन्ता शत्रु मौजूद है, उसने यदि दूसरे शत्रु को जीता भी तो उससे क्या हुआ?

क्षत्रियपुत्र ने चकित होकर पूछा– क्या मेरे पिता का घात करने वाला शत्रु अभी तक जीवित है?

माता– हा, वह अभी तक जीवित है?

क्षत्रियपुत्र– ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यो नही?

माता – मै तुम्हारे पराक्रम की जाच कर रही थी। अब मुझे विश्वास हो गया है कि तू वीर पुत्र है। अब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है, तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को भी अवश्य परास्त कर सकेगा। तेरा सामर्थ्य देखे बिना शत्रु के साथ भिड जाने की बात मै कैसे कहती?

क्षत्रियपुत्र माता का कथन सुन और उत्तेजित हो कहने लगा– माताजी मै अभी शत्रु को पराजित करने जाता हू। अपने पिता के वैर का बदला लिए बिना मै हरगिज नही लौटूगा। इतना कह कर वह चल दिया।

दूसरी ओर क्षत्रियपुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना– जिसे मैने मार डाला था, उसका वीर क्षत्रियपुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का वैर भजाने के लिए मेरे साथ लडाई करने आ रहा है। यह जानकर उस क्षत्रिय ने विचार किया– वह बडा वीर है और उसकी शरण मे जाना ही हितकर है। इसी मे मेरा कल्याण है। इस तरह विचार करके वह क्षत्रियपुत्र के सामने गया और उसके अधीन हो गया। क्षत्रियपुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर अपनी

माता के पास आया। उसने माता से कहा– इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है। इसे पकड कर तुम्हारे पास ले आया हू। अब जो तुम कहो, वही दण्ड इसे दिया जाय।

माता ने अपने पुत्र से कहा– इसी से पूछ देख कि इसके अपराध का इसे क्या दण्ड मिलना चाहिए?

पुत्र ने शत्रु से पूछा– बोलो, अपने पिता के वैर का बदला तुम से किस प्रकार लिया जाये?

शत्रु ने उत्तर दिया– तुम अपने पिता के वैर का बदला उसी प्रकार लो, जिस प्रकार शरण मे आये हुए मनुष्य से लिया जाता है।

क्षत्रियपुत्र की माता सच्ची क्षत्रियाणी थी। उसका हृदय तुच्छ नही, विशाल था। माता ने पुत्र से कहा– बेटा, अब इसे शत्रु नही, भाई समझ।

जब वह शरण मे आ गया है, तो शरणागत से बदला लेना सर्वथा अनुचित है। शरण मे आया हुआ कितना ही बडा अपराधी क्यो न हो, फिर भी भाई के समान ही है। अतएव यह तेरा शत्रु नही, भाई के समान ही हे। मैं अभी भोजन बनाती हू। तुम दोनो भाई साथ बैठ कर आनन्दपूर्वक जीमो। सगे भाइयो की तरह साथ–साथ जीमो ओर प्रेमपूर्वक रहो, मे यह देखना चाहती हू।

माता का कथन सुनकर पुत्र ने कहा– माताजी! तुम पितृघातक शत्रु को भाई बनाने को कहती हो, सो तो ठीक हे, परन्तु मेरे हृदय मे जो क्रोधाग्नि जल रही हे, उसे मे किस प्रकार शान्त करू?

माता ने उत्तर दिया – पुत्र! किसी मनुष्य पर क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करने मे कोई वीरता नही हे। क्रोध पर ही क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करना अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची वीरता हे। भगवान महावीर ने तो कहा हे, 'उवसमेण हणे कोह।' अर्थात् उपशम–शान्ति से क्रोध को जीतना चाहिए। इसी प्रकार बोद्धशास्त्र म भी कहा हे –

**न हि वेरेण वेराणि समन्तीधी कदाचन।**
**अवेरेण वेराणि ऐस धम्मो सनन्तनो।।**

अर्थात् इस ससार म वेर से वर कदापि शान्त नही होता। अपर – प्रेम से ही वेर शान्त होता हे। प्रेम से वेर शान्त करना ही सनातन धर्म है।

असली खूबी तो शान्ति– क्षमा से क्रोध को शान्त करने मे ही है। क्रोध भयकर शत्रु है। इस शत्रु को क्षमा से जीतना ही सच्ची वीरता है। नमीराज ने भी इन्द्र से कहा था –

**जो सहस्स सहस्साण सगामे दुज्जए जिणे।**
**एगे जिणेज्ज अप्पाणं, एस सो परमो जयो।।**

**– उत्तराध्ययन, 9**

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रोध को अक्रोध से जीतत्ता है, वही सच्चा वीर है। इसी प्रकार जो कषाय पर विजय प्राप्त करता है, वही सच्चा वीर है। कषायो पर विजय प्राप्त करने मे ही वीरता है।

माता का आदेश पाकर पुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पितृहन्ता शत्रु को गले लगाया। दोनो ने सगे भाइयो की तरह साथ–साथ भोजन किया।

कहने का आशय यह है कि जो स्थान कषाय उत्पन्न करने का है, वही स्थान कषाय जीतने का भी है। वे वास्तव मे वीर पुरुष है जो अपने शत्रुओ को भी मित्र बना लेते हैं। सच्ची वीरता तो इसी मे है कि क्रोध को अक्रोध शान्ति, क्षमा से जीता जाये और शत्रुओ को भी मित्र बना लिया जाये। शत्रुता जब मित्रता के रूप मे परिणत हो जाती होगी, तब कैसा अनिर्वचनीय आनन्द आता होगा!

यह तो शास्त्र की बात हुई। इतिहास मे भी ऐसे उल्लेख देखने–जानने को मिलते है। उदयपुर के पृथ्वीराजजी और उनके काका सूरजमलजी दिन–भर एक–दूसरे के साथ युद्ध करते थे और शाम के समय दोनो एक साथ बैठ कर भोजन करते थे और फिर युद्ध मे लगे हुए एक–दूसरे के घावो पर पट्टी बाधते थे। परन्तु आजकल तो लोगो के मन इतने अधिक सकुचित तथा मलिन हो गये है कि साधारण–सी बात मे भी क्लेश करने लगते हैं।

कषाय को जीतने का सरल मार्ग यह है कि बैरी को भी अपना हितैषी समझ लिया जाए। शत्रु भी मित्र की भाति हमारा उपकार करता हे, ऐसा समझ कर उसके प्रति सद्भाव प्रकट करना चाहिए। पेर मे चुभे हुए काटे को निकालने के लिए सुई चुभोनी पडती है या डाक्टर ऑपरेशन करता हे तो क्या उन पर नाराजगी प्रकट करनी चाहिए? नही। लोग यही मानते हैं कि डाक्टर हमारा हित करता ह। जिस प्रकार डाक्टर पीडा पहुचाने पर भी हितेषी माना जाता है उसी प्रकार तुम्हारा वैरी भी तुम्हारा हित करता हे – ऐसा मानो

और उसके प्रति वैरभाव न रखो तो तुम अवश्य ही कषाय को जीत सकोगे। कषाय को जीतने से आत्मकल्याण होगा।

कषाय को जीतने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है– कषाय को जीतने से जीवात्मा वीतरागभाव प्राप्त करता है। अतएव जो जितने अश मे कषाय को जीतत्ता है, वह उतने ही अश मे वीतरागभाव उत्पन्न करता है। हा, यह स्मरण रखना चाहिए कि विवेकपूर्वक कषाय को जीतने से ही फल की प्राप्ति होती हैं। कषाय जीतने के बहाने जीवन मे कायरता न आ जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए। कायर कषाय को जीत नही सकता। 'कमजोर, गुस्सा बहुत' लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है। शक्ति होने पर भी क्षमा धारण करने मे ही वीरता है। शक्तिहीन क्षमा कायरता का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए कहा गया है– 'दाण दरिद्दस्स खमा पभुस्स।' अर्थात् दरिद्रावस्था मे दिया गया दान और प्रभुता होने पर की गई क्षमा विशेष महत्त्वपूर्ण है। अशक्ति के कारण क्रोध को दबा रखना और मन ही मन दुर्भाव रखना तथा खोटे सकल्प–विकल्प करना, कषाय जीतने का सच्चा मार्ग नही है।

कितने ही लोग कषाय को न जीतने पर भी कह देते हे कि हमने कषाय को जीत लिया है ओर हमारे मे वीतरागभाव विद्यमान हे। ऐसा कहने वालो की परीक्षा करने की शास्त्र मे एक युक्ति बतलाई हे। वह युक्ति यह हे कि जिन्होने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली होती हे, उनके लिए सुख ओर दु ख एक–सरीखे हो जाते हैं। कषायविजयी का धर्म बतलाते हुये मृगामाता ने मृगापुत्र से कहा था –

**लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।**
**समो निंदा पससासु, तहा माणावमाणओ।।**

अर्थात् लाभ–अलाभ, सुख–दु ख, जीवन–मरण, निन्दा–प्रशसा तथा मान–अपमान वगेरह मे जो समानभाव रखता हे, वही सच्चा कषाय–विजयी मुनि हे।

जिस प्रकार साधुओं को समानभाव रखने का उपदश दिया गया है उसी प्रकार श्रमणोपासकों को भी यह उपदेश जीवन म उतारना है।

कहने का आशय यह हे कि श्रमणोपासका को भी श्रमणा क समान सुख ओर दु ख मे, लाभ ओर अलाभ मे तथा निन्दा आर प्रशसा म समभाव – समानवृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिए। समानवृति कषाय–विजय का चावी ह। सामायिक आदि छह आवश्यक भी कषाय पर विजय प्राप्त करने

और उसके प्रति वैरभाव न रखो तो तुम अवश्य ही कषाय को जीत सको
कषाय को जीतने से आत्मकल्याण होगा।

कषाय को जीतने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्त
भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है– कषाय को जीतने से जीवात्मा वीतराग
प्राप्त करता है। अतएव जो जितने अश मे कषाय को जीतत्ता है, वह उ
ही अश मे वीतरागभाव उत्पन्न करता है। हा, यह स्मरण रखना चाहिए
विवेकपूर्वक कषाय को जीतने से ही फल की प्राप्ति होती हैं। कषाय जी
के बहाने जीवन मे कायरता न आ जाए, इस बात का सदैव ध्यान रर
चाहिए। कायर कषाय को जीत नही सकता। 'कमजोर, गुस्सा बहुत' लोके
तो प्रसिद्ध ही है। शक्ति होने पर भी क्षमा धारण करने मे ही वीरता
शक्तिहीन क्षमा कायरता का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए कहा गया
'दाण दरिद्दस्स खमा पभुस्स।' अर्थात् दरिद्रावस्था मे दिया गया दान
प्रभुता होने पर की गई क्षमा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अशक्ति के कारण क्रोध
दबा रखना और मन ही मन दुर्भाव रखना तथा खोटे सकल्प–विकल्प कर
कषाय जीतने का सच्चा मार्ग नही है।

कितने ही लोग कषाय को न जीतने पर भी कह देते है कि ह
कषाय को जीत लिया है और हमारे मे वीतरागभाव विद्यमान है। ऐसा क
वालो की परीक्षा करने की शास्त्र मे एक युक्ति बतलाई है। वह युक्ति यह
कि जिन्होने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली होती है, उनके लिए सुख
दु ख एक–सरीखे हो जाते हैं। कषायविजयी का धर्म बतलाते हुये मृगाम
ने मृगापुत्र से कहा था –

**लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।**
**समो निदा पससासु, तहा माणावमाणओ।।**

अर्थात् लाभ–अलाभ, सुख–दु ख, जीवन–मरण, निन्दा–प्रशसा त
मान–अपमान वगैरह मे जो समानभाव रखता है, वही सच्चा कषाय–वि
मुनि है।

जिस प्रकार साधुओ को समानभाव रखने का उपदेश दिया गया
उसी प्रकार श्रमणोपासको को भी यह उपदेश जीवन मे उतारना है।

के लिए ही प्रतिदिन किये जाते है। तुम श्रमणोपासक हो, अर्थात् समभाव के उपासक हो। अतएव समानभाव का अभ्यास करो और कषाय जीतने का प्रयत्न करो, इसी मे तुम्हारा कल्याण है।

कषाय को जीतने से वीतरागभाव प्रकट होता है। वीतरागमार्ग जिन– भगवान् का मार्ग है। जैन का अर्थ भी विजेता होता है। राग–द्वेष और कषाय पर विजय पाप्त करने वाला ही सच्चा जैन है और वही वीतराग के मार्ग पर चलने वाला है। जो नाम से जैन है, उसे काम से भी बनना चाहिए। जिस मनुष्य के जीवन मे सच्चा जैनत्व प्रकट होता है, वह अपने कषाययुक्त जीवन को निष्कषाय बना लेता है और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होता है। कषायो पर विजय प्राप्त करने मे सच्चा जैनत्व छिपा है। यह जैनत्व ही जैन–जीवन है और जैन–जीवन जीने मे ही कल्याण है।



# सैंतीसवां बोल

## योग–प्रत्याख्यान

जीवात्मा के गुणो का विकास क्रमपूर्वक होता है, शास्त्र का वर्णन भी क्रमपूर्वक है। जब आत्मा अपने गुणो का विकास करके तेरहवे गुणस्थान तक पहुच जाता है तब आत्मा मे कषाय नहीं रहता, किन्तु योग बना रहता है। ईर्यापथिकी की क्रिया तेरहवे गुणस्थान मे होती है, यद्यपि वह सूक्ष्म होता है। जो योग तेरहवे गुणस्थान मे भी रहता है, वह क्या है? और उस योग का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस सबध मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते है –

### मूलपाठ

**प्रश्न– जोगपच्चक्खाणेण भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्त जणयइ। अजोगी ण जीवे नव कम्मं न बधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ।। 37।।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न** – भगवान्! योग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर** – योग (मन, वचन और काय के व्यापार) का त्याग करने मे जीव अयोगी (मन, वचन, काय के व्यापार से रहित) होता है और ऐसा अयोगी जीव नवीन कर्मो का बन्ध नही करता और पहले बाधे हुए कर्मो को सर्वथा दूर कर देता है।

### व्याख्यान

इस सारगर्भित सूत्र पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीव और कर्म का आपस मे क्या सबध है? और इस सबध

का विच्छेद करके जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है ? योग कर्मबन्ध का प्रधान कारण है, अत यह विचार कर लेना आवश्यक है।

कुछ लोगो का कहना है कि जब जीव और कर्म का प्रबध अनादिकाल से है तो फिर जीव कर्मबन्ध से किस प्रकार विमुक्त हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म अनादिकाल से नही है। कर्म बदलते रहते है, अत कर्मो का धारावाहिक प्रवाह ही अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे नदी का धाराप्रवाह चल रहा है। इस जलधारा मे पानी बद्ध होकर नही रहता, बदलता रहता है। फिर भीतर–ऊपर पानी आता–जाता रहने के कारण धाराप्रवाह भग नही होता। इसी प्रकार कर्म भी जाते–आते रहते है, फिर भी कर्म का पवाह भग नही होता, और इसी कारण कर्म अनादिकालीन कहलाते हैं। परन्तु वास्तव मे कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नही होता। कर्मो के इस चलते हुए पवाह को अगर रोक दिया जाये तो कर्मो का आगमन रुक जाता है। जैसे ऊपर से आने वाले नदी के पानी को रोक दिया जाए तो नदी का धाराप्रवाह बन्द हो जाता है। उसी प्रकार यदि आते हुए कर्मो को रोक दिया जाए तो कर्मो का धारावाहिक प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्म क्षीण भी हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मो के आस्रव को बन्द करने से कर्मो का धाराप्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्मो का अन्त हो जाने से जीवात्मा कर्मरहित बन जाता है।

शास्त्र कहते हैं– आते कर्मप्रवाह को रोक लेने से जीव कर्मरहित बन जाता है। जीवात्मा को कर्मरहित बनने के लिए पहले सम्यक्त्व द्वारा मिथ्यात्व को रोकने की आवश्यकता है, अव्रत को व्रत–प्रत्याख्यान द्वारा रोकने की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रमाद को अप्रमाद से तथा कषायो को क्षमा आदि से रोक देना आवश्यक है। कषायो को रोक दिया जाये तो सिर्फ योग ही शेष रह जाता है। इस योग का निरोध करने से जीव कर्मरहित बन जाता है।

आज तात्त्विक ज्ञान की बहुत ही कमी दिखाई देती है। मगर जीवन मे तात्त्विक ज्ञान की खास आवश्यकता है। आज बहुत–से लोगो को तो चौदह गुणस्थानो के नाम तक नही आते। किन्तु जीव और कर्म का सबध जानने के लिए तत्त्वज्ञान की और उस तत्त्वज्ञान को जीवन मे सक्रिय रूप देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जीव को कर्मरहित बनाने के लिए कषाय का सर्वथा क्षय करना आवश्यक है। परन्तु कषाय का सर्वथा क्षय तो बारहवे गुणस्थान मे होता है और उसके बाद जीवात्मा तेरहवे गुणस्थान मे जाता है। बारहवे गुणस्थान की

स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और तेरहवे गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्महूर्त की और उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व की है। इस तेरहवे गुणस्थान मे पहुचने पर भी योग बाकी रह जाता है। अतएव गोतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा कि योग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा– जो जीव योग का त्याग करता है वह अयोगी होता है। जीव अयोगी हुए बाद नवीन कर्म नही बाधता और पुराने कर्मों का नाश करता है।

योग के त्याग पर विचार करे, इससे पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि योग क्या है और योग का त्याग किसलिए आवश्यक हे ?

शास्त्रीय भाषा मे योग का लक्षण कहा है–

**कायवाङ्मन कर्म योग ।**

अर्थात् मन, वचन ओर काय के व्यापार को योग कहते हैं।

योग शब्द युजि योगे धातु से निष्पन्न हुआ है। ग्रथो मे योग के पाच भेद बतलाए गये हैं – 1 क्षिप्तवृत्ति, 2 मूढवृत्ति, 3 विक्षिप्तवृत्ति, 4 एकाग्रवृत्ति और 5 निरोधवृत्ति।

जिसमे राग–द्वेष के कारण चचलता रहती है और जिसमे रजोगुण की प्रधानता रहती है, उसमे क्षिप्तवृत्ति रहती है।

जो ऊपर से शात मालूम होती है, पर वास्तव मे शात नही हे, उसे मूढ कहते है। इस प्रकार जिसमे आलस्य, निद्रा आदि की तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है उसमे मूढवृत्ति होती हे।

जिस अवस्था मे सतोगुण का प्रकाश तो हो, परन्तु उस प्रकाश पर रजोगुण और तमोगुण की छाया बार–बार पडती रहती हो, वह विक्षिप्त अवस्था कहलाती है।

इस प्रकार क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति ओर विक्षिप्तवृत्ति द्वारा आत्मा का विकास नही होता। आत्मा का विकास करने के लिए आत्मा को एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति का अभ्यास करने की आवश्यकता हे।

एकाग्रवृत्ति कैसी होती है, इसे समझने के लिए दीपक का उदाहरण दिया गया है। निश्चल दीपक की शिखा स्थिर होने के कारण डगमगाती नजर नही आती। परन्तु वह शिखा प्रकाश की अपेक्षा स्थिर दिखाई देने पर भी पुद्गल की दृष्टि से तो अस्थिर ही हे। उस शिखा के परमाणु निरन्तर

बदलते रहते है। दीपक का तेल समाप्त हो जाता है, यही शिखा के बदलते रहने का प्रमाण है। ज्ञानीजनो का कथन है कि एकाग्रावस्था मे शिखा की भाति स्थिरता जान पडती है। तथापि उस अवस्था मे भी थोडी चचलता रहती ही है। एकाग्रावस्था मे थोडी–बहुत जो चचलता रहती है, वह निरोधवृत्ति से दूर हो सकती है। निरोधवृत्ति मे समाधिभाव रहता है। इस प्रकार एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति आत्मा को निश्चल बनाती हैं और दो वृत्तियो द्वारा मन, वचन तथा काय का व्यापार बन्द किया जाता है, तभी आत्मा समाधिभाव प्राप्त कर सकता है।

तेरहवे गुणस्थान तक एकाग्रवृत्ति रहती है। पाचवी निरुद्धावस्था या निरोधवृत्ति चौदहवे गुणस्थान मे पहुचने के बाद आती है। यह वृत्ति थोडे समय तक ही रहती है। श्री भगवतीसूत्र और ऊववाईसूत्र मे धर्मध्यान तथा शुक्लयान के नाम से गम्भीर विचार किया गया है।

कहने का आशय यह है कि जब आत्मा अपने गुणो का विकास करके तेरहवे गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान मे पहुचता है तब उस अवस्था मे आत्मा यदि मन, वचन, काय के योग का त्याग कर दे तो आत्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया– योग का त्याग करने से आत्मा अयोगी बनता है और अयोगी होने के बाद वह पुराने कर्मो का नाश करता है तथा नवीन कर्मो का बन्ध नही करता। इस प्रकार आत्मा जब अयोगी बनता है तब ईर्यापथिक क्रिया द्वारा लगने वाले कर्म भी बन्द हो जाते है और भावोपग्राही चार कर्म, अर्थात् आयुकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म भी नष्ट हो जाते है। इन चार कर्मो के नष्ट होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

यह तो योगनिरोध अथवा योग का त्याग करने से होने वाले लाभ की बात हुई। मगर यह विचार करना आवश्यक है कि हमे करना क्या चाहिए? योग का निरोध करने की शक्ति न हो तो क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति तथा विक्षिप्तवृत्ति दूर करने का क्रमश प्रयत्न करना ही चाहिए।

कई लोग विक्षिप्तावस्था मे आनद मानते हैं और नाटक, सिनेमा देखकर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि नाटक, सिनेमा आदि मे वास्तविक आनद नही है। यह तो विक्षिप्त अवस्था है। कितने

ही पढे–लिखे लोग भी विक्षिप्तावस्था मे लीन रहते हैं। धन आदि के उपार्जन मे धर्म–कर्म को भी भूल जाते हैं। अगर शिक्षित लोग भी आत्मधर्म को न समझे, तो उनका शिक्षण किस काम का? सच्ची विद्या तो वही है जिसके द्वारा मनुष्य वचन से मुक्त हो जाये। शिक्षा का सच्चा फल तो आत्मा को उन्नत बनाने मे तथा एकाग्रता और निरुद्धावस्था पाप्त करना ही है। चचल चित्त का निरोध करने मे शिक्षा का सदुपयोग किया जाये तो ठीक है, वरना शिक्षा से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता।

मनुष्य और पशु का अन्तर तो स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु कई बार मनुष्य पशु से भी अधिक पतित बन जाता है। जो मनुष्य सिर्फ खान–पान मे ही रचा–पचा रहता है और जरा भी धर्म–कर्म नही करता, वह मनुष्य पशु से भी अधिक पतित कहा जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि हम मिष्ट तथा विशिष्ट भोजन करने के कारण मनुष्य हैं। इस कथन के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि भोजन तो पशु भी करता है, पर उसमे सार–असार का विवेक नहीं होता। मनुष्य–समाज विवेक–ज्ञान के कारण ही पशुओ और पक्षियो से ऊचा है। मनुष्य मिष्ट और विशिष्ट भोजन करके फूला नही समाता, परन्तु वह जो भोजन करता है, उस भोजन के निर्माण का विज्ञान उसमे नही है। मधुमखियो मे मधु उत्पन्न करने का जो विज्ञान है, वह मनुष्यो मे कहा है? मधुमक्खिया फूलो से रस लेकर जैसा मधु तैयार करती हैं, वैसा मधु क्या मनुष्य तैयार कर सकता है? मधुमक्खिया मधु पैदा करना भी जानती और मधु का सग्रह करना भी जानती हैं। सर्वप्रथम मधुमक्खिया छत्ता बनाती हैं और उसमे बराबर के खाने बनाकर थोडा–सा मोम लगाती हैं और फिर उसमे मधु भरती है। मधुमक्खियो की यह कला मनुष्य के विज्ञान को भी लज्जित कर देती है। मधुमक्खिया छत्ता बनाने मे कुशल कारीगर के समान कला का उपयोग करती है और अपनी कुशल कारीगरी का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त वे मिल–जुल कर काम करती हैं। उनकी कार्यव्यवस्था बडी सुन्दर होती है। मधुमक्खियो की एकता, सुदृढता, कार्यव्यवस्था और तन्मयता आदि गुण मनुष्य–समाज को सीखने योग्य है।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य को प्रत्येक काम विवेकपूर्ण करना चाहिए। जो मनुष्य विवेक–ज्ञान का उपयोग न करके सिर्फ खाने–पीने मे,

नाटक, सिनेमा देखने मे तथा सासारिक सुख भोगने मे ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठता है, उसमे और पशु मे कुछ अन्तर नहीं। मनुष्यो और पशुओ मे धर्म तथा विवेक–ज्ञान का ही अन्तर है। अगर मनुष्यो मे विवेक–ज्ञान न हो और धर्मबुद्धि न हो तो उनमे और पशुओ मे कुछ अन्तर नही। विवेकहीन मनुष्य की अपेक्षा तो मधुमक्खिया चतुर हैं। कहना चाहिए कि विवेकहीन पुरुष से उद्यमशील मधुमक्खिया अनेकगुणी अच्छी है। इन मक्खियो के उद्योगमय जीवन से एक शिक्षा तो अवश्य ग्रहण करने योग्य है। यह शिक्षा जीवन को उद्यमशील बनाने की है। कहा भी है–

**माखी होए मधु कीधु, न खाधुं न दान दीधुं।**
**लूटनारे लूटी लीधु, रे पामर प्राणी चेते तो चेतावुं तोने रे।।**

मधुमक्खिया मेहनत करके मधु तैयार करती हैं और उसका सग्रह करती है। वे न स्वय मधु खाती हैं और न किसी को देती हैं। फिर क्या उनका बनाया मधु पडा रहता है? नही। लुटेरे लोग आते हैं और उनके परिश्रमपूर्वक तैयार किये मधु को लूट ले जाते हैं।

बहुत–से लोग प्रसन्नता के साथ मधु खाते हैं, परन्तु उन्हे यह पता नही होता कि मधु आता कहा से है? वे तो मधुमक्खियो के परिश्रम से सगृहीत मधु लूट कर अपने शरीर को हृष्ट–पुष्ट बनाते हैं। किन्तु जिस प्रकार वे दूसरो की चीज लूटकर खाते है उसी प्रकार दूसरे लोग उन्हे नही लूट ले जाएगे, इसका क्या विश्वास है? कहा भी है–

**काल वैताल की धाक तिहुं लोक मे,**
**देव दानव घरे रोल घले।**

अर्थात् कराल काल सब के मस्तक पर घूम रहा है। इस भयकर काल के पजे मे से कोई छूट नही सकता। इस प्रकार जब सभी लोग काल के जाल मे फसे हैं तो फिर अभिमान किस बात का करते हैं? अभिमान करने से आखिर पश्चात्ताप करने का ही अवसर आता है, यह बात ध्यान मे रखकर अभिमान का त्याग करना चाहिए ओर मानव–शरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

मानव जीवन अस्थिर है। आयु जल की हिलोर के समान चचल है। [illegible] ने ठीक कहा है कि–

**विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतग आयुष्य ए तो जलना तरग।**
**पुरन्दरी चाप अनग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणिक प्रसंग।।**

जीवन की ऐसी अस्थिरता मे मनुष्य का अभिमान करना मूर्खता ही है। मनुष्य अभिमान करके बहुत बार अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करता है। मानलो किसी मेढक को साप ने पकड लिया है। मेढक का आधा मुख साप के मुख मे है और आधा बाहर है। फिर भी वह मेढक अपना मुह फाडकर मक्खियो को पकडना चाहता है। अगर तुम मेढक को ऐसा करते देखो तो उसे मूर्ख की पदवी देते देर नही करोगे। लेकिन तुम स्वय कराल सर्प के मुह मे फसे हो, फिर भी अभिमान करते हो! यह मूर्खता नही तो क्या है? मनुष्य को विवेक–ज्ञान मिला है। वह सार–असार, हित–अहित का विचार कर सकता है। अतएव तुम अपने विवेक का सदुपयोग करो। इसी मे कल्याण है।



# अड़तीसवां बोल

## शरीर–प्रत्याख्यान

योग का प्रत्याख्यान करने से होने वाले लाभ का विचार किया जा चुका है। यहा शरीर–प्रत्याख्यान के विषय मे विचार करना है। गौतम स्वामी शरीर–पत्याख्यान के विषय मे भगवान् महावीर से प्रश्न करते है।

**मूलपाठ**

**प्रश्न– सरीरपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धातिसयगुणकित्तण निव्वत्तेइ, सिद्धातिसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न–** भगवन्! शरीर के प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** शरीर के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव सिद्ध के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त करता है और सिद्ध के अतिशय गुण से सम्पन्न होकर वह जीवलोक के अग्रभाग मे जाकर परम सुख प्राप्त करता है। अर्थात् सिद्ध (समस्त कर्मो से मुक्त) हो जाता है।

**व्याख्यान**

यहा एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। वह यह है कि जब योग के त्याग के विषय मे विचार किया जा चुका है और वहा स्पष्ट कर दिया गया है कि योग मे मन वचन और काय– इन तीनो का समावेश होता है, तो फिर यहा शरीर के प्रत्याख्यान के सबध मे अलग प्रश्न किस उद्देश्य से किया गया है? इस विचारणीय प्रश्न का स्पष्ट उत्तर तो कोई महापुरुष ही दे सकता है, मै अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रत्यन करता हू।

मेरी समझ मे, जान पडता है ज्ञानीजनो ने शरीर और काययोग मे अन्तर देखा है। इस बात का प्रमाण यह है कि शास्त्र मे जहा दस प्राणो का उल्लेख किया गया है, वहा इन्द्रियवल को प्राण तथा कायबल को भी प्राण माना गया है। परन्तु जव कायबल को प्राण कह दिया गया तो फिर इन्द्रियबल को अलग प्राण मानने की क्या आवश्यकता थी? कायबल और इन्द्रियबल की गणना अलग–अलग की गई है, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानीजनो ने इन्द्रियबल मे और कायबल मे अवश्य ही कोई अन्तर देखा तथा जाना है।

इन्द्रिया दो प्रकार की होती हैं– द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय होने पर भी अगर भावेन्द्रिय न हो तो द्रव्येन्द्रिय निरर्थक होती है। इस प्रकार ज्ञानीजनो ने इन्द्रियो मे तथा काय मे भिन्नता देखी है और इसी कारण योग–प्रत्याख्यान के साथ ही शरीर–प्रत्याख्यान के विषय मे अलग प्रश्न किया गया है।

अब यह देखना है कि ज्ञानीजन इन्द्रियदमन करने का जो कथन करते है, सो उसका अर्थ क्या है? इन्द्रियदमन करना, अर्थात् क्या इन्द्रियो को नष्ट कर देना? इन्द्रियदमन करो का अर्थ इन्द्रियो को नष्ट कर दो, ऐसा नही है। इन्द्रिय को दुष्प्रवृत्ति मे से पृथक् करके सत्प्रवृत्ति मे नियोजित करना, इन्द्रियदमन का अर्थ है। जैसे घोडे को दमन करने के लिए कहा जाता है। मगर इसका अर्थ यह नही है कि घोडे के पैर काट दिये जाए। इसका अर्थ यह होता है कि घोडे को यह सिखाया जाये कि वह खराब चाल न चले। इसी प्रकार इन्द्रियो के दमन का अर्थ इन्द्रियो का नाश कर देना नही, वरन् इन्द्रियो को खराब मार्ग पर जाने से रोककर सत्प्रवृत्ति मे नियोजित करना है।

कहने का आशय यह है कि शरीर और काययोग मे ज्ञानियो ने थोडा अन्तर देखा है और इस कारण योग–प्रत्याख्यान के प्रश्न के बाद शरीर–प्रत्याख्यान के विषय मे प्रश्न किया गया है।

शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है– शीर्यते इति शरीरम्। अर्थात् जो प्रतिक्षण शीर्ण होता जाये, वह शरीर है। प्रतिक्षण पलटते रहना शरीर का स्वभाव है। आज वैज्ञानिको का भी कहना है कि बारह वर्ष मे शरीर के समस्त परमाणु पलट जाते हैं। आज के वैज्ञानिक तो बारह वर्ष मे शरीर के परमाणुओ का पलट जाना कहते हैं मगर ज्ञानीजन तो कहते हैं कि शरीर के परमाणु प्रतिक्षण पलटते रहते हैं। शरीर का यह परिवर्तन दो प्रकार से होता है – अनुकूल और प्रतिकूल। उदाहरणार्थ, एक ही प्रकार का भोजन कभी

अनुकूल गुण पैदा करता है और कभी–कभी प्रतिकूल गुण उत्पन्न करता है। अगर भोजन करने मे सावधानी रखी जाय तो भोजन शरीर को अनुकूल गुण देता है– लाभ पहुचाता है, अन्यथा वही भोजन शरीर को हानिकारक हो जाता है। एक अनुभवी का कथन है कि भूख के कारण लोग इतने नही मरते, जितने अतिभोजन, अनिष्ट भोजन तथा अभक्ष्य भोजन के कारण मरते है। कितने ही लोग तप–उपवास तो कर लेते है, परन्तु बाद मे भोजन के विषय मे विवेक तथा सयम रखने वाले तथा रस, स्वाद सबधी लोलुपता को जीतने वाले विरले ही दिखाई देते है। कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते है जो तप करने के बाद भोजन करने मे सावधानी नही रखते और जब परिणाम अच्छा नही आता तो कहते है कि तपश्चर्या से हानि हुई है। किन्तु यह बात हमेशा हृदय मे जमा रखनी चाहिए कि तपश्चर्या से त्रिकाल मे भी हानि नही हो सकती। शरीर को हानि होती है, वह तपश्चर्या से नही, भोजन सबधी असावधानी के कारण होती है।

शरीर और काय मे अन्तर है और इसी कारण इन दोनो के विषय मे अलग–अलग प्रश्न किया गया है। काय शक्तिविशेष को कहते हैं और इन्द्रिया तथा मन जिसमे रहता है अथवा जिसका व्यवहार इन्द्रियो और मन द्वारा चलता है, वह शरीर है। कितने ही लोग शरीर को क्षेत्र भी कहते है। क्षानीजन कहते है– जब आत्मा शरीरहीन हो जाता है तब शरीर के साथ रहने वाले विकार भी नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानीजन शरीर का प्रत्याख्यान करने के लिए कहते हैं। परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर का त्याग किस प्रकार करना चाहिए ? शरीर–त्याग करने का अभिप्राय यहा यह नही है कि फासी लगाकर शरीर त्याग दिया जाए। ऐसा करने से तो आत्महत्या हो जाएगी। फासी लगाकर मर जाना शरीर–प्रत्याख्यान करना नही है। प्रत्याख्यान शब्द प्रति आ उपसर्ग लगाकर ख्या धातु से बना है। इस शब्द का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का इस प्रकार त्याग करना कि त्यागी हुई वस्तु के प्रति फिर ममता ही न रह जाए। उदाहरणार्थ, धन का त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो दान देने से धन का त्याग होता है दूसरे किसी को उधार देने से भी त्याग होता है। दोनो प्रकार के इस त्याग मे बहुत अन्तर है। दान मे धन का जो त्याग किया है, उसमे धन के प्रति ममत्व नही रहता, मगर उधार दिये धन के प्रति ममता बनी रहती है। दान आदि सत्कार्य मे व्यय किये हुए धन के प्रति ममत्व न रहने के कारण धन का वह सच्चा त्याग है। उधार दिये हुए धन के पीछे और

अधिक धन पाने की ममत्वबुद्धि रहती है। अत वह सच्चा त्याग नहीं है। यह तो स्पष्टत धनमोह है। जहा मोह–ममत्व होता है वहा त्याग या प्रत्याख्यान नही हो सकता। अत शरीर सबधी मोह–ममता का त्याग करना ही शरीर–प्रत्याख्यान कहलाता है। आखिरकार सभी को शरीर का त्याग करना पडता है। शरीर अस्थिर है। वह हमेशा टिका नहीं रहता। परन्तु जो आत्मा शरीर की अस्थिरता समझकर शरीर पर से मोह–ममता उतार देता है, शरीर का त्याग कर देता है वह निर्मोही, शरीरत्यागी आत्मा विदेही बनकर सिद्धत्व के गुण प्राप्त करता है और सिद्ध भगवान् की कोटि मे पहुच जाता हे। निर्मोही बनकर शरीर का त्याग करने से सिद्धि प्राप्त होती है। शरीरत्याग से जीव मुक्ति प्राप्त करने का अपूर्व लाभ पा लेता है।

जब शरीर के त्याग के विषय मे प्रश्न चल रहा है तो यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि शरीर क्या है? और उसके कितने प्रकार है ?

जिसका स्वभाव ही जीर्णशीर्ण होने का है, वह शरीर है, शरीर के पाच प्रकार हैं – 1 औदारिक शरीर, 2 वैक्रिय शरीर, 3 आहारक शरीर, 4 तैजस शरीर, 5 कार्मण शरीर। सक्षेप मे शरीर दो प्रकार का है – सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। सूक्ष्म मे अर्थात् कार्मण शरीर मे सभी सस्कार विद्यमान रहते हैं। जैसे एक सजीव बीज मे सारा वृक्ष विद्यमान रहता है। बीज तो वृक्ष से पृथक् होकर नीचे गिर जाता है, फिर भी उस बीज मे वृक्ष के सब सस्कार रहते ही हैं। वह बीज पृथ्वी, पानी आदि का सयोग मिलते ही विकसित हो जाता है, और छोटा–सा बीज ही क्रमश वृक्ष का रूप धारण करता है। इसी प्रकार ममतापूर्वक शरीर का त्याग करने पर भी सूक्ष्म कार्मण शरीर आत्मा के साथ रहता है और उसमे जीव के सभी सस्कार विद्यमान रहते हैं। ओर सयोग मिलते ही वह सस्कार शारीरिक रूप धारण कर लेते है। जैसे वटवृक्ष का बीज प्रमाण मे तो बहुत ही छोटा होता है, परन्तु उस छोटे–से बीज मे विशालकाय वटवृक्ष के समस्त सस्कार विद्यमान रहते हैं। बाह्य दृष्टि से तो बीज मे वटवृक्ष का स्वरूप दिखाई नही देता, परन्तु पृथ्वी, पानी आदि का सयोग प्राप्त होते ही वह छोटा–सा बीज वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार कार्मण शरीर मे भी जीव के सब सस्कार मौजूद रहते है।

अगर कोई पूछे कि कार्मण शरीर कहा है ओर उसमे जीव के सब सस्कार कहा रहते है? ऐसा पूछने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता हे कि जब अष्टस्पर्शी बड के बीज मे रहे हुए वृक्ष के सस्कार दिखाई नहीं देते तो फिर चतुस्पर्शी कार्मण शरीर मे जीव के सस्कार कैसे देखे जा सकते हें?

अतएव कार्मण शरीर को प्रत्यक्ष देखने का दुराग्रह अनुचित है। इसके सिवाय, अपनी स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म कार्मण शरीर तो दिखाई भी नही दे सकता।

कहा जा सकता है कि जब पुरातन कर्म–सस्कार हमारे साथ ही है, तो फिर उन कर्म–सस्कारो को नष्ट करने का पुरुषार्थ करने का क्या लाभ? इसका उत्तर यह है कि सक्रमण हो सकता है। जैसे वृक्ष मे सुधार हो सकता है उसी प्रकार कर्म–सस्कार भी बदले जा सकते है। पाप–पुण्य कर्म मे भी सक्रमण हो सकता है। कर्म के रस और प्रकृति आदि का भी घात हो सकता है। बीज मे अच्छी शक्ति मौजूद होने पर भी असावधानी रखने के कारण वह शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा खराब हो जाती है, और इसके विपरीत बीज मे अच्छी शक्ति न होने पर भी सावधानी के कारण तथा प्रयत्न करने से बीज मे अच्छी उत्पादन शक्ति आ जाती है। उसी प्रकार अच्छे कर्म भी प्रमाद तथा असावधानी के कारण खराब कर्म बन जाते है और सावधानी तथा सतर्कता के कारण खराब कर्म भी अच्छे कर्म बन जाते हैं। विज्ञान द्वारा वृक्षो का सुधार किस प्रकार हो सकता है, इस विषय मे तुमने शायद सुना होगा। सुना है, गोभी का शाक पहले कटुक होता था, परन्तु वैज्ञानिक रीति से उसमे सशोधन किया गया। तब कडुवा शाक भी मीठा बन गया। आम भी आजकल हरएक मौसम मे मिलता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण भी वैज्ञानिक सुधार ही है। शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु का उपक्रम होता है। वह उपक्रम दो प्रकार का है परिक्रम अर्थात् सुधार और दूसरा वस्तुविनाश। यह दोनो प्रकार का उपक्रम द्विपद, चतुष्पद तथा अपद, इन तीनो का होता है। वृक्ष अपद है, अत उसका भी उपक्रम होता है।

भारतवर्ष मे आज वस्तु–विनाश की ओर जितना लक्ष्य दिया जाता है उतना परिक्रम–सुधार की ओर नही। इसके विपरीत विदेशी विद्वान विज्ञान द्वारा वस्तु का परिक्रम करते ही रहते है। सुना है, अमेरिका मे ले जाई गई भारतीय गाय प्रतिदिन 160 रतल दूध देती है। मगर भारत मे, भारत ही की गाय इतना दूध क्यो नही देती? इसका प्रधान कारण है कि भारतीय लोगो का ध्यान वस्तु के परिक्रम की ओर गया ही नही। आज विदेशियो ने जो वैज्ञानिक उन्नति की है उसका मुख्य कारण यह है कि परिक्रम की ओर उनका लक्ष्य है। भारतीय अगर वैज्ञानिक ढग से वस्तु का परिक्रम करे तो भारत भी उन्नत बन सकता है।

कहने का आशय यह है कि अन्य वस्तुओ की तरह कर्म का भी उपक्रम हो सकता है। अगर कर्म का उपक्रम न होता तो कोई मोक्ष मे ही नही

पहुच सकता। कर्म नष्ट किये जा सकते हैं और इसीलिए भगवान् ने कहा है, चौदहवे गुणस्थान मे पहुच कर आत्मा अशरीर बन कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगो को कहना है कि सिद्ध होने के बाद आत्मा शून्यरूप हो जाता है। अर्थात् सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा सिद्धगति मे शून्य–सरीखा हो जाता है। परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सिद्ध होने पर आत्मा पूर्णज्ञानी बन जाता है, और इन्द्रिय तथा शरीर न होने पर भी वह सिद्ध होकर रहता है। सिद्ध का स्वरूप कैसा होता है, वह बात श्री आचारागसूत्र मे कही है –

**से न दीहे, न हिस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरसे, न परिमंडले, न कण्हे, न नीले, न लोहिए, न हलिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न लुच्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थे, न पुरिसे व अन्नहा, परिन्ने सन्ने। उवमा न विज्जइ। अरूवी सत्ता अपयस्य पयं नत्थि।।**

अर्थात्– आत्मा लम्बा नही, छोटा नही, गोल नही, तिकोना नही, चौकोर नही, मडलाकार नही, काला नही, नीला नही, लाल नही, पीला नही, सफेद नही, सुगन्धित नही, दुर्गन्धित नही, तिक्त नही, कटुक नही, कसैला नही, खट्टा नही, मीठा नही, कठोर नहीं, कोमल नही, भारी नहीं, हलका नही, ठण्डा नही, गर्म नही, रूखा नही, चुपडा नही, रूक्ष नही, चिकना नहीं, स्त्री नही, पुरुष नही, नपुसक नही। वह ज्ञाता है, विज्ञाता है। उसकी कोई उपमा नही है। वह अरूपी सत्ता है। वह अनिर्वचनीय है, शब्दातीत है।

भावार्थ यह है कि जिसमे वर्ण, रस गन्ध और स्पर्श की पर्याय नही होती, वह सिद्ध है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता हे कि वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श का सबध शरीर के ही साथ है। अशरीर हो जाने के बाद वर्ण आदि का सबध नही रहता।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि सिद्धात्मा मे अगर वर्ण आदि कुछ भी नही हैं तो वह किस प्रकार के है? इस प्रश्नकर्ता से यह प्रश्न करना चाहिए कि जिस वस्तु मे वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श नही होते, वह वस्तु कैसी होती है? इस प्रश्न का जो उत्तर हो, वही उत्तर प्रश्नकर्ता के प्रश्न का समझना चाहिए।

उदयपुर मे एक वकील के साथ मेरा वार्त्तालाप हुआ था। वकील आत्मा को प्रत्यक्ष बताने के लिए कहते थे। मैंने उनसे कहा– आप अग्रेजी पढे

हैं? उन्होने उत्तर दिया– हा, मै अग्रेजी पढा हू। तब मैने उन से कहा– आप अपने मस्तिष्क मे से अग्रेजी निकाल कर नही बता सकते तो फिर अरूपी आत्मा किस पकार बतलाया जा सकता है? शास्त्र मे आत्मा के विषय मे कहा है–

**तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तथ्थ न गाहिया।**

अर्थात् आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क काम नही आते और बुद्धि की भी आत्मा तक पहुच नही है।

आत्मा बुद्धिगम्य नही है, इसी कारण उसके विषय मे 'नेति नेति' कहा गया है। असल मे पूर्ण वस्तु का वर्णन हो ही नही सकता। आज आत्मा का जो वर्णन मिलता है, वह अपूर्ण है। तिजोरी बडी होती है और चाबी छोटी–सी। फिर भी इस छोटी–सी चाबी से तिजोरी खोली जा सकती है और उसमे रक्खा हुआ माल लिया जा सकता है। इसी प्रकार शास्त्र मे आत्मा रूपी तिजोरी की चाबी रूप जो भी थोडा–सा वर्णन मिलता है वह उस वर्णन रूपी चाबी से आत्म रुपी तिजौरी को खोलो तो मालूम होगा कि आत्मा कैसा है? और उसमे कैसी कैसी शक्तिया छिपी हुई है?

कहने का आशय यह है कि शरीर परवस्तु है और इसलिए उसका पत्याख्यान किया जाता है। शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न है। यह भेदज्ञान हो जाए तो तुम भी राजा प्रदेशी की तरह अपना कल्याण कर सकते हो। पदेशी राजा भी आत्मा का स्वरूप नही जानता था। वह शरीर को आत्मा मान दैठा था और शरीर–सुख को ही वास्तविक सुख समझता था। इस विपरीत मान्यता के कारण वह उन्मार्गगामी हो गया था। परन्तु चित्त प्रधान प्रदेशी राजा का मार्गदर्शक बना और उसे सन्मार्ग पर लाया। राजा प्रदेशी जब सन्मार्ग पर आरूढ हुआ अथवा यो कहो कि जब उसे आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हुआ। तब उसने नरक को भी स्वर्ग बना लिया। मिथ्याभमान के कारण अनेक जीव ससार–सागर मे गोते खा रहे है। मगर जब धर्मनौका का आश्रय मिलता है, तब धर्मनौका की सहायता से पतित आत्मा भी ससार–सागर को पार कर जाता है। प्रदेशी राजा भी ससार–सागर मे गोते खा रहा था। परन्तु जब भगवान् केशीकुमार ने उसे धर्मनोका बताई और राजा ने उस नौका का आश्रय लिया तो वह अधर्मी कहलाने वाला राजा भी धर्मनौका का नाविक बन गया और ससार–सागर को पार करने मे समर्थ हुआ।

तुम भी ससार–सागर मे गोते खा रहे हो। अगर धर्मनाका का आश्रय लोगे तो एक दिन तुम भी ससार–सागर पार कर सकोगे।

गीता मे कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र के विषय मे उल्लेख किया गया है। गीता का रहस्य गम्भीर है। कुरुक्षेत्र का सामान्य अर्थ खराब क्षेत्र होता है। अर्थात् यह शरीर मल–मूत्र से भरा होने के कारण कुरुक्षेत्र है। इस कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना चाहिए। अर्थात् आत्मा के उद्धार मे शरीर का उपयोग करना चाहिए। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाने के लिए हमेशा युद्ध करना पडता है। जो शरीर का गुलाम नही है, ऐसा आध्यात्मिक योद्धा इस कुरुक्षेत्र मे कैसे–कैसे आत्मिक साधनो से जीवन–सग्राम मे अग्रसर होता है, इसके विषय मे श्री उत्तराध्ययन के नौवे अध्याय मे कहा है –

**सद्धं नगर किच्चा तवसवरमग्गल।**
**खती निउणपागारं तिगुत्त दुप्पसधयं।।**
**धणुं परक्कमं किच्चा जीव च इरिय सया।**
**धिइं च केयणं किच्चा सच्चणं पलिमंथए।।**
**तव नारायजुत्तेणं मित्तूण कम्मकचुयं।**
**मुणी विगयसंगामो भावाओ परिमुच्चए।।**

**उतरा. 9, 20–21–22**

नमि राजर्षि देवेन्द्र को बतला रहे हैं कि जीवन–सग्राम किस प्रकार खेलना चाहिए। श्रद्धा रूपी नगर, सवर–सयम रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर प्राकार, तीन गुप्ती रूपी दुर्जय किला, पराक्रम रूप धनुष, इर्यासमिति रूपी डोरी और धैर्य रूपी केतन बनाकर सत्य के द्वारा परिमथन करना चाहिए। क्योकि तपश्चर्यारूपी बाणो से युक्त मुनिराज कर्म रूपी बख्तर को भेदन करके सग्राम मे विजयी होते हैं और ससार के बन्धनो से मुक्त हो जाते है।

ऊपर वर्णित आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा अगर कर्मशत्रुओ के साथ युद्ध किया जाये तो आध्यात्मिक शस्त्रो के सामने पाशविक शस्त्र निष्फल साबित होते हैं, इसमे तनिक भी सदेह नही है। आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष पाशविक शक्ति सदैव परास्त होती है। आध्यात्मिक शक्ति दैवी सपदा है और पाशविक शक्ति दानवी सपदा है। दैत्य हमेशा ही देवो से पराजित हुए हे, ऐसा पौराणिक कथाओ मे सुना जाता है। इसका रहस्य यही हे कि दानवी शक्ति दैविक, आध्यात्मिक शक्ति के सामने परास्त हो जाती है। तुम भी आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा पाशविक शस्त्रो को पराजित करो। इसी मे तुम्हारा कल्याण हे। अहिसा, क्षमा, तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक शस्त्र हैं ओर क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मत्सर आदि पाशविक शस्त्र हैं। आध्यात्मिक शस्त्र शक्ति मेया (माता) के आयुध हैं और पाशविक शस्त्र पाशविक शक्ति के आयुध हें। तुम

आध्यात्मिक शस्त्र हाथ मे लेकर जीवन–सग्राम मे कर्मशत्रुओ के साथ युद्ध खेलो और उन्हे परास्त करो। इसमे कल्याण है।

जीर्ण–शीर्ण हो जाने के कारण शरीर नाशवान् है और आत्मा अजरामर होने के कारण अविनाशी है। आत्मा देही है, शरीर देह है। आत्मा देह रूपी गृह मे निवास करता है। आत्मा शरीर का त्याग करना चाहे तो कर सकता है। शरीर मे आसक्त रहने के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के दुख सहन करने पडते है। शरीर और आत्मा मे क्या अन्तर है, यह बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था –

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,**
**नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–**
**न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।**

अर्थात् हे अर्जुन! तू शरीर को ही सर्वस्व मान बैठा है, परन्तु यह शरीर तो वस्त्र के समान है। जैसे फटे–पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने मे आनद माना जाता है। उसी प्रकार आत्मा (देही) भी शरीर रूपी वस्त्र का त्याग करके नवीन शरीर–वस्त्र धारण कर लेता है।

तुम लोग शरीररूपी वस्त्र त्याग करते समय रुदन करते हो या प्रसन्न होते हो? अगर तुम्हे यह ज्ञान हो जाये कि मैं आत्मा मरता नही, वरन् शरीररूपी वस्त्र बदल रहा हू, तो शरीर–त्याग करते समय तुम्हे जरा भी दुख नही होगा। जैसे ससार की और सम्पदाए आती–जाती रहती हैं, उसी प्रकार शरीर भी बदलता रहता है। देह का नाश होता है, देही का नाश नही होता। देह का लालन–पालन चाहे जैसे किया जाये, आखिर उसका नाश अवश्य होता है। देह का नाश होता है, देही का नही यह बात ध्यान मे रख अनेक भक्तो ने तथा महात्माओ ने असह्य सकट सहन करके भी आनद का अनुभव किया था। अगर आत्मा को अपनी अजर–अमरता का भान हो जाये तो उसका कल्याण हुए बिना नही रह सकता।



# उनचालीसवां बोल

## सहाय–प्रत्याख्यान

शरीर–प्रत्याख्यान के विषय मे विचार किया जा चुका है। शरीर का त्याग करने के लिए आत्मा को परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनना चाहिए। अब इसी विषय मे विचार करना है। स्वावलम्बी बनने के लिये और परावलम्बन का परित्याग करने के लिए दूसरे की सहायता का त्याग करना आवश्यक है। दूसरे की सहायता का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं –

**मूलपाठ**

**प्रश्न– सहायपच्चक्खाणेण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– सहायपच्चक्खाणेण एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्ग भावेमाणे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुंतुमे संजमबहुले सवरबहुले समाहिए यावि भवइ।। 39।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न–** भगवन्! सहायता का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** सहायता का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी तथा अल्पभाषी होकर सयम, सवर तथा समाधि मे अधिक दृढ होता हे।

**व्याख्यान**

सहाय का साधारण अर्थ है – मदद। किसी आत्मा मे जब दूसरे के बल पर आश्रित न रहने की और अपने ही बल पर खडे रहने की भावना उत्पन्न होती है तब वह आत्मा दूसरे की सहायता का त्याग करके स्वाश्रयी बनता हे।

इस सूत्र मे परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी गई है। यह शिक्षा साधु और श्रावक को ही ग्रहण करने योग्य नही, वरन् आत्मकल्याण के प्रत्येक अभिलाषी के लिए यह समझने और ग्रहण करने योग्य है।

भगवान् ने साधुओ के लिए कहा है– 'साधुओ को सदैव यह भावना करनी चाहिए कि मै अपने ही बल पर आश्रित रहूगा, दूसरो की सहायता नही लूगा।' साधुओ को यह भावना ही नही करनी चाहिए, बल्कि शक्ति का सचय करके भावना को सफल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। कल्याण के इच्छुक साधु अपनी शक्ति देखकर दूसरो की सहायता का त्याग करते हैं और स्वावलम्बी बनते है।

दूसरो की सहायता का त्याग करने से और स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया – सहायता का त्याग करने से पहला लाभ तो एकाग्र भावना उत्पन्न होना है, अर्थात् सहायत्याग से मन सकल्प–विकल्प का त्याग करके एकाग्र बन जाता है। स्वावलम्बी बन जाने से यह सकल्प–विकल्प मन मे उत्पन्न नही होता कि कोई मुझे सहायता देगा या नही? इस प्रकार मन एकाग्र, सकल्प–विकल्पहीन बनने से सहायता का त्यागी अपने–आप को एकाकी – अकेला – अनुभव करने लगता है। तब वह दूसरो के साथ अधिक सभाषण नही करता और 'अमुक काम करना है, अमुक काम नही करना है'– इस प्रकार के झझटो से छुटकारा पा लेता है। किसी प्रकार के बाहरी झझटो मे न पडने के कारण सहायत्यागी को किसी के साथ रगडा–झगडा (क्लेश) नही करना पडता। रगडे–झगडे न होने से उसमे कषायभाव पैदा नही होता। इस प्रकार सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा एकाग्रचित्त, एकाकी, अल्पभाषी, अल्पक्लेशी तथा अल्पकषायी बनता है और सयम, सवर तथा समाधि मे अधिक दृढ होता है। इस तरह एक सहायता के त्याग से आत्मा को अनेक लाभ होते हैं।

इस मूल सूत्र पर विचार किया गया। अब यह विचार करना हे कि इस सूत्र से हमे क्या सार लेना चाहिये?

इस सूत्र का प्रधान स्वर यह है कि स्वावलम्बी बनो, परावलम्बी नही, स्वतन्त्र बनो परतन्त्र नही। आज लोग स्वतन्त्रता–स्वतन्त्रता चिल्लाते हैं, मगर स्वतन्त्र बनने के सच्चे मार्ग पर नही चलते। स्वतन्त्र बनने के लिए सर्वप्रथम

स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। स्वावलम्बी बने बिना कोई देश या समाज स्वतन्त्र नही बन सकता। आत्मा को भी कर्मबन्धनो से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने के लिए पर की सहायता त्याग कर स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। जो मनुष्य स्वावलम्बी नही होता, उसे पद–पद पर आपत्तियो का सामना करना पडता है।

आज जितने सुख–साधन बढे हैं, उतने ही परतन्त्रता के बन्धन बढ गये हैं। आज जो साधन सुख–साधन कहलाते हैं, वे वास्तव मे सुखदायी नहीं हैं। वे परतन्त्रता के बन्धन हैं। परतन्त्रता के इन बन्धनो को ढीला करने के लिए तथा कर्मबद्ध आत्मा को स्वाधीन बनाने के लिए दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की आवश्यकता है। सुख–साधनो की जो जितनी सहायता लेता है, वह उतना ही परतन्त्र बनता है। उदाहरणार्थ, मान लो, किसी जगह जल्दी पहुचने के लिए रेलवे का साधन मौजूद है, तो क्या इस साधन के कारण तुम परतन्त्र नही बने हो? क्या रेल कभी तुम्हारी प्रतीक्षा करती है? इसके विपरीत तुम्हे रेल की प्रतीक्षा करनी पडती है। अतएव रेल तुम्हारे अधीन नही, वरन् तुम्ही रेल के अधीन हो। यही तो परतन्त्रता है। जो लोग रेल का त्याग कर देते हैं, वे रेल के अधीन नहीं हैं। इसी प्रकार ज्यो–ज्यो और सुख–साधन बढे है, त्यो–त्यो परतन्त्रता के बन्धन बढे हैं।

परतन्त्रता मे मानसिक स्थिति डावाडोल रहती है। स्वतन्त्र अवस्था मे ही मन एकाग्र रह सकता है। अत जो एकाग्रता के उपासक हैं, उन्हे दूसरो की सहायता का त्याग करना ही चाहिए। दूसरो की सहायता लेने वाला परतन्त्रता के कारण तथा अपनी निर्बलता के कारण सहायता लेता है। अगर अपनी निर्बलता दूर कर दी जाए तो फिर किसी की सहायता लिए बिना भी काम चल सकता है। दूसरो से जितनी सहायता ली जाएगी, उतनी ही परतन्त्रता बढेगी और एकाग्रता घटेगी। एकाग्रता भग होने से आत्मा के अनेक गुणो का नाश हो जाता है। अगर वृक्ष को बार–बार उखाड कर एक जगह से दूसरी जगह रोपा जाये तो क्या वह फल–फूल दे सकेगा? नही। इसका प्रधान कारण यह है कि उस वृक्ष मे एकाग्रता का गुण नही रह पाता। पालीयाद मे बार–बार भूकम्प के धक्के लगने से लोग भयभीत हो गये हैं और उनकी एकाग्रता भग हो गई है। जहा आधार मे ही चचलता हो, वहा आधेय मे एकाग्रता कैसे आ सकती है? जैसे वृक्ष को बार–बार एक जगह से दूसरी जगह उखाड–उखाड कर रोपने से उसके फल–फूल देने के गुण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सकल्प–विकल्प से बार–बार मन को चचल करने से

आत्मा की गुण–शक्ति घटती जाती है। जब तक मन की चचलता दूर नही होती, तब तक आत्मा मे सद्‌गुणो की स्थिरता भी नही रह सकती।

कुछ लोगो का कहना है कि शास्त्र मे जिन चमत्कारो का वर्णन मिलता है, वे चमत्कार आज क्यो नही दिखाई देते? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र मे वर्णित चमत्कार तो सच्चे ही हैं, मगर अपनी मन की चचलता के कारण वे आज दिखाई नही दे सकते। आज लोगो के मन मे कैसी चचलता आ गई है, इस बात का जरा विचार तो करो। तुम (श्रोता) लोग अभी यहा बैठे हो, पर तुम मे से किसका मन कहा घूम रहा है, यह कौन कह सकता है? मन मे इतनी अधिक चचलता होने का कारण दूसरो की सहायता लेना ही है।

तुम समझते हो कि हम रेल, तार, टेलीफोन, वायुयान आदि वैज्ञानिक सुख–साधनो की सहायता मिलने के कारण सुखी हैं। मगर इन सब सुख–साधनो के कारण तुम्हारे मन मे कितनी और किस प्रकार की चचलता बढ गई है, यह विचार तो करो। इन सुख–साधनो के कारण तुम अपने को सुखी मानते हो, परन्तु जिसके पास ये साधन नही है और जिन्होने स्वेच्छापूर्वक इन साधनो की सहायता लेने का त्याग कर दिया है, वे साधु क्या दु खी हैं ? साधु सुख–साधनो की सहायता नही लेते। जो सच्चे साधु हैं और जो यह मानते है कि भगवान् ने हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही हमे ऐसे साधनो की सहायता न लेने की आज्ञा दी है, वे साधु अपने–आपको सब से ज्यादा सुखी मानते है।

कदाचित् किसी साधु के मन मे यह धारणा हो कि आजकल चमत्कार को नमस्कार किया जाता है, अतएव हमारे पास किसी प्रकार की लब्धि हो तो अच्छा है। हम उस लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखा सकेंगे। इस पकार विचार करने वाले साधु को सोचना चाहिए कि जब भगवान् ने हमे दूसरो की सहायता लेने का निषेध किया है तो फिर हम लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखला ही कैसे सकते हैं? साधुओ को लब्धि का उपयोग चमत्कार दिखाने मे नही करना चाहिए। इतना ही नही, वरन् किसी दूसरे की सहायता भी नही लेनी चाहिए।

मैने एक पुस्तक मे पढा था– एक आदमी ने दूसरे से कहा, मुझे लब्धि प्राप्त हुई है और मै उससे चमत्कार दिखा सकता हू। दूसरे ने उत्तर दिया – तुम चमत्कार दिखाओ तो मालूम हो कि तुम्हे कैसी लब्धि प्राप्त हुई है। लब्धि प्राप्त मनुष्य ने रास्ता चलते एक मदोन्मत्त हाथी को योग–शक्ति द्वारा जडवत्

बना दिया। यह दृश्य देख कर दूसरा आदमी चकित रह गया। उसने एक तीसरे आदमी से यह आश्चर्यकथा कही। उसने दूसरे से कहा– बताओ तो सही, क्या आश्चर्य देखा? तब दूसरे आदमी ने कहा– अमुक आदमी ने अपनी योग–शक्ति के द्वारा रास्ता चलते मदोन्मत्त हाथी को जडवत् बना दिया। यह सुन कर तीसरे आदमी ने कहा– इसमे इतना आश्चर्य करने की कौन–सी बात है? यह काम तो एक दवा से भी हो सकता है। योगी ने योग–साधना करके भी अगर ऐसा चमत्कार दिखलाया तो योग–साधना का फल ही क्या हुआ? हाथी को जडवत् बना देना कोई योग का चमत्कार नहीं है। दवा से भी यह काम हो सकता है और ऐसी मेरे पास भी है। तुम यह दवा ले जाओ और किसी मदोन्मत्त हाथी की पूछ पर थोडी–सी लगा देना। फिर देखना, इस दवा का क्या असर होता है! दूसरे आदमी ने उस दवा का हाथी पर प्रयोग कर देखा। उसे विश्वास हो गया कि हाथी को जडवत् बना देने की क्रिया तो दवा के द्वारा भी हो सकती है।

तीसरे आदमी ने उससे कहा– दवा के प्रयोग से मदोन्मत्त हाथी भी जडवत् बन सकता है, यह विश्वास तुम्हे हो गया न? अगर यही कार्य योग–साधना द्वारा किया जाये तो योग की सिद्धि क्या रही? सच्चा योग तो मन को एकाग्र करके काबू मे कर रखना है। अगर मन काबू मे नहीं रहता तो समझना चाहिए कि वह योग ही सच्चा नही है। जो अपना मन एकाग्र करके काबू मे रखता है, उस योगी के लिए ससार मे ऐसा कोई कार्य नही, जो अशक्य हो। ऐसी कोई वस्तु नही, जो उसके अधीन न हो। सच्चा योगी वही है जो साधनो का त्याग कर देता है। साधुओ ने ससार की सहायता का त्याग करके स्वतन्त्र बनने के लिए ही ससार का त्याग किया है। मन को एकाग्र करने के लिए तथा आत्मा को त्रिविध ताप से बचाने के लिए पर की सहायता का त्याग करना आवश्यक है।

आजकल साधुओ को भी जमाने की हवा लग गई है। इसी कारण उनमे यथोचित निश्चलता और निस्पृहता नजर नही आती। चित्त की चचलता का कारण जमाना बदलना बतलाया जाता है, पर जमाना किसने बदल दिया है, इस बात का विचार नही किया जाता। दोष चाहे जमाने को दिया जाये, चाहे किसी और के सिर मढा जाये, परन्तु साधुओ के लिए श्रेयस्कर यही हे कि वे दूसरो की सहायता लेने का त्याग करे।

यह बात दूसरी है कि कभी सच्ची बात दबा दी जाती हे ओर झूठी बात को भी महत्त्व मिल जाता है, मगर सच्चाई अन्त मे सच्चाई ही सिद्ध होती

है। अत जमाने की किसी बुराई को जीवन मे स्थान न देते हुए, दूसरो की सहायता कर, मन की चचलता दूर करके, एकाग्र भावना प्रकट करना चाहिए। जब तक दूसरो की सहायता लेने की भावना रहेगी, तब तक मन की चचलता बढती ही रहेगी। इसके विपरीत, सहायता लेने का जितना त्याग किया जायेगा और जितने परिमाण मे स्वावलम्बी होने का प्रयत्न किया जायेगा, उतना और उसी परिमाण मे आत्मा स्वतन्त्र और स्वाधीन बनेगा। ज्ञानीजनो का कथन है कि साधनो का जितना त्याग किया जाएगा, त्याग उतना ही सफल होगा। सुख–साधनो का त्याग करने से बन्धन ढीले होगे और जीवन मे निस्पृहता आयेगी। इसके विपरीत सुख–साधन मे जितनी वृद्धि की जायेगी, उतने ही परिमाण मे बन्धन दृढ होगे। परिणामस्वरूप जीवन मे परतन्त्रता का प्रवेश होगा।

आज एक–दूसरे पर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका प्रधान कारण भी साधनो की वृद्धि है। सुख–साधनो की वृद्धि के साथ ससार मे क्लेश की वृद्धि हुई है। लोगो को समाचार–पत्र पढने का इतना चस्का है कि कुछ लोग भोजन किये बिना चाहे रह जाएगे, पर समाचार–पत्र पढे बिना नही रह सकते। समाचार–पत्र पढने से कलह बढा है या घटा है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है कि समाचार–पत्रो के द्वारा कलह मे वृद्धि हुई है और चचलता भी बढ गई है।

मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है। मन एकाग्र किये बिना शान्ति नही मिल सकती। अगर एक रात नीद न आये तो तबीयत कितनी खराब हो जाती है? निद्रा लेना मन की एकाग्रता का विकृत उदाहरण है। मगर निद्रा की कितनी आवश्यकता है, इस बात का विचार करो। जो व्यक्ति चचलता छोडकर निद्रा लेता है और इस प्रकार थोडे समय के लिए तथा विकृत रूप से भी मन को एकाग्र रखता है वह शरीर को स्वस्थ रख सकता है। जो मनुष्य कामकाज मे ही लगा रहता है और यथासमय निद्रा नही लेता, वह बीमार पड जाता है। जब विकृत रूप से भी मन को एकाग्र रखने से इतना अधिक लाभ होता है तो फिर सम्यक् प्रकार से मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होता होगा।

मन की एकाग्रता से आत्मा को अपूर्व लाभ होता है। लोग यह समझते है कि आनन्द कही बाहर से आता है पर वास्तव मे आनन्द बाहर की वस्तुओ मे नही है। आत्मा मे ही अखूट आनद भरा हुआ है। आत्मा अपने मे से ही आनन्द उपलब्ध करता है। मन को एकाग्र रखने से आत्मा मे आनन्द का स्रोत बहने लगता है। किसी भी वस्तु मे जो आनन्द दिखाई देता है, वह

आनन्द इसी कारण आनन्द रूप मालूम होता है कि आत्मा मे आनन्द भरा हुआ है। दुनिया की तमाम वस्तुए आत्मा के लिए ही हैं। आत्मा न हो तो इन वस्तुओ को कोई टके सेर भी न पूछे। वस्तुओ का मूल्य आकने वाला आत्मा ही है और इसीलिए कहा गया है–

**न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति,**
**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**

उपनिषद्कार कहते हैं वस्तु को कोई वस्तु प्रिय नही है, आत्मा को ही वस्तु प्रिय लगती है। हीरा, माणिक, मोती वगैरह जो भी पदार्थ प्रिय मालूम होते हैं, सो सब आत्मा को ही प्रिय मालूम होते हैं। परन्तु आजकल तो ससार मे उत्क्रम चल रहा है। जिस आत्मा को सभी वस्तुए प्रिय लगती हैं, वही आत्मा आज भुलाया जा रहा है और आत्मा की शक्तियो के विषय मे कोई विचार ही नही किया जाता। आत्मा मे ऐसी महान् शक्ति विद्यमान है कि उसे परतन्त्र रहने की आवश्यकता ही नही है। परन्तु आज आत्मा अपने भीतर विद्यमान महान् शक्ति को भूलकर परतत्र बन रहा है।

कहा जा सकता है कि आजकल का तोतारटत ज्ञान भी आत्मा की परतत्रता का कारण है। इस ज्ञान की बदौलत आत्मा दूसरो की सहायता अधिक लेने लगा है और नतीजा यह हुआ है कि वह परतत्रता की बेडी मे बध गया है। जगल मे रहने वाले पशुओ–पक्षियो को देखो। मालूम होगा कि वे मनुष्य के समान दूसरो की सहायता नही लेते हैं। कहा जा सकता है कि अज्ञान होने के कारण वे दूसरो की सहायता नही लेते हैं। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि मनुष्य–समाज मे जो ज्ञान है, वह क्या परतत्रता बढाने के लिए है? सच्चा ज्ञान तो वही है जो आत्मा को बन्धनो से मुक्त करता है। बधनो से मुक्त न करने वाला ज्ञान वास्तव मे ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है–

**सा विद्या या विमुक्तये।**

सच्ची विद्या वही है जो बधनो से मुक्त करती है।

तुम लोग आज दूसरो की बहुत सहायता लेते हो, इस कारण तुम मे भिखारीपन आ गया है। भिखारी को सुख कहा? जब उसे कोई वस्तु नही मिलती तो वह दुखी होता है। शास्त्रकार भिखारी की प्रशसा नही करते। शास्त्र तो दूसरो की सहायता लेने वाले को भिखारी कहता है। सच्चा साहूकार वही है जो दूसरो से मिलने वाली सुलभ सहायता का भी परित्याग कर देता है।

स्वतन्त्रता चाहने और स्वतन्त्रता पाने मे बहुत अन्तर है। आज लोग स्वतत्रता चाहते हैं, परन्तु उसे पाने के लिए प्रयत्न नही करते। स्वतत्रता पाने के लिए स्वतत्रता के मार्ग पर चलना आवश्यक है। स्वावलम्बी बनना स्वतत्रता पाप्त करने का मुख्य मार्ग है। दूसरो की सहायता की लेशमात्र भी अपेक्षा न रखना ही स्वावलम्बन है।

प्रत्येक स्त्री या पुरुष, स्वावलम्बन के मार्ग पर चल सकता है। स्वावलम्बन का राजमार्ग सभी के लिए खुला है। राजमती स्त्री होने पर भी स्वावलम्बन के राजमार्ग पर चलकर आत्मा को स्वतत्र बना सकी थी। यही नही, वरन् रथनेमि जैसे कर्तव्यभ्रष्ट योगी को भी स्वावलम्बन की शिक्षा देकर उसने आत्मस्वतन्त्रता के पथ पर अग्रसर किया था।

स्वतन्त्र व्यक्ति ही दूसरो को स्वतन्त्रता का सदेश दे सकता है। परावलम्बी पुरुष स्वतन्त्रता का सदेश नही सुना सकता। स्वतन्त्रता देवी का प्रधान द्वार स्वावलम्बन है। स्वावलम्बी बने बिना स्वतन्त्र बनना सभव नही। इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मा को कर्म–बन्धनो से मुक्त कर, स्वतन्त्र बनाने के लिए स्वावलम्बन का आदर्श पाठ जगत् के समक्ष उपस्थित किया था। इस स्वावलम्बन के आदर्श का अनुसरण करने मे ही देश, समाज तथा धर्म का अभ्युत्थान तथा कल्याण है।



# चालीसवां बोल

## भक्त–प्रत्याख्यान

शास्त्र मे आत्मकल्याण के अनेक मार्ग बतलाए गये हैं। उनमे से एक मार्ग दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनना भी है। जो स्वावलम्बी बनना चाहता है वह शरीर के अधीन भी रहना पसन्द नही करता। जब स्वावलम्बी आत्मा शरीर की अधीनता भी पसन्द नही करता, तब यह स्वाभाविक ही है कि वह शरीर को पुष्ट करने वाले भोजन का त्याग कर दे। प्राणान्त तक भोजन का त्याग करना, अर्थात् अनशन धारण करना साधारण जनता को दुष्कर प्रतीत होगा, परन्तु स्वावलम्बी आत्मा के लिए ऐसा करना दुष्कर नही, सुकर होता है। भोजन का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं।

**मूलपाठ**

**प्रश्न– भत्तपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– भत्तपच्चक्खाणेण अणेगाइ भवसयाइं निरूंभइ।।40।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न** – भगवन्! भोजन का प्रत्याख्यान करने से अर्थात् अनशन करके सथारा लेने से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर** – भोजन का प्रत्याख्यान करने से जीव सैकडो भवो को काट डालता है अर्थात् जीव अल्पससारी बनता है।

**व्याख्यान**

भक्त का सीधा–सादा अर्थ है– भात। 'भाथा' या 'भातु' शब्द भी इसी से बना है। भत्त या भक्त का अर्थ भोजन है। यहा भोजन के विषय मे ही प्रश्नोत्तर है। आहार के त्याग की बात सुनकर किसी को शका हो सकती हे

कि जैन धर्म तो दयाधर्म कहलाता है, फिर इस दयाधर्म मे भोजन के त्याग की बात कहना कहा तक उचित है? आहार का त्याग करना तो प्राणो का त्याग करना है। आहारत्याग द्वारा प्राणत्याग के लिए कहना अनुचित ही है। इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार का कथन है कि दूसरे की सहायता का त्याग करने वाला ही आहार का त्याग कर सकता है। जो पुरुष आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझता है और इस भेदज्ञान के कारण जिसने शरीर की सहायता का भी त्याग कर दिया है, वही भोजन का त्याग कर सकता है। शास्त्र मे कहा है– अपच्छिममरण, अर्थात् जब मरण समीप आजाए तब सथारा, अर्थात् अनशनव्रत धारण किया जा सकता है।

मरण दो प्रकार से होता है– आयु के क्षय से और उपसर्ग से। मृत्यु किसी भी प्रकार से हो, मगर कुत्ते की मौत मरना उचित नही। वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिगन करना चाहिए। वीरतापूर्वक मृत्यु का आलिगन करने वाला भोजन के प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। भोजन का त्याग करके जो मृत्यु को जीतता है, उसी का अपच्छिम मरण होता है।

यहा भक्त-प्रत्याख्यान का अर्थ सम्पूर्ण अनशन करना है। भगवान् ने कहा कि भोजन का त्याग करने वाला ससार का छेद करता है। शास्त्र मे भोजन के प्रत्याख्यान के विषय मे जो-कुछ कहा गया है, वह निर्दयता का व्यवहार करने के लिए नही, वरन् आत्मा के कल्याण के लिए ही कहा गया है। जो व्यक्ति परकीय सहायता का त्याग करता है, वही भोजन का त्याग कर सकता है। इस प्रकार आहार का त्याग न करना और आहार-पानी न मिलने के कारण विलाप करते-करते मरना, बारह प्रकार के बालमरणो मे से एक बालमरण है। इस प्रकार का मरण, भोजनपान के त्याग से होने वाला पण्डितमरण नही कहा जा सकता। हा, असमय मे भोजन का त्याग नही किया जा सकता। यह तो सब काम कर चुकने के बाद किया जाने वाला काम है। अतएव यह विचार रखना अत्यावश्यक है कि सथारा कब करना और कराना चाहिए।

सथारा करने का प्रयोजन क्या है? इस विषय मे शास्त्र मे बहुत विचार किया गया है। शास्त्र मे यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन्! मरते समय क्या भूखा रहना उचित है? इस प्रश्न से उत्तर मे भगवान् ने कहा है– यह स्थूलदृष्टि का कथन है। सूक्ष्म दृष्टि से तो मरते समय अनशन करना ही मान्य है। इस प्रकार कहकर भगवान् ने सथारा क्यो और कब लिया जाता

है, यह बात स्पष्ट करने के लिए मडूक चोर का उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है–

शखपुर मे एक चालाक चोर रहता था। वह इस चालाकी से लोगो के घर चोरी करता था कि यह पता लगाना तक कठिन हो जाता था कि चोरी कब, किस प्रकार हुई है? चोरी के कारण प्रजा परेशान हो गई। प्रजा ने बहुत प्रयत्न किया, मगर चोर का पता नहीं लगा। किसी के घर का ताला टूटा नहीं, दीवार मे सेध लगी नही, फिर भी घर मे चोरी हो गई। इस चतुर चोर की चालाकी से प्रजा थक गई। आखिरकार प्रजा इकट्ठी होकर राजा के पास पहुची। शखपुर की प्रजा छोटी–छोटी बातो के लिए राजा के पास नही पहुचती थी। अतएव राजा समझ गया कि आज प्रजा पर कोई बडी मुसीबत आई दिखाई देती है। इसी कारण लोग मेरे पास आये हैं।

राजा ने प्रजाजनो से पूछा– तुम्हे क्या कष्ट है, स्पष्ट कहो।

प्रजा ने चोर द्वारा चारो और फैलाये हुए हाहाकार का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया। राजा चोर की चालाकी की बात सुनकर आश्चर्य चकित हो कहने लगा– यह चोर वास्तव मे कोई महान् चोर है। खोज करके जल्दी ही उसे पकडना चाहिए। चोर को पकडकर मैं प्रजा का दु ख दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करूगा। अगर मैं सच्चा राजा हू तो अपने प्राणो का होम करके भी सात ही दिन मे चोर को पकड लूगा। इस प्रकार कहकर राजा ने प्रजा को आश्वासन दिया।

आज ऐसे प्रजाप्रेमी नरेश बहुत ही कम नजर आते हैं, जो प्रजा के दु ख को अपना दु ख समझ कर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। प्रजाप्रिय राजा प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राण भी निछावर कर देता है।

राजा ने चोर को पकडने की प्रतिज्ञा की है, यह बात चारो ओर नगर–भर मे फैल गई। मडूक चोर ने भी राजा की प्रतिज्ञा की बात सुनी। वह विचार करने लगा– राजा ने प्राण का भोग देकर भी मुझे पकडने की प्रतिज्ञा की है। अब मेरा बचना कठिन है। फिर भी मुझे तो राजा के पजे से बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। वीर पुरुष का कर्तव्य है कि वह पराजित भले ही हो जाए, मगर पुरुषार्थ का त्याग न करे। मुझे सावधानी के साथ काम करना चाहिए और पुरुषार्थ नही त्यागना चाहिए। पुरुषार्थ छोडकर बैठे रहना कायरता है।

चोर का पता लगाने के लिए राजा भेष बदलकर शहर मे निकला। इधर चोर भी अपना भेष बदलकर यह देखने के लिए निकला कि देखे, राजा

क्या करता है? चोर पैर पर पट्टी बाध कर, हाथ मे लाठी लेकर, बीमार दरिद्र की तरह शहर मे घूमने निकला। राजा ने मडूक चोर को इस भेष मे देखा। मडूक चोर की आख देखते ही राजा मन मे समझ गया कि चोर यही है। परन्तु जब तक प्रमाण द्वारा अपराध साबित न हो जाये, तब तक उसे दण्ड नही दिया जा सकता। दोनो एक–दूसरे के सामने आये और आपस मे पूछने लगे– तुम कौन हो? किसी ने अपना परिचय नही दिया। अन्त मे चोर ने कहा– मै कौन हू, यह जानने की तुम्हे क्या आवश्यकता है? तुम अपना काम करो, मै अपना काम करता हू। चोर के इस कथन का आशय राजा ने यह समझा कि चोर ठीक ही कहा रहा है कि 'मै चोर हू। चोरी करने जाता हू। तुम राजा हो तो मुझे पकड लो।'

इस प्रकार विचार कर राजा वहा से चलता बना। जाते–जाते राजा ने यह भी निश्चय कर लिया कि चोर सामने के पहाड मे रहता है और इस रास्ते से शहर मे आता है।

दूसरे दिन राजा ने भिखारी का भेष बनाया। वह उसी रास्ते पर चुपचाप बैठ गया, जिस रास्ते से चोर आया–जाया करता था। चोर भी भेष बदल कर शहर मे आया। रात अधेरी थी। भिखारी के भेष मे पडे हुए राजा पर उसकी निगाह न पडी। अत चोर के पैर से राजा को ठोकर लग गई। ठोकर लगते ही वह चिल्ला उठा। चोर ने पूछा– तू कौन है?

राजा ने कहा– 'मैं गरीब भिखारी हू। रहने को कही जगह नही। इसलिए यहा पडा हू।'

चोर बडा ही चालाक था। समझ गया, यही राजा है। उसने सोचा– किसी भी उपाय से राजा को नष्ट किया जा सके तो फिर कोई आफत ही न रहे।

चोर बोला– क्या इस तरह रास्ते मे पडे रहने से तेरा दु ख दूर हो जायेगा?

राजा– इस तरह पडे रहने से दु ख दूर नही होगा। दु ख तो तुम्हारे जैसे की सगति से दूर हो सकता है।

चोर– तू मेरे साथ चल। मै तेरा दु ख दूर करूगा।

राजा ने चोर के साथ जाना कबूल किया। राजा साथ हो लिया। दोनो एक–दूसरे को मार डालने की घात मे थे, इस कारण दोनो ही सावधान थे।

चोर ने चोरी की। धन आदि की दो पेटिया भरी। फिर राजा से कहा– एक पेटी तू उठा ले। पर देखना, भाग मत जाना।

राजा– नही, मैं भागूगा क्यो?

चोर– तो ठीक है, चल। आगे चल। मैं तेरे पीछे–पीछे चलता हू।

राजा– तुम्हे कहा जाना है, सो मुझे मालूम नहीं। अतएव आगे तुम चलो। मैं पीछे–पीछे चलूगा।

चोर– ठीक है, तू पीछे ही चलना। मगर तू कहीं भाग न जाए इसलिए तुझे रस्सी से बाध लेता हू।

चोर ने राजा को रस्सी से बाध लिया। चोर आगे–आगे चलने लगा। राजा चोर नही था। फिर भी मडूक चोर ने राजा को चोर की तरह बाध लिया।

राजा को साथ लेकर चोर घर आया। मडूक चोर ने अपनी लडकी को पास बुलाकर कहा– मैं एक आदमी को साथ लाया हू। वह मेरे व्यवसाय मे विघ्न डालता है। किसी उपाय से उसे मार डालना है।

पुत्री ने कहा– आपकी आज्ञा के अनुसार सब काम हो जाएगा।

लडकी तब राजा के पास पहुची। बोली– भोजन तैयार है। जीमने चलो।

राजा ने मन ही मन मे कहा– भोजन करना तो चाहिए, मगर भोजन करते समय सावधान रहना होगा। इस समय मैं चोर के घर मे हू।

राजा ने लडकी से कहा– पहले तुम जीम लो। तुम्हारे जीमने के बाद मैं भोजन करूगा। मैं भिखारी हू, फिर भी इतनी सभ्यता जानता हू। जब तक घर वाले न जीम ले, मै कैसे जीम सकता हू?

राजा की बात सुनकर लडकी समझ गई– यह भिखारी नही है। दरअसल भिखारी होता तो ऐसा नही कहता, वरन् खाने बैठ जाता।

चोर की कन्या ने राजा से कहा– अगर तुम सभ्य हो तो भोजन से पहले स्नान करना चाहिए।

राजा– अगर यह नियम है तो इसका पालन करना मेरा कर्तव्य है।

चोर–कन्या राजा को स्नान कराने के लिए कुए पर ले गई। चोर–कन्या का यह नियम था कि वह जिसे स्नान कराने कुए पर ले जाती, उसके पैर पकड कर कुए मे फेक देती थी। राजा को कुए मे डालने के लिए उसने राजा के पैर पकडे। पर राजा के सुलक्षणयुक्त पैर देखकर वह सोचने लगी– यह तो कोई महापुरुष है। पैर के चिह्नो से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का हाल मालूम हो जाता है। इस कथन के अनुसार चोर–कन्या ने राजा के

लक्षणयुक्त पैर देखकर विचार किया यह कोई महान् पुरुष है। ऐसे महान् पुरुष को पिताजी मार डालना चाहते है, उचित नही है।

चोर–कन्या कहने लगी– मेरे पिता अत्यन्त क्रूर है। वे तुम्हे मार डालना चाहते हैं। मैं तुम्हारे लक्षणयुक्त पैर देखकर समझ गई हू कि तुम राजा हो। मैं तुमसे यही कहना चाहती हू कि अगर अपने प्राण बचाना चाहते हो तो इस रास्ते से जल्दी भाग जाओ। वरना तुम्हारे प्राणो की खैर नही।

राजा ने चोर–कन्या की बात मानली। वह उसके बताये मार्ग से भाग निकला। राजा जब दूर जा पहुचा तो चोर–कन्या ने मडूक को आवाज दी। कहा– वह भिखारी तो भाग गया।

भिखारी के भागने का समाचार पाते ही मडूक की आखे लाल हो गई। कक नामक पत्थर से बनाई गई तीखी तलवार लेकर वह राजा के पीछे दौडा। तलवार इतनी तीखी थी कि जिस चीज पर उसका प्रहार हुआ, तत्काल उसके टुकडे–टुकडे हो जाते थे।

चोर ने दूर से ही राजा पर तलवार का प्रहार किया। मगर वह प्रहार पत्थर के खम्भे पर जा लगा। खम्भा टुकडे–टुकडे होकर गिर पडा। राजा बडी कठिनाई से बच सका। चोर समझ गया– राजा बच गया है और खभा टुकडे–टुकडे हो गया है।

चोर निराश होकर घर लौट आया। उसने अपनी कन्या से कहा– राजा धोखा देकर भाग गया। वह अपने घर की छिपी बाते जान गया है। अब हमे बहुत होशियारी के साथ रहना चाहिए।

चोर–कन्या ने कहा– पिताजी! जान पडता है, अब आपके पापो का घडा भर गया है।

मडूक ने क्रुद्ध होकर कहा– क्यो अपशकुन की बात मुह से निकालती है?

चोर–कन्या– पाप का अन्त होने मे बुराई क्या है, पिताजी?

लडकी की बात मडूक को बहुत बुरी लगी। फिर भी वह मौन रहा।

दूसरे दिन चोर व्यापारी बनकर शखपुर के बाजार मे क्रय–विक्रय करने आया। इधर राजा भी भेष बदल कर चोर की फिराक मे शहर मे घूमने लगा। घूमता–घूमता राजा उसी दूकान पर आ पहुचा जहा चोर व्यापारी के रूप मे क्रय–विक्रय कर रहा था। राजा चोर व्यापारी को देखते ही पहचान गया। राजा ने पूछा– 'तुम क्या बेचने आये हो? तुम्हारे पास क्या है?'

चोर– हमारे पास सभी–कुछ है। तुम्हे क्या चाहिए?

राजा— भाई, मुझे और कुछ नही चाहिए। सिर्फ तुम्हारी आवश्यकता है।

चोर— मुझसे क्या काम है?

राजा— तुम चोर हो, इसीलिए तुम्हारी जरूरत है।

चोर— मैं साहूकार हू। कौन मुझे चोर कहता है?

राजा— तुम्हारे चोर या साहूकार होने का अभी निर्णय हो जाएगा। तुम्हारे चोर होने की खातिरी मैंने तो पहले से ही कर रखी है।

आखिरकार राजा ने चोर को पकड लिया। चोर विचार करने लगा— मुझे पकडने वाला कोई मामूली आदमी नही है। राजा ने मुझे पकडा है। मुझे सख्त सजा मिलेगी।

राजा बोला— अब तुम पकडे जा चुके हो। कहो, अब तुम्हे क्या करना है?

चोर बोला — जो आप कहे, वही करने को तैयार हू।

राजा— सबसे पहले तुम अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह कर दो।

चोर— ठीक है। यह कहकर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या राजा को ब्याह दी।

राजा ने चोर—कन्या से कहा— तुमने मेरे शरीर की रक्षा की थी। अब यह शरीर मैं तुम्हारे सिपुर्द करता हू।

चोर—कन्या बोली— नाथ, आप उदार है, इसी से ऐसे कहते हे। मै तो वास्तव मे चोर की कन्या हू। मै आपके सम्मान के योग्य नही। आपने मेरा सम्मान करके मुझ पर उपकार किया है।

राजा— अब तुम्हे किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी चाहिए। तुम्हारे पिता अब मेरे ससुर है। मै उनका भी सम्मान करूगा ओर गोरव बढाऊगा।

राजा ने मडूक चोर को प्रधान मन्त्री बना दिया। जब यह बात नगर मे फैली तो सभी लोग राजा को धिक्कारने लगे। राजा इसके लिए तेयार था। वह जानता था कि पहले—पहल लोग मेरे इस कार्य से अप्रसन्न होगे। मगर जब इस का नतीजा सुनेगे तो प्रसन्न हुए बिना नही रहेगे।

राजा चोर—प्रधान को धमकाकर या समझा—बुझा कर चोरी के रत्न निकलवाता रहता था। उसके पास अभी कितने रत्न है, यह बात राजा चोर—कन्या अर्थात् अपनी पत्नी से मालूम कर लेता ओर फिर उन्हे किसी उपाय से निकलवा लेता। इस प्रकार कभी धमकी देकर ओर कभी फुसलाकर राजा ने चोर—प्रधान के पास से सभी रत्न निकलवा लिए। जब उसके पास

कुछ भी शेष न रहा तब राजा ने नगर-जनो को बुलाया और कहा- यह प्रधान नही चोर है। चोरी के रत्न निकलवाने के उद्देश्य से ही मैंने इसे प्रधान बनाया था। अब इसके पास कुछ बाकी नही रहा। अतएव चोरी करने के अपराध मे इसे फासी की सजा दी जाती है।

चोरी गये सब रत्न राजा ने वापस कर दिये। प्रजाजन राजा की बुद्धिमत्ता और चतुराई की प्रशसा करने लगे। राजा-प्रजा मे प्रेम की वृद्धि हुई। राज्य का अच्छी तरह सचालन होने लगा।

यह एक दृष्टान्त है। साधुजीवन पर यह दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त से क्या सार ग्रहण करना चाहिए, यह विचारणीय है।

साधु के लिए कहा गया है कि यह शरीर मडूक चोर के समान है। बुद्धि शरीररूपी चोर की कन्या है। शरीर यद्यपि चोर के समान है, फिर भी अनेक रत्न इसके कब्जे मे हैं। इस शरीर के बिना मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। हे मुनियो ! तुम्हारे शरीर मे रहा हुआ आत्मा राजा है। शरीर चोर है और बुद्धि चोर-कन्या है। मनुष्य मे जैसी बुद्धि है, वैसी और प्राणियो मे नही है। आत्मारूपी राजा शरीररूपी चोर के घर मे आया है। आत्मारूपी राजा खान-पान के प्रलोभन मे न पडकर बुद्धिरूपी चोर-कन्या को पहले खिला कर ही आप खाता है। अर्थात् शास्त्र मे खान-पान सम्बन्धी जो विधि बतलाई गई है बुद्धि द्वारा उसका निर्णय करने के बाद ही खाता है। इस प्रकार बुद्धि द्वारा निर्णय करके जो खाता है, वही आत्मारूपी राजा है। बुद्धिरूपी चोर-कन्या आत्मा-राजा को पैर पकड कर कुए मे डाल देना चाहती है, पर आत्मा राजा के लक्षणयुक्त चरण देखते ही वह उसे महान् समझकर बचा देती है। चरण का अर्थ पैर भी है और आचरण भी है। जब बुद्धि के हाथ चरण आता है और वह उसके अच्छे लक्षण देखती है, तब कहती है- ऐसे पुण्यात्मा को कुए मे पटकना ठीक नही। इस प्रकार बुद्धिरूपी चोर-कन्या आत्मा-राजा को मुक्त होने का मार्ग बतलाती है और आत्मा-राजा उस मार्ग पर चलकर मुक्त हो जाता है। जब आत्मा-राजा ससार के पदार्थो का ममत्व तजकर भाग जाता है तो काम, क्रोध, मान, लोभरूपी चोर वासनावृत्ति की तलवार हाथ मे ले आत्मा के पीछे दौडता है। वासनावृत्ति रूपी तलवार बहुत तीखी है। यह तलवार जिस पर पडती है उसका जीवन नष्ट हो जाता है।

आत्मा-राजा सावधान होने के कारण वासनावृत्ति रूपी तलवार के प्रहार से कुशलपूर्वक बच गया और राजमहल मे आकर चोर को पकडने का उपाय सोचने लगा। गहरा विचार करने के बाद राजा चोर को भरे बाजार

मे से पकड लेता है। चोर के पास से रत्न निकलवाने के लिए वह युक्ति से काम लेता है। वह सवसे पहले बुद्धिरूपी चोर–कन्या के साथ लग्न–सम्बन्ध जोडता है और चोर को प्रधान वनाता है। तत्पश्चात् विविध उपायो द्वारा चोर के कब्जे मे जो रत्न थे, उन्हे अपने अधिकार मे करता है। राजा शरीर–चोर से रत्न निकलवाने के लिए ही उसे प्रधान वनाता है। चोर को प्रधान बनाने से प्रजा, राजा की निन्दा करने लगी थी, उसी प्रकार कुछ लोग यह कह कर साधुओ की निन्दा करते हैं कि साधु हो जाने पर भी इन्हे खाने ओर कपडा पहनने की क्या आवश्यकता है? परन्तु साधु–आत्मा लोगो की निन्दा की परवाह न करके शरीर–चोर के कब्जे मे से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्न लेने के लिए शरीर–चोर को आदर देता है। जब आत्मा को वुद्धि द्वारा मालूम होता है कि शरीर–चोर के पास अव एक भी रत्न शेप नहीं रहा, तब साधु–आत्मा शरीर–रूपी चोर को सथारारूपी शूली पर चढा देता है और आप स्वावलम्वी बन जाता है। स्वावलम्वी आत्मा रूपी राजा ही प्रजा को स्वावलम्बी बना सकता है। जब तक नायक स्वय स्वावलम्बी नही बन जाता, तब तक वह जनसमाज को कैसे स्वावलम्बी बना सकता है?

इस कथा का सार यह है कि महावीर भगवान् ने भत्त (भोजन) के त्याग के विषय मे जो–कुछ कहा है, वह निर्दयता से नही, वरन् आत्मा के कल्याण के लिए कहा है। पर सथारा करने और कराने मे विवेक की खास आवश्यकता रहती है। अगर सथारा करने–कराने मे विवेक से काम न लिया जाए तो जैन धर्म का उद्योत नही होता। जब ससार के पदार्थो पर ममता नही रहती और सासारिक पदार्थो की जरा भी सहायता नही ली जाती, तभी भोजन का त्याग करके सथारा लिया जा सकता है। आत्मा की पूर्व–तैयारी के बिना सथारा लिया जाए तो मृत्यु पर विजय नही प्राप्त की जा सकती। यही नही, वरन् आत्मा का घात होता है। सथारा तो मृत्यु को जीतने का एक श्रेष्ठ साधन है। मृत्यु का आह्वान करना साधारण आत्मा का काम नही। जो आत्मा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र का बल पाकर बलिष्ठ और निर्भय बन चुका है, वही बलवान आत्मा भोजन का त्याग करके मृत्यु का आह्वान कर सकता हे। वही मृत्यु को जीत सकता है। शरीर का प्रत्याख्यान करने के साथ ही भोजन का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

भगवान् ने आत्मकल्याण करने के लिए जो–कुछ कहा है, उसे नि शक होकर सत्य समझो और उसी ध्रुवसत्य के अनुसरण का प्रयत्न करो। आप कल्याण के लिए सर्वप्रथम स्थूल पाप का त्याग करो। स्थूल पाप का

थोडा–सा त्याग करने पर सूक्ष्म पाप का भी त्याग कर सकोगे। स्थूल पाप त्यागे बिना सूक्ष्म पाप का त्याग नही हो सकता। यह बात स्पष्ट होने पर भी कितने ही लोग स्थूल पाप का त्याग करने से पहले सूक्ष्म पाप को त्यागने दौडते है। उदाहरणार्थ जो पुरुष स्त्रीसग का त्याग नही कर सकता, वह पहले परस्त्री का त्याग करेगा या स्वस्त्री का? मगर आज तो उल्टी गगा बह रही है। लोग स्वस्त्री के साथ कपट करके परस्त्री को स्वीकार करते है। क्या यह विपरीत काम नही है? विपरीत काम का फल विपरीत ही होता है। अतएव पत्येक कार्य को विवेकपूर्वक करो। विवेकपूर्वक कार्य करने से ही स्व का और पर का कल्याण कर सकते हो।



# एकतालीसवां बोल

## सद्‌भाव–प्रत्याख्यान

आहार–त्याग से होने वाले लाभ के विपय मे प्रश्न करने के बाद अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से सद्‌भाव अर्थात् समस्त योगो के निरोध रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे प्रश्न करते हैं।

### मूलपाठ

**प्रश्न– सब्भावपच्चक्खाणेणं भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– सब्भावपच्चक्खाणेण अनियट्टि जणयइ, अनियट्टिपडिवन्ने य अणागारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ, तजहावेयणिज्ज, आउय, नाम, गोय तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्व दुक्खाणमत करइ।। 41।।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न–** भगवन्! सद्‌भाव का अर्थात् समस्त योगो को रोकने रुप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** वृत्ति मात्र का त्याग करने से जीवात्मा अनिवृत्तिकरण पाता है और अनिवृत्तिकरण को प्राप्त अनगार केवली होकर बाकी बचे हुए चार कर्माशो (वेदनीय, आयु, नाम आर गोत्र) को खपाता हे और फिर सिद्ध–बुद्ध तथा मुक्त होकर शात हो जाता है ओर सब दु खो का अत करता हे।

### व्याख्यान

इस प्रश्न पर ऊहापोह करते हुए टीकाकार कहते हे कि यह प्रत्याख्यान सभी प्रत्याख्यानो मे प्रधान है। यह प्रत्याख्यान अन्तिम अवस्था का है, चरम सीमा का है। और प्रत्याख्यान तो एक बार करने के वाद फिर

भी करने पडते है, परन्तु यह ऐसा प्रत्याख्यान है कि एक बार करने के बाद फिर कभी इसे करने की आवश्यकता ही नही होती। इसी कारण यह प्रत्याख्यान सब प्रत्याख्यानो मे प्रधान स्थान रखता है।

इस पत्याख्यान का नाम सद्भाव–प्रत्याख्यान है। सद्भाव का पचलित सामान्य अर्थ 'अच्छा भाव' होता है। परन्तु यहा यह प्रचलित अर्थ नही लिया गया है। यहा सद्भाव का अर्थ 'परमार्थभूत' किया गया है। जिस पत्याख्यान को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर दूसरी बार कभी कोई प्रत्याख्यान नहीं लेना पडता, उस परमार्थभूत प्रत्याख्यान को सद्भाव–प्रत्याख्यान कहा है। गौतम स्वामी ने इस सद्भाव–प्रत्याख्यान के विषय मे ही प्रश्न किया है। सद्भाव–प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे महावीर भगवान् ने कहा है– सद्भाव–प्रत्याख्यान करने से जीवात्मा अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है। जो अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है अर्थात् शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी पाता है, वह शेष कर्मांशो, अर्थात् वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म, तथा गौत्रकर्म का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दु खो का अन्त करता है। वह अन्तकृत बन जाता है।

यह मूल प्रश्न का उत्तर है। अब इस उत्तर के विषय मे विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यह प्रश्न चौदहवे गुणस्थान से सबध रखता है। अतएव बहुत गम्भीर है। परमार्थभूत सद्भाव–प्रत्याख्यान करने के बाद और कोई प्रत्याख्यान करना शेष नही रहता। यह अन्तिम दशा का प्रश्न है। उदाहरणार्थ कोई पुरुष पहाड पर चढने लगा। चढते–चढते वह अन्तिम शिखर तक पहुच गया। इस अतिम शिखर तक पहुच जाने वाले मनुष्य के विषय मे यही कहा जा सकता है कि उसे जहा तक चढना था वह चढ चुका है। इस प्रकार शिखर पर चढने वाला जब छोटी–छोटी टेकरियो को लाघ चुका तभी वह वहा पहुच सका है। अब वह अन्तिम शिखर तक पहुच गया है। अब उसे कुछ लाघना बाकी नही रहा। इस प्रकार सद्भाव–प्रत्याख्यान [illegible] सीमा का पत्याख्यान है। मान लो कोई मनुष्य अनाज का ढेर तोलता [illegible]–तोलते जब कुछ बाकी नही रहता सब तुल जाता है तब तोल [illegible] को चरम धारण कहते हैं। इसी प्रकार जब एक के बाद [illegible] प्रत्याख्यान करते–करते त्याग चरम सीमा पर आता है, तब सद्भाव का

प्रत्याख्यान किया जाता है। यह सद्भाव–प्रत्याख्यान करने के बाद किसी भी प्रकार का त्याग करना शेष नही रहता। बस, यही त्याग अन्तिम त्याग होता है।

भगवान् ने चौदह गुणस्थान बतलाए हैं। गुणस्थान अर्थात् आत्मिक गुणो का विकासक्रम। इन चौदह गुणस्थानो मे से पहला गुणस्थान (मिथ्यात्व) तो सभी को भोगना पडता है, अथवा सभी ने भोगा है और बहुत–से भोग रहे हैं, क्योकि यह प्राथमिक भूमिका है। जीवात्मा जब इस प्राथमिक भूमिका का अतिक्रमण करता है तभी वह ऊर्ध्वगामी बनता है।

दूसरे गुणस्थान मे जाने के विषय मे शास्त्र मे कहा गया है कि जीव पहले गुणस्थान से सीधा दूसरे गुणस्थान मे नही जाता। पहला गुणस्थान छूटते ही जीव प्राय चौथे गुणस्थान मे पहुचता है। वहा सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर सम्यक्त्व से गिरते समय दूसरे गुणस्थान मे आता है। जैसे वमन होने के बाद मुह मे थोडी देर तक उस वस्तु का स्वाद रहता है, अथवा वृक्ष से गिरते समय फल थोडी देर तक बीच मे रहता है, इसी प्रकार की सास्वादन अवस्था है। (सम्यक्त्व मे भ्रष्ट होने के बाद और मिथ्यात्वदशा मे पहुचने से पहले की अवस्था को दूसरा सास्वादन गुणस्थान कहते है।)

तीसरा मिश्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे आने वाला जीव भेदभाव नही मानता। वह सब को समान समझता है। यद्यपि यह गुणस्थान दूसरे गुणस्थान से नम्बर मे ऊचा है, परन्तु इस गुणस्थान मे मिश्र–सदिग्ध अवस्था रहती है। शास्त्रकार मिश्र अवस्था को भी अज्ञानावस्था ही कहते है, क्योकि तीसरे गुणस्थान वाला जीव सत्य–असत्य का विवेक नही कर सकता। जो पीला सो सोना और जो सफेद सो दूध, ऐसा मानने से कभी धोखा खाने का अवसर आ जाता है। यह सच है कि सोना पीला होता है और दूध सफेद होता है, मगर सोना पीला होने के कारण सभी पीली वस्तुए सोना नही कहला सकती। इसी प्रकार दूध सफेद होता है, एतावत सभी वस्तुए दूध नही कही जा सकती। तीसरे गुणस्थान मे जीव सब देवो, सब गुरुओ और सब धर्मो को समान समझता है, यही उसका अज्ञान है। सत्य और असत्य की परख न कर सकने का कारण उसका अज्ञान ही है। इसी अज्ञान के कारण तीसरे गुणस्थान की अवस्था अज्ञानावस्था कहलाती है।

जब आत्मा अपने गुण का थोडा–बहुत विकास करता है तब चोथे गुणस्थान मे आता है। इस गुणस्थान मे आने पर उसे हेय ओर उपादेय का

विवेक हो जाता है। जब आत्मा को यह विवेक हो जाता है कि कौनसी वस्तु हेय अर्थात् त्यागने योग्य है, कौनसी वस्तु उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है और कौनसी वस्तु उपेक्षा करने योग्य है, तभी शास्त्रकार उसे ज्ञानी कहते हैं। इस अवस्था मे सम्यक्त्वी जीव के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय नही हो जाता, परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से वह वस्तुस्वरूप को यथातथ्य जानने लगता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से वह अपने ज्ञान को सक्रिय रूप नही दे सकता। सम्यग्दृष्टि जीव को देव, गुरु और धर्म मे कौन सत्य है और कौन असत्य है, ऐसी विवेक–बुद्धि तो उत्पन्न हो जाती है, परन्तु चारित्रमोहनीय के उदय के कारण वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नही कर सकता।

प्रश्न किया जा सकता है कि सभी बातो का निर्णय अगर बुद्धि द्वारा ही होता है तो फिर श्रद्धा की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धि को सम रखना अर्थात् विवेक–बुद्धि को प्रकट करना ही श्रद्धा है। श्री आचारागसूत्र मे भी कहा है–

**'समय ति मन्नमाना एगया समया वा असमया वा समया होति त्ति उविहाए। असमय, त्ति मन्यमाना एगया समया वा असमया वा होति त्ति उविहाए।'**

भावार्थ– किसी मनुष्य मे भले ही अधिक बुद्धि न हो, फिर भी उसकी थोडी–सी बुद्धि भी अगर निष्पक्ष अर्थात् सम हो तो उस मनुष्य के लिए सभी वस्तुए सम बन जाती है। फिर भले ही कोई वस्तु विषम हो, तो भी समबुद्धि वाले को सम वस्तु द्वारा मिलने वाला लाभ मिल ही जाता है। उदाहरणार्थ, कोई साधु–महाराज किसी के घर गोचरी के लिए गए। उन्होने अपनी बुद्धि के अनुसार आहार–पानी के विषय मे निर्णय कर लिया। साधुमहाराज सम बुद्धिपूर्वक निर्दोष आहार–पानी लेते है। परन्तु कदाचित् आहार–पानी दूषित होने पर भी साधु को समबुद्धि मे वह निर्दोष मालूम हुआ हो और निर्दोष समझ कर ही उसे ग्रहण किया हो तो भी समबुद्धि के कारण साधु को दूषित आहार लेने का दोष नही लग सकता। यह ज्ञानी पुरुषो का कथन है। इसका कारण यह है कि उस साधु मे समभाव है और अपनी समबुद्धि से वह आहार को निर्दोष समझता है। अतएव उसे निर्दोष आहार का ही फल प्राप्त होता है। छद्मस्थ साधु अपनी बुद्धि के अनुसार ही किसी बात का निर्णय कर सकता है। वह आहार अगर सदोष है तो सर्वज्ञ की दृष्टि मे है साधु की दृष्टि मे तो वह निर्दोष ही है। अतएव साधु को कोई दोष नही लग सकता।

इसके विपरीत कोई साधु गोचरी के लिए गया। उसने सोचा– यदि आहार–पानी के विषय मे पूछताछ करूगा और वह आहार–पानी दूषित ठहरेगा तो मै उसे ले नही सकूगा। परिणाम यह होगा कि मैं आहार–पानी से वचित रह जाऊगा। अतएव पूछताछ न करना ही उचित है। इस प्रकार विषम बुद्धि वाले साधु के लिए निर्दोष आहार भी दूषित होता है।

कहने का आशय यह है कि अगर अपना हृदय शुद्ध और बुद्धि सम हो तो विषम वस्तुओ का लाभ भी सम वस्तुओ जैसा और सम वस्तुओ जितना ही मिलता है। इसके विपरीत, हृदय अशुद्ध और बुद्धि विपरीत होगी तो सम वस्तुओ का परिणाम विषम वस्तुओ जैसा ही विपरीत होगा।

उपर्युक्त कथन का आशय है कि अपनी बुद्धि सम रखनी चाहिए। प्रत्येक बात का समबुद्धिपूर्वक अर्थात् विवेक के साथ विचार करने से ही आत्मा को यथेष्ट लाभ मिलता है। ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि प्रत्येक बात तीन कारणो से की जाती है। एक, आत्मोन्नति करने के लिए, दूसरे, किसी के साथ व्यवहार करने के लिए और तीसरे, वस्तु–स्वरूप समझने के लिए। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि अगर वस्तु–स्वरूप समझना हो तो वह सात नयो द्वारा समझना चाहिए। सात नयो द्वारा और सप्तभगी द्वारा ही वस्तु का ठीक–ठीक स्वरूप समझा जा सकता है। सात नयो द्वारा वस्तु–स्वरूप किस प्रकार समझा जाता है, यह जानने के लिए विचार करो कि इस समय निगोद के जीव किस स्थिति मे है? जीव निगोद अवस्था मे भले हो, मगर किसी अपेक्षा से सिद्ध कहा जा सकता है और चौदहवे गुणस्थान मे स्थित आत्मा को अपेक्षाभेद से ससारी भी कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप सात नयो द्वारा समझना चाहिए। आत्मकल्याण करने के लिए शब्दादिक नयो का अवलम्बन करना चाहिए और पारस्परिक व्यवहार के लिए शुद्ध व्यवहार से काम लेना चाहिए। साधारणतया आरोप ओर विकल्प से भी वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है, परन्तु वस्तु का आतरिक और बाह्य स्वरूप भलीभाति जानने के लिए सात नयो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हे। सात नय, सप्तभगी निक्षेप आदि द्वारा वस्तु–स्वरूप समझने का प्रयत्न करने पर भी वस्तु–स्वरूप समझ मे न आये तो हृदय मे ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि वीतराग जिन–भगवान् ने जो कुछ भी कहा है, वह सत्य ही हे। इस प्रकार जिन–भगवान् के वचन मे श्रद्धा रखने से भगवान् की आज्ञा का आराधक बना जा सकता है।

कहने का आशय यह है कि ...
विचार करना चाहिए कि मुझ मे अनन्त सामर्थ्य है। मगर उस सामर्थ्य पर कर्मो का आवरण आ जाने से वह प्रच्छन्न हो गई है। जब कर्म–आवरण दूर हो जाएगे तो आत्मा के लिए कोई भी कार्य असम्भव नही रह जायेगा। भक्तजन इस प्रकार विचार करके ही परमात्मा की प्रार्थना करते है कि 'हे प्रभो ! तेरे नाम मे बहुत महिमा छिपी है। एक बार भी अगर तेरे नाम का शब्दनय द्वारा उच्चारण किया जाये और तेरे नाम पर अविचल श्रद्धा हो तो मेरी सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है।'

सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है, परन्तु उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ और सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है। क्रमश प्रयत्न और पुरुषार्थ करने से आत्मा मे सग्रहनय की दृष्टि से रही हुई शक्ति भी एवभूत बन जाती है। कोई मनुष्य पहाड पर चढने के लिए छलाग मारना चाहे तो वह नीचे गिरेगा, अगर सीढी–दर–सीढी चढेगा तो पहाड के अन्तिम शिखर तक पहुच जाएगा। इसी प्रकार क्रमपूर्वक आत्मा के गुणो का विकास करने से आत्मा चौदहवे गुणस्थान पर पहुच सकता है।

शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्मा एक है। यद्यपि आत्माओ मे विकसित, अविकसित और अर्धविकसित, ऐसे भेद है, परन्तु शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्माए एक है। उदाहरणार्थ, मिट्टी से घडा, सुराही आदि अनेक बर्तन बनते है, परन्तु मिट्टी की दृष्टि से तो भिन्न–भिन्न प्रतीत होने वाले बर्तन भी समान ही है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व की दृष्टि से सब आत्माए एक है। मिट्टी के भिन्न–भिन्न पदार्थ भी सग्रह की दृष्टि से मिट्टी रूप से एक है, उसी प्रकार जीवात्मा भिन्न–भिन्न होने पर भी सग्रहनय की दृष्टि से एक है। यही बात दृष्टि मे रखकर श्री स्थानागसूत्र मे कहा है, 'एगे आया।' अर्थात् आत्मा एक है। वेदान्त मे भी इसी बात की पुष्टि की गई है –

**वाचारम्भणो विकार मृत्तैकवसताम्**

अर्थात घडा सुराही आदि जो वचन बोले जाते हैं, वे मिट्टी के विकार होने के कारण ही बोले जाते है। वास्तव मे तो ये सब भिन्न–भिन्न वर्तन मिट्टी से ही बने है।

इसी प्रकार सिद्ध और ससारी आदि भेद विकार के कारण है। शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से तो वास्तव मे सब आत्मा समान ही है।

इस कथन के आधार पर हमे यह सोचना चाहिए कि हमे मिट्टी के समान ही रहना उचित है अथवा अपने जीवन को विशेष उन्नत बनाना चाहिए? जब तक मिट्टी से घट नही वनता तव तक वह मिट्टी मस्तक पर धारण नही की जाती। यही नही, घडा वनने से पहले मिट्टी पैरो तले रौंदी जाती है। पर जव मिट्टी से घडा वन जाता हे, तव वही मस्तक पर धारण की जाती है। इसी प्रकार आत्मा जब तक सिद्ध, वुद्ध और मुक्त नही बनता, तब तक वह ससार मे ही भटकता रहता है। परन्तु जैसे मिट्टी कुम्हार के हाथ मे पहुचकर घट का रूप धारण करती है, फिर मस्तक पर धारण करने योग्य बन जाती है, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मा के शरण मे जाकर एवभूत वन जाता है, अर्थात् त्याग चरम सीमा पर पहुच जाता है तथा सम्पूर्णता प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है, तभी वह ससार की भ्रमणाओ से छुटकारा पाता है और भवभ्रमण से मुक्त होकर कृतकृत्य बन जाता है। सिद्ध अवस्था मे पहुचने के लिए ही सद्भाव–प्रत्याख्यान किया जाता है। भगवान् ने कहा है– सद्भाव–प्रत्याख्यान करने से जीवात्मा शेष कर्माशो का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है और समस्त दु खो का अन्त करके चरम सीमा पर पहुचता है।

भगवान् ने जगत् के कल्याण के लिए जो–कुछ कहा है, उसे हृदय मे स्थापित करके जीवन को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवद्वाणी को जीवन मे उतारने से ही आत्मकल्याण हो सकता है। विचार को आचार मे लाना कल्याण का मार्ग है।

सद्भाव–प्रत्याख्यान का अर्थ यथाभूत प्रत्याख्यान अर्थात् सच्चा त्याग है। सच्चा और अन्तिम त्याग तभी हो सकता है, जब ससार के समस्त बन्धनो का त्याग करके शैलेशी अवस्था अर्थात् चौदहवे गुणस्थान की भावावस्था प्राप्त कर ली जाये। सद्भाव–प्रत्याख्यान के प्रश्न को दूसरे शब्दो मे इस रूप मे रखा जा सकता है कि चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है? चौहदवे गुणस्थान की स्थिति पाच लघु अक्षर अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय की है। यह अवस्था साव्यवहारिक सकर्ष नही है, अर्थात् वाणी द्वारा नही कही जा सकती। फिर भी गौतम स्वामी द्वारा इस अवस्था के विपय मे जेसा प्रश्न

किया गया है, उसी पकार अन्तिम अवस्था के विषय मे भी किया गया है। इस प्रश्न से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि मोक्ष के लिए चौदहवे गुणस्थान का भी त्याग करना पडता है। श्री दशवैकालिकसूत्र के चौथे अध्ययन मे भी भगवान् से प्रश्न किया गया है कि– हे प्रभो! जीव जब योग का निरोध करता है तब उसे क्या अवस्था प्राप्त होती है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है–

**जया जोगे निरुभित्ता सेलेसि पडिवज्जइ।**
**तया कम्म खवित्ताणं सिद्धि गच्छइ नीरओ।**
**जया कम्म खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ।**
**तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ।।**

दश 4–24–25

अर्थात् जब जीवात्मा योग का निरोध करता है, तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करता है और उसके बाद कर्मो का क्षय करके लोक के अग्रभाग पर पहुचता तथा शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है। कर्मो का नाश होने पर जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

यही बात सद्भाव–प्रत्याख्यान सबधी इस प्रश्न के विषय मे समझनी चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि सद्भाव का अर्थ अच्छे भाव और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है। तो क्या इस प्रश्न मे अच्छे भाव का त्याग करना कहा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं– चौदहवे गुणस्थान की शैलेशी अवस्था व्यवहार मे स्वत और निश्चय मे करने से प्राप्त होती है। प्रत्येक क्रिया कर्ता के करने से ही होती है। कर्ता द्वारा बिना किए कोई क्रिया नही हो सकती। परन्तु कुछ क्रियाए ऐसी होती है कि वे समझ मे आ जाती हैं और कुछ क्रियाए समझ नही आती। उदाहरणार्थ, पेट मे गये हुए दूध की रसभाग और खलभाग मे परिणति हो जाती है। यद्यपि यह परिणति आत्मा की शक्ति द्वारा ही होती है। परन्तु यह परिणति किस प्रकार और कब हो गई है, यह बात जल्दी समझ मे नही आती। यह तो निश्चित है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर मे यह परिणमन हो ही नही सकता। अगर किसी मुर्दा शरीर मे किसी उपाय द्वारा दूध पहुचा दिया जाये तो क्या वह रसभाग और खलभाग मे परिणत हो सकेगा? नही। अतएव स्पष्ट है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर मे किसी पकार की परिणमनक्रिया नही हो सकती, उसी प्रकार जीव जब तेरहवे गुणस्थान मे जाता है, तब सदभाव–प्रत्याख्यान की स्थितिरूप परिणति भी व्यवहार से स्वत ही होती है परन्तु निश्चय से तो करने से ही

होती है। यह प्रश्न भी अन्तिम अवस्था से सबध रखता है। सद्भाव का प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए की जाने वाली अन्तिम क्रिया है। यह क्रिया कर चुकने पर फिर कोई भी क्रिया करना शेष नही रहता। यह बात हम लोग भले ही देख या जान न सकते हो, परन्तु ज्ञानी महात्मा अवश्य देखते और जानते है।

व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न कर्त्ता को भी लागू पडता है। कोई बात कर्ता के विषय मे होती है तो कोई भाव के विषय मे। व्याकरण मे कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग मे अन्तर वतलाया गया है, मगर यह अन्तर सब को समझ मे नही आ सकता। कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग का अन्तर वतलाने के लिए एक उदाहरण भी दिया गया। जैसे, देवदत्त भोजन पकाता है। इस उदाहरण को दो प्रकार से कह सकते है। कर्तृप्रयोग मे कहेगे– देवदत्त भोजन पकाता है। भावप्रयोग मे कहा जायगा– देवदत्त द्वारा भोजन पकाया जाता है। इस उदाहरण मे कहने का आशय तो एक ही है, किन्तु एक ही आशय दो प्रकार से कहा जा सकता है। इसी प्रकार सद्भाव–प्रत्याख्यान के प्रश्न मे भी कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग, दोनो, का उपयोग हो सकता है। परन्तु यहा कर्तृप्रयोग का उपयोग किया गया है, अर्थात् यह क्रिया भी आत्मा के करने से ही होती है। आत्मा न करे तो क्रिया हो कैसे? यही बात बताने के लिए यह पूछा गया है कि सद्भाव–प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? कर्तृप्रयोग किया गया है, परन्तु यह क्रिया व्यवहार मे स्वत ही होती है।

कोई बात तुम्हारी समझ मे न आये तो मुझ से पूछ सकते हो। मे समझाने का प्रयत्न करूगा। फिर भी अगर समझ मे न आये तो सूत्र–सिद्धान्त पर विश्वास रखकर यही मानना चाहिए कि भगवान् की प्ररूपणा सत्य ही है। हम छद्मस्थ होने के कारण अमुक सत्य बात नही समझ पाते, यह हमारा दोष है।



# बयालीसवां बोल

## प्रतिरूपता

सद्भाव–प्रत्याख्यान अन्तिम दशा का प्रश्न है। उसका विवेचन किया जा चुका है। यहा साधक–दशा के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है। सभी प्रत्याख्यानो मे व्यवहार मुख्य है, अतएव अब व्यवहार के विषय मे प्रश्न किया जा रहा है। श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते है –

### मूलपाठ

**प्रश्न– पडिरूवयाए णं भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– पडिरूवयाए णं लाघविय जणयइ, लहुभूए ण जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते, सव्वपाण–भूय–जीव– सत्तेसु विससणिज्जरूवे अप्पपिडलेहे जिइंदिए विउलतवसमिइसमन्नागए या वि भवइ।। 42।।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न–** भगवन्! प्रतिरूपता (आदर्श जिनकल्पी की बाह्य और आन्तरिक उपाधि से रहित दशा) से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** जीव प्रतिरूपता से लघुता (निश्चिन्तता) पाता है और लघुशील जीव अप्रमत्त होता है। प्रशस्त तथा प्राकृतिक लिग (तथारूप का गुणयुक्त दव्यलिग) धारण करता है तथा निर्मल सम्यक्त्वी और समिति सहित बनता है और सब जीवो का विश्वासपात्र जितेन्द्रिय तथा विपुल तपश्चर्या से युक्त भी बनता है।

### व्याख्यान

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले उसके शब्दार्थ पर विचार कर लेना उचित है। प्रतिरूपता शब्द प्रति+रूपता इस प्रकार दो शब्दो के मेल

से बना है। 'प्रति' का साधारण अर्थ अनुकरण करना होता है। यहा रूप का अनुकरण समझना चाहिए। अतएव इस प्रश्न का अर्थ यह हुआ कि स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण कर लेने से जीव को क्या लाभ होता है?

कल्प का अर्थ है– मर्यादा। मर्यादा भूमिका के अनुसार होती हे। अर्थात् जो जैसा अधिकारी होता हे, उसी के अनुसार उसकी मर्यादा होती हे। अगर मर्यादा बधी न हो तो कर्ता का भी नाश होता है और कार्य का भी नाश होता है। इस कारण मर्यादा भूमिका के अनुसार ही बाधी जाती हे और मर्यादा का ही दूसरा नाम कल्प है। श्रीभगवतीसूत्र नामक पाचवे अग मे साधुओं के लिए मुख्यत पाच कल्प बतलाये गये है – (1) स्थितकल्प, (2) अस्थितकल्प, (3) स्थविरकल्प, (4) जिनकल्प और (5) कल्पातीत।

इन पाच कल्पो का वर्णन अन्य अनेक सूत्रो मे तथा ग्रन्थो मे किया गया है। कल्पसूत्र कल्प बतलाने के लिए ही है। अधिक समय तक सूत्र का पाठ किया जा सके, इसलिए उस सूत्र मे दूसरी बातो का भी वर्णन किया गया है, फिर कल्पसूत्र मुख्य रूप से कल्प बताने के लिए ही है। कल्प बताकर साधुओ से कहा गया कि जैसी स्थिति और जेसी शक्ति हो, वैसे ही कल्प का पालन करो। ऐसा न हो कि शक्ति न होने पर भी कल्पातीत बन जाओ। शक्ति के अनुसार ही कल्प–मर्यादा का पालन करना चाहिए। शक्ति के अभाव मे कल्पातीत नही बना जा सकता।

भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधु के लिए स्थितकल्प बतलाया गया। जेसे एक शेषकाल पूर्ण हो जाने के बाद उसी स्थान पर साधु को रुकना चाहिए या नही ? इस विषय मे कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के शासन के साधु एक शेषकाल पूर्ण हो चुकने पर उस स्थान पर नही रुक सकते। उसी स्थान पर अधिक ठहरना उनके लिए मर्यादा–विरुद्ध है। अगर इस प्रकार की कोई मर्यादा न बाधी गई होती तो बराबर क्लेश होता और मर्यादा पालने वाले साधुओ का स्थान मर्यादा न पालने वाले साधु ले लेते। इस अव्यवस्था को हटाने के निमित्त साधुओ के लिए यह मर्यादा बतलाई गई है कि वे एक स्थान पर एक शेषकाल से अधिक न रुके। इसी प्रकार चातुर्मास के लिए भी मर्यादा बाधी गई हे। शास्त्रो मे उत्तम, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन तरह के चातुर्मास कहे गये हें। चातुर्मास कल्प के विषय मे बतलाया गया है कि साधु चातुर्मास के जितने दिन एक स्थान पर रहा हो, उसके दुगुने दिन दूसरी जगह व्यतीत करने के बाद ही उस स्थान पर आ सकता है। उससे पहले उस स्थान पर नही आ सकता।

कुछ लोगो का कहना है कि कल्पमर्यादा मे क्या धरा है ? पर ऐसा समझने वालो को समझना चाहिए की महापुरुषो ने जो कल्पमर्यादा बताई है, वह सहेतुक होने के कारण व्यर्थ नही है। मर्यादा बाधना व्यर्थ है, ऐसा कहने वाले मर्यादा का पालन न कर सकने के कारण उसे व्यर्थ कहते है। वास्तव मे मर्यादा बाधना व्यर्थ नही है। मर्यादा बाधने मे तो महान् उद्देश्य और आशय छिपा है।

जैसे शेषकाल और चातुर्मास की मर्यादा बाधी गई है, उसी प्रकार वस्त्र, पात्र, भोजन, स्थान आदि की भी मर्यादा बतलाई है। यह मर्यादा भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओ के लिए ही है। शेष तीर्थंकरो के साधुओ के लिए ऐसी मर्यादा नही है। इस कथन पर शका हो सकती है कि ऐसा होने का क्या कारण है? यह तो एक प्रकार का पक्षपात जान पडता है। इस शका का समाधान यह है कि महापुरुषो ने किसी के साथ पक्षपात नही किया है। उन्होने अपने ज्ञान मे देखकर आवश्यकता के अनुसार ही परिवर्तन किया है। आवश्यकता के अनुसार ही मर्यादा बाधना उचित है, यह बात एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाता हू।

एक सेठ के दो पुत्र थे। दोनो का विवाह हो गया था। एक पुत्रवधू सोच–समझ कर काम करती और अपने काम की मर्यादा भी रखती थी, मगर दूसरी ऊटपटाग काम करती थी और किसी प्रकार की मर्यादा भी नही रखती थी। इस दूसरी पुत्रवधू की अव्यवस्थित कार्यप्रणाली देखकर सेठ ने उसके लिए ऐसी मर्यादा बाध दी कि वह अमुक रकम से अधिक खर्च नही कर सकती। पहली पुत्रवधू पहले से ही सोच–समझकर मर्यादापूर्वक काम करती थी अतएव उसे यह छूट दी गई कि वह इच्छानुसार खर्च कर सकती है। सेठ ने इस प्रकार मर्यादा बाधकर क्या कुछ अनुचित किया? सेठ को एक पुत्रवधू के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसने मर्यादा बाध दी और दूसरी के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत नही हुआ तो मर्यादा नही बाधी। सेठ के हृदय मे किसी के प्रति पक्षपात नही है, फिर भी अगर उसे कोई पक्षपाती कहता है तो कहने वाले की भूल है।

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने और भगवान् पार्श्वनाथ ने एक ही [illegible] मार्ग बतलाया है परन्तु दोनो ने अपने–अपने साधुओ के लिए [illegible] कल्पमर्यादा बाधी थी। भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओ को [illegible] कहा गया है और भगवान् महावीर के साधु स्थितकल्पी [illegible] पार्श्वनाथ ने और भगवान महावीर ने काल आदि का

विचार करके ही कल्पमर्यादा वाधी थी। मर्यादा वाधने मे पक्षपात करने का कोई कारण नहीं था।

भगवान् ने जो मर्यादा वाधी हे, उसका शक्ति के अनुसार अवश्य पालन करना चाहिए। अपने मे शक्ति हो ओर वन मे विना वस्त्र धारण किए रहा जा सकता हो, तो ऐसी अवस्था मे जिनकल्पी रहना उचित हे। अगर शक्ति न हो तो स्थविरकल्प का पालन करना चाहिए। स्थविरकल्प का सामान्य अर्थ यह है कि साधु स्वय सयम मे स्थिर रहे ओर दूसरो को भी सयम मे स्थिर रखे। स्थविरकल्पी का आचार–विचार ओर आहार–विहार ही एसा होना चाहिए कि जिसमे वह स्वय सयम मे स्थिर रह सके ओर दूसरो को भी सयम मे स्थिर रख सके।

स्थविरकल्पी ओर जिनकल्पी मे क्या अन्तर हे? यह वात एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हू। कल्पना कीजिए, एक गाय वछडा वाली हे और दूसरी विना बछडे की हे। कदाचित् वाघ दोनो पर हमला करे तो विना वछडे की गाय तो पूछ ऊची उठाकर भाग जाती है, मगर वछडा वाली गाय को तो अपनी और अपने बछडे की रक्षा करनी पडती हे। वह गाय बाघ से अपने वछडे की रक्षा करती है और जव बाघ दूर चला जाता हे तो वछडे को मुह के आगे करके चलती है। बछडे को साथ ले चलने के कारण गाय की गति धीमी होना स्वाभाविक हे। ऐसा होने पर भी यह ससार केवल वछडा वाली या केवल बिना वछडे की गायो से ही नही चल सकता। ससार मे दोनो प्रकार की गायो की आवश्यकता हे। इसी प्रकार साधु तो जिनकल्पी भी हैं और स्थविरकल्पी भी हें, मगर दोनो प्रकार के इन साधुओ मे एक जिनकल्पी सिर्फ अपनी ही आत्मा का कल्याण करते हें ओर दूसरे स्थविरकल्पी अपने साथ दूसरो का भी कल्याण करते हैं। जिनमे शक्ति होती हे वे वन मे जाकर नग्न रह सकते हें ओर अछिद्रपाणी हो तो कर–पात्र मे किसी एक गृहस्थ के घर से आहार लेकर आहार कर सकते हें। इस प्रकार से आत्मकल्याण करने वालो के लिये मोक्ष भी समीप ही हे। परन्तु जिनम इतनी शक्ति नही होती, वे स्थविरकल्पी होकर आत्मकल्याण के साथ ससार का भी सुधार करते हुए विचरते हें। अतएव जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी को मोक्ष प्राप्त करने मे विलब होना स्वाभाविक हे। जिनकल्पी ओर स्थविरकल्पी, दोनो, का ध्येय तो एक ही, मोक्षप्राप्ति होता हे, परन्तु दोनो की मोक्ष जाने की गति मे अन्तर होता हे। जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी की मोक्ष जाने की गति धीमी होती हे।

शास्त्र मे स्थविरकल्पी की दस मर्यादाए बतलाई गई है। इन सब मर्यादाओ का वर्णन करने का यहा अवकाश नही है, अतएव सक्षेप मे यही कहता हू कि स्थविरकल्पी साधु दस प्रकार की मर्यादाओ का समुचित रूप से पालन करता हुआ, स्व–पर का कल्याण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

साधु तो जिनकल्पी भी होता है और स्थविरकल्पी भी होता है, ऐसी अवस्था मे अगर कोई जिनकल्पी को ही साधु माने और स्थविरकल्पी को साधु न माने तो वह विराधक है। इसी प्रकार अगर स्थविरकल्पी को ही साधु माने और जिनकल्पी को साधु न माने तो भी विराधक है। दोनो प्रकार के साधुओ को साधु मानने की उदारता रखनी चाहिए, तुच्छता नही रखनी चाहिए। भगवान् ने जिनकल्पी और स्थविरकल्पी, दोनो, को साधु कहा है। भगवान् ने कहा है कि स्थविरकल्पी साधु के बिना सघ की सेवा नही हो सकती। स्थविरकल्पी साधु पर ही सघ–सेवा का भार है। अतएव स्थविरकल्पी साधु को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे सघ की सेवा भलीभाति हो सके। यद्यपि सघ का भार स्थविरकल्पी साधु पर है, परन्तु उस भार को वहन करने के लिए श्रावको का सहकार भी होना आवश्यक है। अगर कोई साधु उन्मार्ग पर जाता हो तो उसे सन्मार्ग बतलाना श्रावको का कर्तव्य है। अगर साधु बिगडेगा तो ससार बिगड जाएगा और यदि साधु सुधरेगा तो ससार सुधरेगा। ससार का कल्याण करने का काम साधुओ के हाथ मे है। परन्तु साधुओ का सुधार करने के लिए श्रावको को भी अपना सुधार करना पडेगा। जब तक श्रावक स्वय नही सुधरेगे तब तक साधुओ पर उनकी छाप नही पडेगी। जनसमाज का कल्याण करना सरल काम नही है। इस के लिए साधुओ को सुधरना पडेगा और साधुओ का सुधार करने के लिए सर्वप्रथम श्रावको को सुधरना होगा। सक्षेप मे जीवन–सुधार करने मे ही सब का कल्याण है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सुधार करके अपना और पराया कल्याण करे यही मेरी मगलकामना है।

[illegible] ने कहा है पतिरूपता से अर्थात् स्थविरकल्पी का आदर्श [illegible] करने से जीव मे हलकापन लघुता आ जाती है। आत्मा उपाधि [illegible] आप को शक्तिशाली मानता है परन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि [illegible] शक्तिशाली नही होता वरन भारी बनता है। जीवात्मा जब [illegible] तब उसमे लघुता आ जाती है और उसका भारीपन [illegible] ने छह खड का राज्य छोडकर [illegible] ने अपनी ऋद्धि का त्याग करके इस [illegible]

साधुवेष को अपनाया था। साधुवेश धारण करने से आत्मा मे लघुता आने के कारण ही समृद्ध लोग अपनी ऋद्धि–सिद्धि का त्याग किया करते थे।

साधुवेष मे ऐसा क्या चमत्कार है? यह बात अगर तुम लोग भलीभाति न समझ सको तो कम से कम इतना तो अवश्य मानो कि 'महाजनो येन गत स पन्था ।' अर्थात् महान् पुरुष जिस मार्ग पर चले है, उसी सन्मार्ग पर हमे भी चलना चाहिए। साधुवेष धारण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे इस तरह विचार करो कि कोई मनुष्य अन्तरग मे चाहे जैसा साधु हो, लेकिन अगर उसने साधु का वेश धारण नहीं किया है तो तुम उसे साधु नही मानोगे और न वन्दना ही करोगे। यह ठीक है कि केवल साधुवेश धारण करने से ही कोई साधु नही हो जाता, परन्तु निश्चय का काम निश्चय मे होता है और व्यवहार का काम व्यवहार मे होता है। व्यवहार मे लिग का होना आवश्यक माना गया है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि स्थविरकल्पी साधु का लिग धारण करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने साधुवेष धारण करने का एक लाभ तो यह बतलाया है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा मे लघुता आती है।

साधुवेष मे कैसी शक्ति है, इस विषय मे मुझे निजी अनुभव हुआ है। जब मैंने साधुदीक्षा ली, तब शीतकाल था और जोरो की सर्दी पडती थी। दीक्षा लेने से पहले के दिन रात्रि के समय ऐसी सर्दी लगी थी कि खूब कपडे ओढने पर भी वह कम नही हुई। उस समय मेरे मौसेरे भाई ने मुझसे कहा–कल दीक्षा लेनी है और आज कडाके की सर्दी लग रही हे! तो फिर दीक्षा लेने के बाद सर्दी कैसे सहन कर सकोगे? मैंने उत्तर दिया– 'कल की बात कल देखी जाएगी। आज तो मुझे बहुत सर्दी लग रही है, मानो मेरी परीक्षा लेने आई है।'

दूसरे दिन मैंने दीक्षा ली। उस रात को नदी के किनारे बने हुए एक मन्दिर मे हमने निवास किया। मन्दिर का द्वार नदी के सम्मुख था ओर नदी की तरफ से साय–साय करता हुआ पवन आ रहा था। मेरे शरीर पर सिर्फ गाती पछेवडी थी और ओढने के लिए एक चादर था। ओढने के इतने कम साधन होने पर भी मुझे ठण्ड नही लगी और रात्रि मे ऐसी गाढी निद्रा आई कि पता ही नही चला कि रात्रि कब व्यतीत हो गई है। हालाकि इस रात्रि मे भी पहली रात्रि जितनी ही सर्दी थी। थोडे–से वस्त्रो का उपयोग करने पर भी मुझे सर्दी न लगने के कारण पर विचार करने पर मुझे यह विचार आया कि कल मैं साधुवेष मे नही था, इसी कारण बहुत–से कपडे ओढने पर भी सर्दी कम नही मालूम हुई और आज मै साधुवेष मे हू, अत इतने कम वस्त्र ओढने

पर भी सर्दी नही लगी। यह साधुवेष की ही महिमा है। जब मैने दीक्षा ली थी तब मेरी उम्र अधिक नही थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मेरे सिर पर का बोझा हल्का हो गया है। जब छोटी उम्र मे भी साधुवेष धारण करने से लघुता का अनुभव हुआ तो फिर छह खण्ड की ऋद्धि का परित्याग करके दीक्षा लेने वालो को कैसी लघुता का अनुभव होता होगा ! इस प्रकार साधुवेष धारण न करने से जीव पर ससार का बोझा लदा रहता है, परन्तु साधुवेष धारण कर लेने पर वह हलका – लघु बन जाता है।

साधुवेष धारण करने से मनुष्य हलका हो जाता है, इस बात का पमाण बतलाते हुए भगवान् कहते है– जब आत्मा हलका होता है तब वह प्रमादरहित बन जाता है। यद्यपि प्रमत्त अवस्था षष्ठ गुणस्थान तक बनी रहती है, परन्तु वहा जो प्रमादरहित होने का कथन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा साधुलिग धारण करते ही मद, विषय, कषाय आदि प्रमादो से पृथक् हो जाता है। साधुलिग धारण करने से जीवात्मा प्रमाद का सेवन करते हिचकता है और कदाचित् प्रमाद का सेवन करता भी है तो साधुवेष का ध्यान आते ही वह उसका त्याग कर देता है। उदाहरणार्थ, प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने सातवे नरक मे जाने योग्य सकल्प किया था, परन्तु जब उन्होने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तब 'मैं साधु हू' ऐसा खयाल आते ही वे अपनी मूल स्थिति पर आ गए। वह राजर्षि भी आखिर सुविहित वेष के ही प्रभाव से मूल स्थिति पर आ सके। साधुवेष ने ही उन्हे नरक मे जाने से बचाया। इस प्रकार साधुवेष धारण करने से आत्मा लघुता प्राप्त करता है। यदि साधु का वेष धारण करके भी अपने परिणामो को पवित्र नही रखता, तो उसकी मति के अनुसार ही गति होती है, परन्तु साधुवेष बहुत बार आत्मा को स्थिर करने मे सहायक बनता है और इसी कारण यह कहा गया है कि साधुवेष धारण करने से आत्मा को लघुता प्राप्त होती है और लघुताशील जीव अप्रमादी बनता है। यद्यपि साधुवेष धारण करते ही पमाद सर्वथा नही छूट जाता, परन्तु वेष प्रमाद से मुक्त होने के मार्ग पर ले जाता है और किसी अवसर पर तो आत्मा को पतित होने से भी बचा लेता है। साधुवेष प्रमादरूपी शस्त्र–अस्त्र के आघातो से बचने के लिए बख्तर का काम देता है।

कुछ लोग आध्यात्मिकता के नाम पर साधुवेष आदि की उपेक्षा करते है, परन्तु यह उनकी भूल है। भगवान् ने अपने कल्याण के लिए ही साधुवेष धारण करने का उपदेश दिया है। साधुवेष धारण करने से होने वाले लाभ तो

साधुवेष को अपनाया था। साधुवेश धारण करने से आत्मा मे लघुता आने के कारण ही समृद्ध लोग अपनी ऋद्धि-सिद्धि का त्याग किया करते थे।

साधुवेष मे ऐसा क्या चमत्कार है? यह बात अगर तुम लोग भलीभाति न समझ सको तो कम से कम इतना तो अवश्य मानो कि 'महाजनो येन गत स पन्था ।' अर्थात् महान् पुरुष जिस मार्ग पर चले है, उसी सन्मार्ग पर हमे भी चलना चाहिए। साधुवेष धारण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे इस तरह विचार करो कि कोई मनुष्य अन्तरग मे चाहे जैसा साधु हो, लेकिन अगर उसने साधु का वेश धारण नहीं किया है तो तुम उसे साधु नहीं मानोगे और न वन्दना ही करोगे। यह ठीक है कि केवल साधुवेश धारण करने से ही कोई साधु नही हो जाता, परन्तु निश्चय का काम निश्चय मे होता है और व्यवहार का काम व्यवहार मे होता है। व्यवहार मे लिग का होना आवश्यक माना गया है। इसी कारण गोतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि स्थविरकल्पी साधु का लिग धारण करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने साधुवेष धारण करने का एक लाभ तो यह बतलाया है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा मे लघुता आती है।

साधुवेष मे कैसी शक्ति हे, इस विषय मे मुझे निजी अनुभव हुआ हे। जब मैंने साधुदीक्षा ली, तब शीतकाल था और जोरो की सर्दी पडती थी। दीक्षा लेने से पहले के दिन रात्रि के समय ऐसी सर्दी लगी थी कि खूब कपडे ओढने पर भी वह कम नही हुई। उस समय मेरे मोसेरे भाई ने मुझसे कहा-कल दीक्षा लेनी है ओर आज कडाके की सर्दी लग रही हे। तो फिर दीक्षा लेने के बाद सर्दी कैसे सहन कर सकोगे? मेंने उत्तर दिया- 'कल की बात कल देखी जाएगी। आज तो मुझे बहुत सर्दी लग रही हे, मानो मेरी परीक्षा लेने आई हे।'

दूसरे दिन मेंने दीक्षा ली। उस रात को नदी के किनारे बने हुए एक मन्दिर मे हमने निवास किया। मन्दिर का द्वार नदी के सम्मुख था ओर नदी की तरफ से साय-साय करता हुआ पवन आ रहा था। मेरे शरीर पर सिर्फ गाती पछेवडी थी ओर ओढने के लिए एक चादर था। ओढने के इतन कम साधन होने पर भी मुझे ठण्ड नही लगी ओर रात्रि मे ऐसी गाढी निद्रा आई कि पता ही नही चला कि रात्रि कब व्यतीत हो गई हे। हालाकि इस रात्रि मे भी पहली रात्रि जितनी ही सर्दी थी। थोडे-से वस्त्रो का उपयोग करने पर भी मुझे सर्दी न लगने के कारण पर विचार करने पर मुझ यह विचार आया कि कल म साधुवेष मे नहीं था इसी कारण बहुत-स कपडे ओढन पर भी सर्दी कम नही मालूम हुई ओर आज म साधुवेष म हू, अत इतने कम वस्त्र ओढन

पर भी सर्दी नही लगी। यह साधुवेष की ही महिमा है। जब मैने दीक्षा ली थी तब मेरी उम्र अधिक नही थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मेरे सिर पर का बोझा हल्का हो गया है। जब छोटी उम्र मे भी साधुवेष धारण करने से लघुता का अनुभव हुआ तो फिर छह खण्ड की ऋद्धि का परित्याग करके दीक्षा लेने वालो को कैसी लघुता का अनुभव होता होगा ! इस प्रकार साधुवेष धारण न करने से जीव पर ससार का बोझा लदा रहता है, परन्तु साधुवेष धारण कर लेने पर वह हलका – लघु बन जाता है।

साधुवेष धारण करने से मनुष्य हलका हो जाता है, इस बात का प्रमाण बतलाते हुए भगवान् कहते है– जब आत्मा हलका होता है तब वह प्रमादरहित बन जाता है। यद्यपि प्रमत्त अवस्था षष्ठ गुणस्थान तक बनी रहती है, परन्तु वहा जो प्रमादरहित होने का कथन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा साधुलिग धारण करते ही मद, विषय, कषाय आदि प्रमादो से पृथक् हो जाता है। साधुलिग धारण करने से जीवात्मा प्रमाद का सेवन करते हिचकता है और कदाचित् पमाद का सेवन करता भी है तो साधुवेष का ध्यान आते ही वह उसका त्याग कर देता है। उदाहरणार्थ, प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने सातवे नरक मे जाने योग्य सकल्प किया था, परन्तु जब उन्होने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तब 'मै साधु हू' ऐसा खयाल आते ही वे अपनी मूल स्थिति पर आ गए। वह राजर्षि भी आखिर सुविहित वेष के ही प्रभाव से मूल स्थिति पर आ सके। साधुवेष ने ही उन्हे नरक मे जाने से बचाया। इस प्रकार साधुवेष धारण करने से आत्मा लघुता प्राप्त करता है। यदि साधु का वेष धारण करके भी अपने परिणामो को पवित्र नही रखता, तो उसकी मति के अनुसार ही गति होती है परन्तु साधुवेष बहुत बार आत्मा को स्थिर करने मे सहायक बनता है और इसी कारण यह कहा गया है कि साधुवेष धारण करने से आत्मा को लघुता प्राप्त होती है और लघुताशील जीव अप्रमादी बनता है। यद्यपि साधुवेष धारण करते ही प्रमाद सर्वथा नही छूट जाता, परन्तु वेष प्रमाद से मुक्त होने के मार्ग पर ले जाता है और किसी अवसर पर तो आत्मा को पतित होने से भी बचा लेता है। साधुवेष प्रमादरूपी शस्त्र–अस्त्र के आघातो से बचने के लिए बख्तर का काम देता है।

कुछ लोग आध्यात्मिकता के नाम पर साधुवेष आदि की उपेक्षा करते है परन्तु यह उनकी भूल है। भगवान् ने अपने कल्याण के लिए ही साधुवेष धारण करने का उपदेश दिया है। साधुवेष धारण करने से होने वाले लाभ तो

अनुभवगम्य हैं, बुद्धिगम्य नहीं हैं, इसलिए भगवान् ने कहा है कि साधुवेष धारण करने से ही आत्मा को लघुता का अनुभव होता है।

कहने का आशय यह है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा द्रव्य से और भाव से हलका बन जाता है। द्रव्य से तो उपकरण आदि के भार से हलका हो जाता है और भाव से प्रमादभार से हलका हो जाता है। शास्त्र मे साधु के लिए जितने भडोपकरण आदि रखने का विधान किया गया है, उससे अधिक भडोपकरण आदि साधु अपने पास नही रख सकता और इसी कारण साधु द्रव्य से, उपकरण आदि के भार से हलका बन जाता है। साधु के पास ऐसी कोई वस्तु नही होनी चाहिए, जिसके विषय मे पूछने पर साधु उत्तर न दे सके। साधु के पास जो भी कोई वस्तु हो, वह सयम मे सहायक और उपयोगी होनी चाहिए। कोई भी निरुपयोगी वस्तु साधु के पास नही होनी चाहिए। जिस वस्तु द्वारा इन्द्रियो के विपयो का पोषण हो और साधुता का ह्रास हो, ऐसी वस्तु साधु नही रख सकता। साधु तो सयम मे सहायक और साधुता की पोषक वस्तु ही रख सकता है ओर वह भी शास्त्रविहित परिमाण मे ही। इस प्रकार साधु द्रव्य से अनेक उपकरणो की उपाधि से मुक्त होकर हलका हो जाता है और भाव से क्रोध आदि कषायो का परित्याग करके हलका हो जाता है। साधुलिग को धारण करने वाला कोई व्यक्ति कदाचित् क्रोध करने लगे तो श्रावक, साधु से कह सकता हे कि, महाराज! साधु होकर क्रोध करना आपके लिए उचित नही हे। हम गृहस्थ हैं, मगर आप तो क्रोध आदि जीतने वाले साधु हैं। आप क्रोध करे, यह उचित नही कहा जा सकता। इसी प्रकार श्रावको के कथन मात्र से क्रोध करने वाला साधु भी कपाय रा बच जाता हे ओर साधुवेष होने के कारण क्रोध, विपय, कषाय, निद्रा आदि प्रमादो से बच सकता हे। सुविहित साधुवेप के कारण जीवात्मा पाप रो बचता है ओर कर्मगुरुता के भार से हलका वन जाता हे।

प्रमाद को जीतने के लिए साधुवेप धारण किया जाता हे, प्रमाद का बढाने के लिए नहीं। सरकार सिपाहियो को शस्त्र देती हे सो वेरियो को जीतने के लिए देती ह, पर पराजित होने के लिए नही। इसी प्रकार सुविहित वेष भी प्रमाद को जीतने के लिए पहना जाता ह। इसके अतिरिक्त साधुवेष साधुता का चिह्न ह, इसलिए भी धारण किया जाता ह। साधुवेष न धारण करने वाले व्यवहार मे साधु नही कहलाते। प्रकट व्यवहार मे साधु का लिग धारण करने वाले ही साधु कहलाते हैं। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य पुलिस का सिपाही हो परन्तु अगर उसने पुलिस की नियत पोशाक नहीं पहनी है तो उसे कोई पुलिस

का आदमी नही मानेगा और न उसकी आज्ञा मानेगा। भले ही उसे खुफिया पुलिस कोई समझ ले, परन्तु पुलिस की पोशाक के बिना उसे प्रकट रूप मे पुलिस नही माना जा सकता। इसी प्रकार कोई अन्दर से भले ही साधुता के गुणो से युक्त हो, किन्तु जब तक वह साधु का लिग धारण नही करेगा, तब तक उसे प्रकट रूप से साधु नही माना जा सकता। इसी कारण श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है--

**लोगे लिंगपयोयणं।**

अर्थात् लोको मे लिग का प्रयोजन है।

लिग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी रक्षा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवो की रक्षा के लिये ही रखी जाती हैं। इस प्रकार साधुलिग प्रशस्त है। साधुओ के पास जो भी वस्तु हो, वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान, दर्शन और चारित्र की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नही रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, बीकानेर के महाराजा साहब एक बार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होने पूछा-- महाराजश्री! आपके पास क्या--क्या उपकरण है?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे -- 'साधु के पास जितनी चीजे होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजे ही रह सकती हैं, अवगुण उत्पन्न करने वाली नही। साधु के पास ऐसी ही वस्तुए रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हे देखना चाहे तो साधु को दिखलाने मे सकोच न हो। उदाहरणार्थ, अगर किसी साधु के पास दर्पण या कघा हो तो उसे दिखलाने मे साधु को सकोच होगा और ऐसी चीज देखकर लोग साधु का उपहास करेगे। दर्पण या कघा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र [illegible] दिखलाने मे साधु को सकोच नही होगा। शास्त्र तो साधुता का [illegible] है। पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन [illegible] है।

[illegible] आत्मा मे विशुद्धता आती है और वह [illegible] है। प्रशस्त साधुलिग से सम्यक्त्व आदि गुणो की वृद्धि

होती है और इन गुणो मे आत्मा स्थिर होता है। सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमे सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं। साधुवेष से इन गुणो की रक्षा और वृद्धि होती है।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह बतलाते हुए भगवान् ने कहा कि आपत्तिकाल मे साधुवेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है। आपत्तिकाल मे साधुवेष से अध्यवसाय मे किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहा स्मरण मे आ जाता है –

घोडनदी मे एक श्राविका सामायिक मे बैठी थी। सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डक मार दिया। बिच्छू के डक मारने पर वह श्राविका तब तक चुपचाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई। सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी। लोगो ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा – 'मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी अब असह्य पीडा के कारण रोये बिना नही रहा जाता।'

यह सुनकर लोगो ने कहा– 'जब बिच्छू ने डक मारा तब तुम चुप कैसे बैठी रही?'

श्राविका बोली– 'उस समय मैं सामायिक मे थी। सामायिक मे कैसे रो सकती हू!'

इस प्रकार वह श्राविका विच्छू के काटने पर भी सामायिक के समय मन को मजबूत करके बेठी रही और अपना अध्यवसाय दृढ रख सकी। इसी प्रकार वेष आपत्तिकाल मे अध्यवसाय को दृढ रखता हे।

आज सामायिक निरुपयोगी मानी जाती हे और कुछ लोग सामायिक क्रिया के विरुद्ध भी बोलते हैं, मगर सामायिक के विरुद्ध बोलने वाले लोग भूल करते हैं। किसी आपत्ति के समय सामायिक द्वारा अध्यवसाय निश्चल रहते हैं। कुछ लोगो को सामायिक क्रिया मामूली–सी मालूम होती हे, परन्तु वास्तव मे सामायिक किस प्रकार जीवन–साधक हे, यह तो समय आने पर ही पता चलता है। जो लोग नियमित रूप से वरावर सामायिक करत हैं, वही सामायिक का प्रभाव समझ सकते हैं। चोर तो हमेशा नही आते, लकिन तिजोरी मे ताला हमेशा लगाया जाता हे। चोर के आने पर तिजोरी मे ताला लगा होने पर धन की रक्षा हो जाती हे। इसी प्रकार वेप से भी आपत्तिकाल मे अध्यवसायो की रक्षा हो जाती है। इतना ही नही, वरन् साधुवेश की महत्ता प्रकट करते हुए आगे कहा गया हे कि साधुवेश धारण करने वाला साधु प्राणी

भूत, जीव, सत्त्व आदि समस्त पाणियो का विश्वासपात्र बन जाता है। साधुवेष धारण करने वाला साधु निषिद्ध घर मे भी नि सकोच होकर जा सकता है। आज साधुवेषधारी लोगो पर जो अविश्वास पैदा हुआ दिखाई देता है, उसका कारण कुछ और होगा, परन्तु साधुवेष तो विश्वास उत्पन्न करने का ही साधन है।

सुविहित साधुवेष उपधि को अल्प करने मे साधनभूत बनता है और इससे सब पकार की झझट दूर हो जाती है। वेषधारी अल्प ही उपधि रख सकता है और इस पकार वह अधिक सामान सभालने से बच जाता है। साधुवेष जीव को जितेन्दिय बनने का मूक सदेश सुनाता है। इस प्रकार साधुवेष विपुल तप, सयम आदि सद्‌गुणो की प्राप्ति कराता है तथा सद्‌गुणो का सरक्षण करने मे भी साधक बनता है।

सुविहित साधुवेष से उत्पन्न होने वाले अनेक गुणो मे से प्रत्येक गुण पर विचार करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। अतएव समुच्चय रूप मे यहा इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सुविहित साधुवेष धारण करके जो उसकी प्रतिष्ठा बढाते तथा रक्षा करते हैं, वे अपना और पर का कल्याण करते है।

स्थविर वेष धारण करना तो परमात्मा के दरबार मे बैठक प्राप्त करने का पयत्न करने के समान है। दरबार मे बैठने वाले लोगो को भी वेष के विषय मे सावधानी रखनी पडती है, तो फिर क्या परमात्मा के दरबार मे बैठने के लिए वेष की सावधानी नही रखनी चाहिए? आवश्य रखनी चाहिए।

साधुवेष स्वीकार करके प्रत्येक साधु को इस बात का विचार करना चाहिए कि महान् चक्रवर्ती अपनी ऋद्धि–सम्पदा का त्याग करके जिस वेष को धारण करते है वही वेष मुझे भी प्राप्त हुआ है। अतएव मुझे इस वेष के विरुद्ध या इसे कलक लगाने वाला कोई काम नही करना चाहिए। साधुवेष की पतिष्ठा को सुरक्षित रखने का भार हमारे ऊपर भी है और तुम्हारे ऊपर भी है क्योकि तुम (श्रावक) भी चतुर्विध तीर्थ मे एक हो। शास्त्र मे कहा है–

**चउविहे समणसंघे पण्णत्ते, तंजहाए–समणाए, समणीते, सावयाए, सावियाए य।**

अर्थात साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध सघ है। अतएव तुम्हे भी कोई काम ऐसा नही करना चाहिए, जिसके कारण सघ या शासन की प्रतिष्ठा को कलक लगे। तुम्हे ऐसे ही सुकार्य करने चाहिए जिनसे सघ और शासन की प्रतिष्ठा और कीर्ति बढे।

जिन्होने साधुवेष धारण किया है उन्हे ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि अब हमे कुछ करना शेष नही रह गया है। उन्हे विचारना चाहिए कि दूसरे लोग भले ही कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाए, पर मैं अपने कर्तव्य का परित्याग नही करूगा।

शास्त्रकारो ने जनसमाज को कल्याण का यह मार्ग बतलाया है। इस कल्याणमार्ग पर चल कर अनेक साधुओ ने स्व–पर का कल्याण–साधन किया है और अनेक साधक कल्याण साध रहे हैं। कल्याण के मार्ग पर आरूढ होकर सभी लोग स्व–पर का कल्याण–साधन करे, बस, यही हृदयगत भावना है।



# तेतालीसवां बोल

## सेवा

जो साधु, साधुवेष धारण करके कर्तव्यपालन मे तत्पर रहता है, वह आत्मकल्याण की साधना करता है। साधुवेष की शोभा वास्तव मे सेवा से है। नीतिकारो ने सेवा को परमधर्म माना है। सेवा भी तपोमार्ग है। अतएव वैयावृत्य (सेवा) के विषय मे गौतम स्वामी, भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं –

### मूलपाठ

**प्रश्न– वेयावच्चेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्मं निबंधई।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न–** भगवन्! वैयावृत्य अर्थात् सेवा से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** वैयावृत्य से तीर्थकर नाम गोत्र का कर्मबध होता है।

### व्याख्यान

वेयावच्च अथवा वैयावृत्य को व्यावहारिक भाषा मे सेवा कहते है। कितनेक लोग सेवा करने को हलका काम मानते हैं। परन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि सेवा को हलका काम समझने वाला स्वय ही हलका बना रहता है। अर्थात वह उच्च अवस्था प्राप्त नही कर सकता। वास्तव मे सेवा छोटा काम नही है। यह तो महान् कर्तव्य ह। सेवा करने वाले को यह मानना चाहिए कि मै जो सेवा कर रहा हू वह परमात्मा की ही सेवा कर रहा हू। ऐसा मानकर जो साधु स्वयसेवक की भाति सेवा करते हैं उनके लिए भगवान् ने कहा ही है कि वैयावृत्य – सेवा करने वाला तीर्थंकर नाम गोत्र बाधता ह। जब दूसरे

की सेवा करते समय यह समझा जाता है कि मैं परमात्मा की सेवा कर रहा हू, तब वह सेवा अनोखी – अनुपम होती है।

कुछ लोग सेवा के नाम पर सेवा का ऊपरी ढोग करते हैं, परन्तु भीतर से सच्ची सेवा नही करते। एसे लोगो के विषय मे ज्ञानीजनो का कथन है कि वे झूठ–कपट का सेवन करने वाले लोग वास्तव मे परमात्मा की सेवा नही करते, वरन् गुलामी की सेवा करते हैं। सच्ची सेवा मे कभी झूठ–कपट का व्यवहार किया ही नही जा सकता। स्थानागसूत्र मे दस प्रकार की सेवा बतलाते हुए कहा है –

(1) आयरियवेयावच्च (2) उवज्झायवेयावच्च (3) थेरवेयावच्च (4) तवसीवेयावच्च (5) सेक्खवेयावच्च (6) गिलाणवेयावच्च (7) गणवेयावच्च (8) कुलवेयावच्च (9) सघवेयावच्च (10) साहम्मियवेयावच्च।

अर्थात् सेवा दस प्रकार की है–(1) आचार्य की सेवा, (2) उपाध्याय की सेवा, (3) स्थविर की सेवा, (4) तपस्वी की सेवा, (5) शिष्य की सेवा, (6) ग्लान – रोगी की सेवा, (7) गण की सेवा, (8) कुल की सेवा, (9) सघ की सेवा और (10) सहधर्मी की सेवा।

यह दस प्रकार की सेवा बतलाई गई है। इन मे से आचार्य की सेवा करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि आचार्य की सेवा करने से प्रतिक्षण अनन्त कर्मो का क्षय होता है और अन्त मे मोक्ष प्राप्त होता है। इसी प्रकार प्रत्येक सेवा के विषय मे प्रश्नोत्तर किये गये हे। यहा गौतम स्वामी ने समुच्चय रूप मे वेयावृत्य अर्थात् सेवा के फल के विषय मे प्रश्न किया हे। इस प्रश्न के उत्तर मे फरमाया हे कि सेवा करने वाला तीर्थकर गोत्र का उपार्जन करता हे।

जेन शास्त्रो मे तीर्थंकर पद से बडा अन्य कोई पद नही माना गया है। यह पद किसी अन्य पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो सकता हे, ऐसा कथन इन 73 बोलो मे कही भी मेरे देखने मे नही आया। वह महान् फल वेयावृत्य–सेवा करने से प्राप्त होता है, ऐसा बतलाया गया हे। भगवान् ने सेवा का फल इतना उत्तम और महान् बतलाया हे। जिस सेवा से ऐसा महान् फल प्राप्त होता है, वही सेवा करने मे झूठ–कपट का व्यवहार करना कितनी मूर्खता हे। सेवा मे जो छल–कपट करता हे, वह गुलामी की सेवा करता हे, एसा समझना चाहिए। जो पुरुष किसी भी प्रकार की सेवा को परमात्मा की सेवा मानकर करता ह वह सेवा करने मे छल–कपट का व्यवहार कर ही नहीं सकता।

सेवा अनेक पकार से होती है। ग्रन्थो मे कहा है कि भरतजी तथा बाहुबलीजी पूर्वजन्म मे पाच सौ मुनियो की सेवा करते थे। उन मुनियो की बहिरग सेवा भरतजी करते थे और अन्तरग सेवा बाहुबलीजी करते थे। इस सेवा के फलस्वरूप बाहुबलीजी को शारीरिक बल की प्राप्ति हुई और भरतजी को ऋद्धि–सम्पदा का बल प्राप्त हुआ। सेवा का यह फल बहिरग है। सेवा द्वारा दूसरा जो फल मिलता है वह तो अत्यन्त ही महान् है और उसके विषय मे भगवान् ने कहा है कि सेवा करने वाला तीर्थकर गोत्र का उपार्जन करता है। भगवान् ऋषभदेव के विषय मे भी कहा जाता है कि उन्होने जीवानन्द वैद्य के भव मे एक मुनि की खूब ही सेवा की थी और उस सेवा का महान् फल मिला था।

शास्त्र मे जब मुनियो के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हे कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वय ही कर सकते हो। कितनेक लोगो को सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है। परन्तु सेवा कार्य करने मे अरुचि होती है। और अगर किसी रोगी की सेवा करने का अवसर आ जाता है तो उन्हे बडी कठिनाई मालूम होती है। रोगी कपडे मे ही कै, दस्त कर देता है और कभी–कभी रास्ते मे ही चक्कर खाकर गिर पडता है। ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है! फिर भी जो सेवाभावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मान कर करते है, उनकी भावना कितनी ऊची होगी।

वास्तव मे यह अखिल ससार सेवा के कारण ही टिक रहा है। जब ससार मे सेवाभावना की कमी हो जाती है तभी उत्पात मचने लगता है। और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह ससार स्वर्ग के समान बन जाता है। अतएव सेवा कार्य करने मे तनिक भी उपेक्षा नही करनी चाहिये और न छल–कपट ही करना चाहिए। जो मनुष्य माता–पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने मे छल–कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलाता है वह वास्तव मे सेवाभावी नही, वरन् ढोगी है। सच्चा सेवक तो वही है जो सेवा करने मे झूठ–कपट का आश्रय नही लेता और सेवाकार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नही करता। जहा घृणा है वहा सच्ची सेवा नही हो सकती।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया गया है, यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता है –

नदिसेन नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे। उनकी सेवा की प्रशसा इन्द्रलोक तक जा पहुची। इन्द्र ने देवसभा मे नदिसेन मुनि की सेवा की प्रशसा करते हुए कहा–

राजकुमार होने पर भी नदिसेन मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरो के लिए बडा कठिन है।

इन्द्र के ये प्रशसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया – इन्द्र महाराज देवो के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशसा क्यो करते हैं? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यो न की जाय! आखिर नदिसेन मुनि मनुष्य है। मनुष्य की नाक मे दुर्गंध जाती है, अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हे घबरा देना स्वाभाविक और सरल है। इस प्रकार विचार करके उस देव ने नदिसेन मुनि की परीक्षा लेने का दृढ निश्चय कर लिया।

वह देव साधु का स्वाग बना कर, जहा नदिसेन मुनि ठहरे थे, वहा पास के एक जगल मे जाकर पडा रहा। उस देव ने अपने शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रो मे से रक्त और मवाद बहने लगा। उस रक्त और पीव मे से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी। इस प्रकार रोगी साधु का भेष धारण करके उस देव ने नदिसेन मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जगल मे एक साधु बहुत बीमार हालत मे पडे हैं। उनकी सेवा करने वाला कोई नही है, अत उन्हे बहुत अधिक कष्ट हो रहा है।

नदिसेन मुनि को जैसे ही ये समाचार मिले कि वे तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पडे। मुनि मन ही मन विचारने लगे – 'मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु–सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है।'

इस प्रकार विचार कर नदिसेन मुनि रोगी साधु की सेवा करने के लिए जगल मे पहुचे। मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु की ओर ज्यो–ज्यो आगे जाने लगे त्यो–त्यो उन्हे अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी। परन्तु नदिसेन मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घवरा कर रोगी साधु के समीप पहुच गये। नदिसेन मुनि को आते देखकर वह साधुवेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा– 'तुम क्यो इतनी देरी करके आये? मुझे कितना कष्ट हो रहा हे, इसका तुम्हे खयाल ही नही हे? सेवाभावी कहलाते हो और सेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हो!' साधुरूपधारी देव इस प्रकार कहकर नदिसेन को उपालम्भ देने लगा।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गंध फूट रही थी, फिर भी नदिसेन मुनि दुर्गन्ध से न घबरा कर

उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये। मगर पास पहुचते ही वह देव नाराज होकर उपालम्भ देने लगा। उपालम्भ सुनकर नदिसेन मुनि तनिक भी नाराज न हुए। उलटे विलम्ब के लिए क्षमायाचना करने लगे। उन्होने सेवा की आज्ञा देने की भी माग की।

नदिसेन की बात सुनकर देव ने कहा— देखते नही, मेरा शरीर कितना कृश, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है। शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो?

मुनि ने विचार किया— अगर मैं नगर मे दवा लेने जाऊगा तो देर बहुत लगेगी। ऐसा विचार कर उन्होने देव से कहा— अगर आप नगर मे चले तो?

देव— मेरे पैरो मे चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी?

मुनि— मेरे पैर भी तो आपके ही हैं। आप मेरे कधे पर बैठ जाइए। मै उठा कर नगर तक ले चलूगा।

देव— मेरे हाथो मे भी तो शक्ति नही है। तुम्हारे कधे पर चढू तो कैसे चढू ?

मुनि— तो क्या हानि है? मै खुद ही अपने कधे पर बिठा लूगा।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरो की ही शक्ति मानता है और अपना तन मन पर की सेवा के लिए समर्पित कर देता है। सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय मे अकित हो जाये तो यह ससार स्वर्ग बन जाये।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कधे पर चढा लिया। देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर मे से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ करते हुए देव के दुर्गन्धमय शरीर को उठाकर नगर मे ले गये। देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नागरजन मुनि से कहने लगे— 'आप ऐसे रोगी मनुष्य को नगर मे नही ले जा सकते। एक रोगी के पीछे अनेक को रोगी नही बनना चाहिए।'

नागरिकजनो का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढगी हो गई होगी? ऐसी विषम स्थिति मे मुनि के मन मे अनेक प्रकार के तर्क–वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु उन्होने खोटा तर्क–वितर्क नही किया। वे समभावपूर्वक नागरिक लोगो की बात सुनते रहे। मुनि ने मन ही मन विचार किया— मै नागरजनो को भी दुखी नही कर सकता और इस रोगी साधु की

सेवा का भी परित्याग नही कर सकता। हे प्रभो! ऐसी विकट स्थिति मे क्या करू?'

नदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे। इतने मे साधुवेषधारी देव ने भी विचार किया – ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय मे सेवा के प्रति उतना ही दृढ विश्वास है। वास्तव मे इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है। इन्द्र महाराज ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशसा की थी, वास्तव मे मुनि का सेवाभाव वैसा ही प्रशसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधुवेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप मे नीचे उतरा और मुनि के पैर पर गिरकर कहने लगा– हे मुनिपुगव! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा–मूर्ति हैं। आपने सेवा द्वारा देवो को भी जीत लिया है। सेवा करने वाला देवो को भी जीत लेता है। शास्त्र मे भी कहा है –

**देवा वि तं नमसति जस्स धम्मे सया मणो।**

अर्थात् जिनका मन धर्म मे सदा अनुरक्त रहता है, उन्हे देवता भी नमस्कार करते हैं।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नतमस्तक हो जाते है तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? सेवाभावी व्यक्ति को मन मे किसी प्रकार का छल–कपट नही रखना चाहिए। जिसके मन मे विकारभाव नही होता, देव भी उनकी सेवा करते है। अतएव मन को पवित्र रखो।

नन्दिसेन मुनि के मन मे कपटभाव नही था ओर न घृणाभाव ही था। इसी कारण उनकी सेवावृत्ति सफल हुई।

तीर्थंकर बनना तो सभी को रुचता हे, मगर तीर्थंकर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता हे या नही, यह देखो। सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध मे कहा है –

**मौनान्मूक प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,**
**धृष्ट. पार्श्वे नियत दूरतश्चाप्रगल्भ ।**
**क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजात,**
**सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य ।।**

इस श्लोक का सार यह कि सेवाधर्म बडे–बडे योगी महात्माओ के लिए भी अगम्य होता हे। इस बात को स्पष्ट करत हुए कवि कहता है – सेवक जब चुप रहता हे तो स्वामी उसे गूगा कहता है। स्वामी का यह कथन

सुनकर सेवक मन मे विचार करता है कि मेरे मुख से कोई अनुचित शब्द न निकल जाए, यह सोचकर मैं चुप रहता था, परन्तु चुप रहने से स्वामी मुझे गूगा कहते हैं, तो फिर मुझे बोलना चाहिए। इस प्रकार विचार कर सेवक अगर बोलने लगता है तो स्वामी कहता है– यह सेवक तो बहुत ही बकवाद करता है। चुप रहना जानता ही नही। इस प्रकार सेवक चुप रहता है तो गूगा कहलाता है और अगर बोलता है तो बकवादी कहलाता है। अगर सेवक, स्वामी के पास खडा रहता है तो स्वामी उसे निर्लज्ज कहता है। अगर दूर रहता है तो उसे कामचोर की पदवी से विभूषित किया जाता है। इस प्रकार स्वामी के पास खडा रहने पर भी उसे उपालभ मिलता है और पास न खडा रहने पर भी उपालभ मिलता है। इसके अतिरिक्त सेवक अगर स्वामी की कोई बात शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है तो वह डरपोक कहलाता है। अगर स्वामी की बात सुनकर उत्तर देता है तो स्वामी उसे कुलहीन कह देता है। इस प्रकार सेवक की, स्वामी की बात सुन लेने पर भी मुसीबत है और न सुनने पर भी आफत है। इन सब बातो के कारण ही यह कहा गया है कि सेवाधर्म योगियो के लिए भी अगम्य है। सेवाकार्य करना बहुत कठिन है। महान् कार्य का फल महान् ही होता है। सच्ची सेवा करने से तीर्थकर पद की प्राप्ति होती है। तीर्थकर पद प्राप्त होना ही सेवा का महान् से महान् फल है।

जिस व्यक्ति पर सेवा का जितना भार है, वह अपनी शक्ति के अनुसार जितनी ज्यादा सेवा करता है, वह उतने ही परिमाण मे बडा सेवक है। राजा–महाराजा भी एक प्रकार से प्रजा के सेवक ही हैं, क्योकि उनके ऊपर प्रजा की सेवा करने का भार है। प्रजा की सेवा करना राजा–महाराजा का धर्म है कर्तव्य है। जो राजा या महाराजा कुशलतापूर्वक प्रजा की सेवा करता है वह प्रजा का महान् सेवक है। लोग उन्ही की प्रशसा करते हैं जो अधिक से अधिक सेवा बजाते है। जिस प्रकार प्रजा की सेवा करना राजा का कर्तव्य है उसी प्रकार राजा की सेवा करना प्रजा का कर्तव्य है। राज्य के नीति–नियमो का भलीभाति पालन करना ही राजा की सेवा करना है। तुम लोग जब न्याय–नीति का बराबर पालन करो, पर–धन को धूल समान और परस्त्री को माता के समान मानो तभी यह कहा जा सकता है कि तुम राजा की सेवा करते हो। परधन को धूल समान और परस्त्री को माता समान मानने की नीति अगर अपने जीवन मे अमल मे लाओगे तो जन–समाज की और अपनी खुद की भी सेवा कर सकोगे और साथ ही साथ आत्मकल्याण भी साध सकोगे। अगर तुमने परधन को लूटने की और परस्त्री पर कुदृष्टि डालने की

भावना न हो तो देव भी तुम्हे सेवाधर्म से विचलित नही कर सकता। क्योकि उस समय तुम्हारे अन्तर मे सच्ची सेवाभावना जाग्रत हुई होगी और जिसमे सच्ची सेवाभावना जाग्रत हो जाती है उसे कोई भी देव चलायमान नही कर सकता, जैसे नदिसेन मुनि को देव चलायमान नही कर सका था।

सेवा करना भी तप है। वैयावृत्य– सेवा की गणना आभ्यन्तर तप मे की गई है। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से आत्मा की अधिक शुद्धि होती है। महावीर भगवान ने तप की खूब महिमा बतलाई। तपश्चरण द्वारा अवश्य ही आत्मकल्याण होता है। आत्मा के कल्याण का तप अमोल साधन है। जो पुरुष तपोमार्ग को अपनाकर अपनी और जगत् की सेवा करता है, वह स्व–पर का कल्याण–साधन करता है। सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच सबध स्थापित करने वाली सॉकल है। इस सॉकल के द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच सबध जोडोगे तो कल्याण होगा।



# चौवालीसवां बोल

## सर्वगुणसम्पन्नता

सच्ची सेवा करने वाले को तीर्थंकर की पदवी प्राप्त होती है और परिणामस्वरूप वह सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। अतएव गौतम स्वामी सर्वगुणसम्पन्नता के विषय मे भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं –

### मूलपाठ

**प्रश्न– सव्वगुणसम्पण्णयाए ण भंते ! जीवे कि जणयई?**

**उत्तर– सव्वगुणसम्पण्णयाए णं अपुणराविर्त्तिं जणयइ, अपुणराविर्त्ति पत्तएयण जीवे सारीराणं माणसाणं दुक्खाणं णो भागी भवइ।।44।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! सर्वगुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर– ज्ञान आदि सर्वगुणो की प्राप्ति होने से ससार मे फिर नही आना पडता और फिर न आने से जीव शारीरिक और मानसिक दुखो से मुक्त हो जाता है।

### व्याख्यान

[illegible] गुणो का भिन्न–भिन्न वर्णन करना कठिन है, अतएव सग्रहनय [illegible] समुच्चय रूप से यहा यह प्रश्न पूछा गया है कि सर्वगुणसम्पन्नता [illegible] होता है? जैसे किसी वस्तु की बानगी द्वारा हजारो–लाखो [illegible] सकता है इसी प्रकार समस्त गुणो का ज्ञान दर्शन और [illegible] कर लिया गया है और कहा गया है कि ज्ञान [illegible] मे सभी गुणो का समावेश हो जाता है।

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही जानना ज्ञानगुण है। वस्तु का सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से काम नही चल सकता, अतएव दूसरा गुण दर्शन कहा गया है। जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप मे श्रद्धान करना अर्थात् मानना दर्शनगुण या सम्यक्त्वगुण है। लेकिन वस्तु का ज्ञान और श्रद्धान कर लेने से भी काम नही चल सकता, अतएव तीसरा गुण चारित्र कहा गया है। जिस वस्तु को जिस रूप मे जाने और माने, उसी रूप मे उसका व्यवहार करना चारित्रगुण है।

शास्त्र मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भी भेद बतलाए गए हैं। ज्ञानगुण के मुख्य रूप से पॉच भेद कहे गए हैं। यह आशका हो सकती है कि जब किसी वस्तु को जानना ज्ञान है तो फिर ज्ञान मे भेद किस अभिप्राय से किये गये हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव मे तो ज्ञान एक ही है, परन्तु कर्मो के क्षयोपशम और क्षय की भिन्नता के कारण ज्ञान मे भी भेद किये गये हैं। ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान, ये पॉच भेद किये गये हैं। इनमे से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशम्कि हैं और पाचवा ज्ञान क्षायिक है। ये पाचो ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष, इन दो ागो मे विभक्त किये गये हें। मतिज्ञान ओर श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और बाकी के तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हें। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं – एक विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष ओर दूसरा सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष। अवधिज्ञान ओर मन पर्यायज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हें ओर केवलज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हे।

मतिपूर्वक होने के कारण मतिज्ञान, मतिज्ञान कहलाता हे। उसका दूसरा नाम आभिनिबोधिकज्ञान भी हे। मतिज्ञान इन्द्रिय ओर मन की सहायता से उत्पन्न होता हे। यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवा को होता हे। यह ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता हे तो मिथ्याज्ञान कहलाता है। ओर सम्यक्त्व–युक्त होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता हे। यह ज्ञान अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप मे तब परिणत होता हे, जब ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व का उदय होता हे। ज्ञानावरण का उदय होने के कारण यह ज्ञान अज्ञान नहीं कहलाता, वरन् मिथ्यात्व के उदय से ही यह अज्ञान कहलाता हे। ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से ज्ञान तो होता है, मगर मिथ्यात्व के उदय के कारण पदार्थो का ज्ञान विपरीत होता है। मिथ्यात्व के उदय से सीधी वस्तु भी उलटी मालूम होती है। उदाहरणार्थ काच सफेद और स्वच्छ होने पर भी अगर काच के सामने दूसरे रग की कोई चीज रख दी जाए तो काच भी उसी रग का दिखाई देने लगता है। सफेद काच अगर दूसरे रग

का दिखाई देता है तो इसमे काच का कोई दोष नही है, दोष तो दूसरी चीज की उपाधि का है। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के कारण सुलटी वस्तु भी उलटी जान पडती है और इसी कारण वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान मे सुनने की शक्ति है और मतिज्ञान मे मनन करने की शक्ति है। इसी कथन पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि शास्त्र मे सभी ससारी जीवो को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का होना कहा है, किन्तु जिन जीवो के श्रोत्रेन्द्रिय नही है, वे किस प्रकार सुन सकते है? इस कथन का उत्तर यह है कि शास्त्र मे दो प्रकार की इन्द्रिया कही गई है– (1) द्रव्येन्दिय और (2) भावेन्दिय। ये दोनो प्रकार की इन्द्रिया सभी जीवो को होती है। ससार मे एक भी ऐसा जीव नही है जिसे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय सर्वथा न हो। अतएव इन्दियजन्य ज्ञान के विषय मे जो कथन किया गया है वह भावेन्द्रिय–जनित ज्ञान समझना चाहिए।

केवलज्ञान स्थापना रूप है और श्रुतज्ञान साव्यवहारिक है। हम लोगो को श्रुतज्ञान से ही लाभ होता है। केवलज्ञानी सभी कुछ जान–देख लेते है, परन्तु वे जो–कुछ देखते हैं, वह उपदेश मे तो श्रुतज्ञान के रूप मे ही परिणत होता है और ऐसा होने के कारण ही केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान दूसरो के लिए लाभकारी हो सकता है। इस प्रकार शेष चार ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित है अत हमे श्रुतज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यहा एक पश्न चर्चा का उत्पन्न होता है। वह यह है कि ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढता जाता है और बुद्धि विकसित होती जाती है, अतएव ज्ञान बढने से पहले जो कुछ भी देखने–जानने मे आया था, वह क्या मिथ्या था ? इस कथन का उत्तर यह है कि पहले हृदय सरल हो और वस्तु का स्वरूप निष्कपटभाव से जाना हो, तो फिर ज्ञान मे वृद्धि होने पर भी पहले का ज्ञान मिथ्या नही है। अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने से पहले भी अगर समभाव मौजूद है तो ज्ञान अल्प होने पर भी मिथ्या नही वरन् सम्यग्ज्ञान ही है। पहले का जानना भी ज्ञान था और बाद मे जानना भी ज्ञान ही है, क्योकि समभाव तो [illegible] है [illegible]–पहले था। सम्यक्त्व द्वीन्द्रिय जीव मे भी होता है, अतएव ऐसा नही समझना चाहिए कि अब ज्ञान बढ जाने से हम कुछ और ही देखने लगे [illegible] यह अज्ञान था। बुद्धि के क्षयोपशम से आज जो

वस्तु जिस रूप मे दिखाई देती है वह वस्तु बुद्धि का अधिक क्षयोपशम होने पर दूसरे रूप मे दिखाई देती है, परन्तु समभाव तो वही का वही है। अतएव पहले का जानना–देखना भी ज्ञान मे ही है, अज्ञान मे नही। हृदय सम और सत्यमय होने के कारण जो–कुछ देखा–जाना जाता है, वह अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच का अन्तर जानने के लिए शास्त्र मे कहा गया है –

**माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।**

अर्थात् कपटभाव न रखना ही समभाव है और कपट रखना मिथ्यात्व है। अतएव किसी प्रकार मिथ्या विचार मन मे न रखते हुए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहना चाहिए।

कहने का आशय यह है कि श्रुतज्ञान और मतिज्ञान, दोनो परोक्ष है किन्तु उपकारी श्रुतज्ञान ही है। सभी ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र मे सभी गुणो का समावेश हो जाता है। आत्मा जब सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है तब उसके लिये कुछ भी करना अवशेष नही रहता। जब आत्मा सब गुणो को प्राप्त करता है, तब जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे गौतम स्वामी द्वारा महावीर भगवान् से पूछे गये प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते है कि जीवात्मा सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। पूर्णता का फल पूर्ण ही मिलता है। कहा भी है –

**पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।**

अपुनरावृत्ति हो जाने, अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव हो जाने पर शारीरिक अथवा मानसिक, किसी भी प्रकार के दुःख उत्पन्न नहीं होते। जो अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है वह शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के दुःखो से मुक्त हो जाता है। क्योकि दुःखो का कारण शरीर और मन ही है और अपुनरावृत्त गति मे न शरीर रह जाता है और न मन ही, अतएव मुक्तात्मा को शारीरिक और मानसिक दुःख भी नहीं सहन करने पडते।

उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझ बैठे कि एकेन्द्रिय जीव मनरहित है अतएव उसे दुःख नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव के द्रव्यमन नहीं होता तो क्या हुआ अध्यवसायरूप भावमन तो होता ही है। अतएव मन के सद्भाव होने से

कारण पैदा होने वाला दुख एकेन्दिय जीव मे भी होता है। दुख मन मे सकल्प के कारण ही उत्पन्न होता है।

कुछ लोगो का कहना है– हमे अमुक प्रकार के दुख सहने पडते हैं, परन्तु वे दुख आये कहा से है? मन मे सकल्प होने से ही तो वे उत्पन्न हुए हैं। अतएव मन मे खराब सकल्पो को स्थान नही देना चाहिए। मन मे से असत् सकल्पो को दूर करके मन को परमात्मा के ध्यान मे पिरो देना चाहिए। ऐसा करने से दुख के सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएगे। जब सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएगे तो फिर दुख कहा से उत्पन्न होगा? बीज के जल जाने पर वृक्ष किस प्रकार पैदा हो सकता है?

इस प्रकार सेवा का फल परम्परा से मिलता है। जो समस्त दुखो से मुक्त होना चाहता होगा, वही वैयावृत्य– सेवा करेगा। सेवाधर्म स्वीकार करने से शाश्वत सुख की उपलब्धि होती है। सेवाधर्म का महत्त्व समझकर अपना जीवन सेवामय बनाओ और सर्वगुणो को प्राप्त करो। इसी मे स्व–पर कल्याण है।



# पैंतालीसवां बोल

## वीतरागता

सर्वगुणसम्पन्नता शब्द आज सस्ता हो गया जान पडता है। आज चाहे जिस साधारण मनुष्य के लिए भी 'आप सर्वगुणसम्पन्न हैं', ऐसा कहा जाता है, परन्तु इस शब्द की महत्ता को देखते हुए मालूम होता है कि यह शब्द चाहे जिसके लिए प्रयोग करने योग्य नही है। जो वास्तव मे 'सर्वगुणसम्पन्न' बन जाता है, उस मनुष्य के लिए फिर कुछ भी करना शेष नही रह जाता। जो वास्तव मे सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है, वह वीतराग बन जाता है। और इसी कारण सर्वगुणसम्पन्नता के अनन्तर गोतम स्वामी ने भगवान् महावीर से वीतरागता के विषय मे प्रश्न किया है।

### मूलपाठ

**प्रश्न– वीयरागयाए ण भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– वीयरागयाए ण नेहाणुबंधणाणि य, तण्हाणुबंधणाणि य, वोच्छिंदिय मणुण्णामणुण्णेसु सद्द–फरिस–रूव–रस–गंधेसु चेव विरज्जइ।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न–** भगवन्! वीतरागता से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** वीतरागता स्नेह तथा तृष्णा के बन्धन छेद डालता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द रूप गन्ध रस स्पर्श आदि विषयो से वैराग्य पाता है।

### व्याख्यान

वीतरागता सभी [illegible] श्रेष्ठ है। यह बात [illegible] फिर भी यहा वीतरागता के फल के विषय मे क्या प्रश्न किया गया, [illegible] वीतरागता के फल [illegible]

आवश्यक है। इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्रिया का फल अवश्य मिलता है। यही बतलाने के लिए यह प्रश्न पूछा गया है। प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। कोई भी क्रिया निष्फल नही जाती, मानो यही बात स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न किया गया है।

जब सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है तब वीतरागता आती ही है। और जब वीतरागता प्रकट होती है तो सर्वगुणसम्पन्नता भी होनी ही चाहिए। राग–द्वेष की मौजूदगी मे सर्वगुणसम्पन्नता का प्राप्त होना जैन शास्त्र को मान्य नही है। सभव है, यह बात भी बतलाने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा हो।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– हे गौतम ! जब आत्मा राग–द्वेष से रहित होकर वीतरागभाव मे आता है, तब स्नेह और तृष्णा के कारण बधने वाले कर्मबधनो का विच्छेद हो जाता है। राग का और तृष्णा का पूर्ण रूप से विच्छेद वीतरागभाव उत्पन्न होने के बाद ही हो सकता है। वीतराग बनने का मार्ग राग और तृष्णा का विच्छेद करने से ही सरल बनता है। तृष्णा और स्नेह का जितना–जितना विच्छेद होता जाएगा, आत्मा उतना ही उतना उन्नत बनता जायेगा और जब तृष्णा तथा राग पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगा तो आत्मा वीतराग अवस्था प्राप्त कर लेगा।

वीतरागता प्राप्त हो गई है, इस बात का पता केवल आध्यात्मिक भावरूप मे ही नही चलता, वरन् व्यावहारिक रूप मे भी चल जाता है। जब इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श, इन पाचो विषयो को पूर्ण रूप से जीत लिया जाये, तभी समझना चाहिए कि वीतरागता प्रकट हुई है। जब तक कोई वस्तु मनोज्ञ (पसन्द) या अमनोज्ञ (नापसन्द) मालूम होती है, तब तक आत्मा मे राग–द्वेष की विद्यमानता समझनी चाहिए। जब न कोई वस्तु मनोज्ञ प्रतीत हो न अमोनज्ञ प्रतीत हो, सब वस्तुओ मे पूर्ण समभाव हो, तभी आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई समझना चाहिए।

आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई है या नही? इस बात की जाच करने के लिये शास्त्रकारो ने यह उपाय बतलाया है जब इन्द्रियो के विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ जान पडे, तब समझ लेना चाहिए कि आत्मा मे अभी तक वीतरागता प्रकट नही हुई है और जब इन्द्रियो के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ न मालूम हो, विषम नही, किन्तु सम प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि आत्मा मे वीतरागता प्रकट हो गई है। वीतरागता प्रकट हुई या नहीं? यह बात जानने के लिए शास्त्रकारो ने यह थर्मामीटर बतलाया है।

इन्द्रियो के जो पाच विषय हैं, उनके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त ऐसे तीन भेद किये गये हैं। ये तीन भेद कहकर यह बतलाया है कि शब्द रूप रस आदि विषयो मे से कोई भी विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ प्रतीत न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा मे वीतरागता प्रकट हुई है।

यह प्रश्न हो सकता है कि शब्द आदि से सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त का भेद किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव शब्द का अर्थ कहा जाये तो वह शब्द सचित्त है। अजीव शब्द कहा जाये तो वह अचित्त शब्द है और वशी शब्द कहा जाये तो वह सचित्ताचित्त शब्द है। इस प्रकार रूप, रस, गध और स्पर्श आदि के भी तीन–तीन भेद हैं। इन तीनो भेदो के साथ, वस्तु मनोज्ञ है या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की मान्यता से निवृत्ति होना वीतरागता है।

इस सम्बन्ध मे अन्य प्रकार का तर्क भी दिया जा सकता है। परन्तु आत्महितैपियो को किसी प्रकार के तर्क–वितर्क मे न पडकर ऐसा मानना चाहिए –

**महाजनो येन गत स पन्था ।**

अर्थात् जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं, उसी मार्ग पर हम चलना चाहिए और उसी पर चलने से हमारा कल्याण है।

महापुरुषो द्वारा बतलाया मार्ग कोन–सा हे? इस विपय म एक बार बालगगाधर तिलक तथा भाण्डारकर के वीच वाद–विवाद हुआ था। भाण्डारकर का कहना था कि जिस मार्ग पर महाजन–समुदाय चलता हो, वही महाजन का मार्ग ह। इसके विरुद्ध तिलक का कहना था कि जनसमुदाय म अधिकाश लोग असत्य वोलत ह चोरी करत हे और अप्रामाणिक व्यवहार करते हैं। तो क्या असत्य भाषण करना चोरी करना और अप्रामाणिक रहना ही महाजनो का मार्ग होना चाहिए? इसी प्रकार अधिकाश लोग भोगी हैं त्यागी नहीं तो क्या भोगी बनना ही महाजनो का मार्ग है?

महाजन कोन है? इस बात का निर्णय करने के लिए अगर ब्रह्म [illegible] मे ब्रह्मा का चरित्र देखा जाय तो उसमे यही ही भयकरता दिखाई [illegible] ब्रह्मा अपनी ही पुत्री पर मुग्ध हो गया था यह भी [illegible] अगर विष्णु का [illegible] के लिए विष्णुपुराण देखा जाय [illegible] की लीला का [illegible] [illegible] महाजनो का मार्ग [illegible]

अधिक पतित हो जायेगा। शिवचरित पर दृष्टिपात किया जाय तो शिवपुराण मे शिव को श्मशानवासी कहा है। तो क्या शिव का अनुकरण करके सभी लोग श्मशानवासी बन जाए? क्या यह सम्भव है? महाजन का मार्ग तो ऐसा सुगम होना चाहिए कि इसे सभी लोग सरलतापूर्वक अपना सके। अतएव यहा यह प्श्न उपस्थित होता है कि किस व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को महाजन का मार्ग समझा जाय? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर यही हो सकता है कि जिस मार्ग पर चलने से बहुजनसमाज का सच्चा कल्याण होता हो, वही महाजन का मार्ग है। असत्य या अन्याय को अनेक लोगो ने भले ही अपनाया हो, परन्तु वह मार्ग जनसमुदाय के लिए कल्याणकारी नही हो सकता। इसलिए जिस मार्ग पर चलने से जनता का कल्याण होता हो, वही महाजन का निर्दिष्ट मार्ग है।

यह तो तिलक और भाण्डारकर के वाद–विवाद की बात हुई। परन्तु मेरी दृष्टि से अठारह दोषो से रहित वीतराग का मार्ग ही महाजन का मार्ग है। हम लोग ऐसे वीतराग महापुरुष को ही महाजन और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को ही महाजन का मार्ग कहते है। वीतराग के मार्ग पर चलने वाले का सदा कल्याण ही हुआ है। कभी अकल्याण नही हुआ।

शास्त्रकारो का कथन है कि इन्द्रियो के विषय – शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श – चाहे भले हो या बुरे हो, उनके प्रति समभाव रहना चाहिए, विषम भाव नही। ऐसा होने पर समझना चाहिए कि वीतराग भाव आ गया है। समभाव का अर्थ यह नही है कि अमृत को विष और विष को अमृत मानना चाहिए और ऐसा मानकर उन्हे खा जाना चाहिए। परन्तु समभाव का अर्थ यह हे कि चाहे अमृत हो, चाहे विष हो, पर दोनो के प्रति समभाव रखना चाहिए। समभाव रखने से विष भी अमृत और आग भी शीतल हो जाती है। सीता मे समभाव होने के कारण ही अग्नि उसके लिए शीतल बन गई थी। मीरा के समभाव ने विष को भी अमृत के रूप मे परिणत कर लिया था। इसी प्रकार तुम समभाव रखो और भक्तो की भाति परमात्मा से प्रार्थना करो –

**परुष वचन अति कठिन श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहोगो,**
**विगत मान सम शीतल मन पर, गुण अवगुण न गहोगो।**

अर्थात् चाहे जैसे कठोर और कर्णकटुक शब्द सुनाई दे, परन्तु अगर तुम मे समभाव होगा तो ज्ञानीजन कहते है कि तुम उन कठोर शब्दो को भी कर्णप्रिय बना सकोगे। अतएव समभाव रखो तो कल्याण ही होगा।

वीतरागधर्म समभाव का विधान करता है। समभाव के द्वारा वीतरागभाव प्रकट होता है। अतएव हृदय मे समभाव रख कर वीतरागभाव प्रकट करोगे तो स्व–पर कल्याण–साधन कर सकोगे।

राग और द्वेष, दोनो कर्म के बीज हैं। इन कर्म–बीजो को ससार का बीज भी समझना चाहिए, क्योकि जब तक राग और द्वेष के बीज मौजूद हैं, तब तक कर्म के अकुर फूटते ही रहते है और जब तक कर्म के अकुर फूटते रहते हैं तब तक ससार–वृक्ष फलता–फूलता रहता है। ससार के बधनो से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम राग–द्वेष के बन्धनो से मुक्त होना आवश्यक है। वीतराग और वीतद्वेष हुए बिना कोई मोक्ष नही प्राप्त कर सकता। जीवन को रागरहित बनाने के लिए शास्त्रकारो ने अनेक उपाय बतलाये है। सम्यक्त्व–पराक्रम अध्ययन मे बतलाये हुए 73 बोल वीतराग और वीतद्वेष बनाने के ही उपाय हैं। कषाय का त्याग करने से जीवन मे वीतरागता प्रकट होती है, यह बात शास्त्र मे स्पष्ट रूप से कही गई है। फिर भी इस पैंतालीसवे बोल मे यह प्रश्न किया गया हे कि वीतरागता प्रकट होने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं– शास्त्र का यह ध्येय है कि शब्द बढ जाए तो भले ही बढ जाए, इसमे कोई हानि नही। पर शास्त्र की बात सब को समझ मे आ जानी चाहिए। यह बात दृष्टि मे रखकर ही शास्त्र मे एक ही बात को विशेष स्पष्ट करने के लिए दो–तीन बार कह देते हैं। ऐसा करने से पुनरुक्ति होती हे, परन्तु जनसमुदाय के लाभ के लिए की जाने वाली पुनरुक्ति दोष–पात्र नही गिनी जाती।

इस के अतिरिक्त कषाय का प्रश्न द्वेष–आश्रित हे और वीतरागता का प्रश्न राग–आश्रित ह। इस दृष्टि से विचार करने पर यहा पुनरुक्ति भी नही है।

शास्त्रकार का कथन हे कि राग का त्याग करना जितना कठिन है उतना कठिन द्वेष का त्याग करना नही है। इसी कारण मुक्तात्मा वीतराग कहलाते ह वीतद्वेष नही। क्योकि द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग कठिन है और राग का त्याग तभी हो सकता है जब द्वेष का त्याग कर दिया जाए। सोने का त्याग करना जितना कठिन है लोहे का त्याग करना उतना कठिन नही है। इसी प्रकार द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग करना कठिन है। जिस प्रकार समभाव उत्पन्न होने से सोना और लोहा समान मालूम होता है उसी प्रकार जीवन मे समभाव प्रकट होने के बाद राग और द्वेष दोनो का त्याग [illegible] कठिन नही रह जाता। यद्यपि [illegible]

आत्मा मुक्त होना चाहता है, वह न तो पुण्योपार्जन करना चाहता है और न पापोपार्जन करना चाहता है। वह तो पाप और पुण्य, दोनो को कर्म मान कर छोडना चाहता है। मोक्षाभिलाषी आत्मा को न किसी वस्तु पर राग करने की आवश्यकता है और न किसी पर द्वेष करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य जब गृहस्थावस्था मे होता है तब वह लोहे का त्याग करके भले ही सोने का सग्रह करे, परन्तु जो साधु होना चाहता है, उसके लिए दोनो ही, सोना भी और लोहा भी, त्याज्य है। इसी प्रकार जो मुक्त होना चाहता है वह मोक्षाभिलाषी आत्मा तो राग और द्वेष, दोनो का ही त्याग करता है। जिस प्रकार सोने का त्याग करना मुश्किल है और इसी कारण साधु–महात्मा कचन–कामिनी के त्यागी कहलाते हैं, उसी प्रकार राग का त्याग करना भी मुश्किल है और कारण राग–द्वेष के त्यागी को वीतराग कहते है।



# छयालीसवां बोल

## क्षमा

पंतालीसवे बोल मे वीतरागता के फल के विपय मे प्रश्न पूछा गया ह। वह प्रश्न राग को दृष्टि मे रखकर ही किया गया है क्योकि कपाय का सम्बन्ध राग–द्वेष के साथ है। जब तक जीवन मे वीतरागभाव नही आता तब तक इप्ट गध, इप्ट रस आदि से रागभाव नही छूटता। रागभाव का त्याग करने से जीवात्मा क्षमाशील बन जाता है। जीवन मे जब वीतरागभाव प्रकट होता ह, तब क्षमा का गुण भी प्रकट होता है। अतएव छयालीसवे बोल मे गौतम स्वामी क्षान्ति (क्षमा) के विपय मे प्रश्न पूछते हे।

### मूलपाठ

**प्रश्न– खतीए ण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– खतीए ण परीसाहे जिणेइ।।46।।**

### शब्दार्थ

**प्रश्न–** भगवन! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर–** क्षमा द्वारा जीव परीपहो पर विजय प्राप्त करता है।

### व्याख्यान

क्षान्ति का अर्थ है क्षमा। क्षमा धारण करने से जीव को [illegible] होता है यह प्रश्न गौतम स्वामी ने पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर में [illegible] फरमाया है कि परीपहो पर विजय पाना क्षमा का फल है।

क्षमा धारण करने [illegible] परीषहों को [illegible]

[illegible]

परीषह [illegible]

[illegible]

[illegible]

तो क्षमा के सामान्य अर्थ पर विचार किया गया। परन्तु यहा विचारणीय यह है कि क्षमा को साधु के दस प्रकार के धर्मो मे प्रथम स्थान किस कारण से दिया गया है? भगवान् ने क्षमा को इतना महत्त्व क्यो दिया है?

राग और द्वेष जीत लिये गये है या नही, इसकी जाच करने की कसौटी क्षमा है। जब मनुष्य राग–द्वेष को जीत लेता है तभी वह साधुपन पालने योग्य होता है। राग–द्वेष को जीते बिना साधुता की प्रवृत्ति तो जीवात्मा ने चिरकाल तक की होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति लाभदायक तभी हो सकती है, जब राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली जाये।

क्षमा के द्वारा ही राग–द्वेष जीते जा सकते है। सब गुणो मे क्षमागुण प्रधान है। जब तक राग–द्वेष को जीतकर क्षमागुण न धारण किया जाये तब तक दूसरे कोई सद्गुण नही आ सकते। जीवन मे क्षमागुण प्रकट होने के बाद ही अन्य गुण प्रकट होते है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि क्षमागुण से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

यहा एक शका यह उपस्थित होती है कि गौतम स्वामी ने क्षमा के विषय मे किस उद्देश्य से प्रश्न पूछा है? इस शका का समाधान यह है कि फल को जाने बिना मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करता। न्याय का सिद्धान्त भी यही है। जब मूर्ख भी बिना फल को जाने किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता, तो बुद्धिमान् पुरुष फल को बिना जाने कैसे प्रवृत्त होगा? इसी से गौतम स्वामी ने क्षमा के फल के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा था। यह नही समझना चाहिए कि गौतम स्वामी क्षमा से होने वाले लाभ को जानते नही थे, और इसी कारण उन्होने यह प्रश्न किया है। गौतम स्वामी विशिष्ट ज्ञानी थे और क्षमा के फल को भलीभाति जानते थे। फिर भी उन्होने भगवान् से प्रश्न इसलिए किया था कि ऐसा प्रश्न करने से 'मैं भी कुछ जानता हू', ऐसा ज्ञानाभिमान गल जाये।

इस प्रकार गौतम स्वामी स्वय जानते हुए भी भगवान् से प्रश्न पूछ कर किसी प्रकार का बदला लिये बिना ही जगत् के जीवो की ओर से वकालत करते थे। किसी भी प्रकार का बदला लिये बिना, पराये काम को अपना ही काम समझ कर करना, बिना आत्मबल के सम्भव नही है। अतएव इसी बात से गौतम स्वामी के आत्मबल का पता लग जाता है। वे चार ज्ञान के धनी और घोर तपस्वी थे। यह असभव है कि वे क्षमागुण से होने वाले लाभ को जानते न हो। ऐसी सब बाते जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवो के हित के लिए ही उन्होने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा

# छयालीसवां बोल

## क्षमा

पैतालीसवे बोल मे वीतरागता के फल के विषय मे प्रश्न पूछा गया है। वह प्रश्न राग को दृष्टि मे रखकर ही किया गया है, क्योकि कषाय का सम्बन्ध राग–द्वेष के साथ है। जब तक जीवन मे वीतरागभाव नही आता, तब तक इष्ट गध, इष्ट रस आदि से रागभाव नही छूटता। रागभाव का त्याग करने से जीवात्मा क्षमाशील बन जाता है। जीवन मे जब वीतरागभाव प्रकट होता है, तब क्षमा का गुण भी प्रकट होता है। अतएव छयालीसवे बोल मे गौतम स्वामी क्षान्ति (क्षमा) के विषय मे प्रश्न पूछते है।

**मूलपाठ**

**प्रश्न– खतीए ण भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– खतीए ण परीसहे जिणेइ।।46।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न–** भगवन्! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

**उत्तर–** क्षमा द्वारा जीव परीषहो पर विजय प्राप्त करता है।

**व्याख्यान**

क्षान्ति का अर्थ हे क्षमा। क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता हे, यह प्रश्न गोतम स्वामी ने पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया हे कि परीषहो पर विजय पाना क्षमा कहलाता हे।

क्षमा धारण करना ओर परीपहो को जीतना, इन दोनो का वाच्यार्थ भिन्न–भिन्न होने पर भी दोनो का लक्ष्यार्थ एक ही है। क्षमा अर्थात् समतापूर्वक परीषहो को जीतना ओर परीषहो को समभाव से सहन करना, अर्थात् क्षमा रखना। इस प्रकार क्षमा आर परीषहजय का अविनाभावनी सम्बन्ध हे। यह

तो क्षमा के सामान्य अर्थ पर विचार किया गया। परन्तु यहा विचारणीय यह है कि क्षमा को साधु के दस पकार के धर्मो मे पथम स्थान किस कारण से दिया गया है? भगवान् ने क्षमा को इतना महत्त्व क्यो दिया है?

राग और द्वेष जीत लिये गये है या नही, इसकी जाच करने की कसौटी क्षमा है। जब मनुष्य राग–द्वेष को जीत लेता है तभी वह साधुपन पालने योग्य होता है। राग–द्वेष को जीते बिना साधुता की प्रवृत्ति तो जीवात्मा ने चिरकाल तक की होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति लाभदायक तभी हो सकती है, जब राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली जाये।

क्षमा के द्वारा ही राग–द्वेष जीते जा सकते है। सब गुणो मे क्षमागुण पधान है। जब तक राग–द्वेष को जीतकर क्षमागुण न धारण किया जाये तब तक दूसरे कोई सद्गुण नही आ सकते। जीवन मे क्षमागुण प्रकट होने के बाद ही अन्य गुण प्रकट होते है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि क्षमागुण से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

यहा एक शका यह उपस्थित होती है कि गौतम स्वामी ने क्षमा के विषय मे किस उद्देश्य से प्रश्न पूछा है? इस शका का समाधान यह है कि फल को जाने बिना मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करता। न्याय का सिद्धान्त भी यही है। जब मूर्ख भी बिना फल को जाने किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता, तो बुद्धिमान् पुरुष फल को बिना जाने कैसे प्रवृत्त होगा? इसी से गौतम स्वामी ने क्षमा के फल के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा था। यह नही समझना चाहिए कि गौतम स्वामी क्षमा से होने वाले लाभ को जानते नही थे, और इसी कारण उन्होने यह प्रश्न किया है। गौतम स्वामी विशिष्ट ज्ञानी थे और क्षमा के फल को भलीभाति जानते थे। फिर भी उन्होने भगवान् से प्रश्न इसलिए किया था कि ऐसा प्रश्न करने से 'मैं भी कुछ जानता हू', ऐसा ज्ञानाभिमान गल जाये।

इस प्रकार गौतम स्वामी स्वय जानते हुए भी भगवान् से प्रश्न पूछ कर किसी प्रकार का बदला लिये बिना ही जगत् के जीवो की ओर से वकालत करते थे। किसी भी प्रकार का बदला लिये बिना, पराये काम को अपना ही काम समझ कर करना, बिना आत्मबल के सम्भव नही है। अतएव इसी बात से गौतम स्वामी के आत्मबल का पता लग जाता है। वे चार ज्ञान के धनी और घोर तपस्वी थे। यह असभव है कि वे क्षमागुण से होने वाले लाभ को जानते न हो। ऐसी सब बाते जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवो के हित के लिए ही उन्होने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा

था। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमे रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे। तुम जब अविक्षिप्त चित्त से शास्त्र की बात सुनोगे तो ही तुम्हे शास्त्र–श्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा।

क्षमागुण मे महान शक्ति विद्यमान है। परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए पात्र बनने की आवश्यकता है। पात्र बने बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नही की जा सकती। गुणो को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करनी चाहिए। आत्मा क्षमा द्वारा गुणो को ग्रहण करने का और गुणो को धारण करने का पात्र बनता है। इसीलिए श्री दशवैकालिक सूत्र मे कहा है –

**पुढवीसमा मुणी हवेज्जा।**

अर्थात् हे मुनि! तुम पृथ्वी के समान बनो।

मुनियो को पृथ्वी के समान बनने के लिए क्यो कहा गया है? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है। ससार मे एक भी वस्तु ऐसी नही, जो पृथ्वी का आधार लिए बिना टिक सकती हो। पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है। इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे–बडे गुण को आधार देती है। क्षमा के बिना आत्मा मे कोई भी गुण नही टिक सकता। मोक्ष के मार्ग पर चलने मे क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु ससार–व्यवहार मे भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है। जो मनुष्य सहनशील–क्षमाशील नही होता, उस मे व्यावहारिक गुण भी नही टिक सकते। तुम अहमदाबाद मे पैसा कमाने आये हो, अत इस उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए तुम्हे क्षमाशील और सहनशील रहना ही पडता है। जब व्यवहार मे भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती हे तो फिर आध्यात्मिक गुणो को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही हे। अतएव सद्गुणो को अपने आत्मा मे स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितेषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द हास्यास्पद बन गया हे। कितनेक लोग क्षमा को निर्बलो का शस्त्र मानते हें तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव मे 'क्षमा' निर्बलो का नही वरन् सबलो का अमोघ शस्त्र हे ओर वीर पुरुषो का भूषण हे। कायर पुरुषो ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया हे परन्तु सच्चे वीर पुरुषो ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया ह। क्षमा सबलो का शस्त्र हे। कायर लोग क्षमावल का

उपयोग कर ही नही सकते। इसी कारण कहा गया है, 'खमा पहुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते है।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहा गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो, वहा आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नही सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषो के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते है। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा मे प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी–सादी भाषा मे पूछ रहे हैं, क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने सरल भाषा मे उत्तर दिया– क्षमा धारण करने से जीव परीषहो को जीत सकता है।

भगवान् ने परीषहो की बात कही है। मगर हमे सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि परीषहो का क्या अर्थ है? परीषहो की व्याख्या करते हुए कहा गया है– 'परिसमन्तात् सहति इति परीषह ।' अर्थात् सम्यक् प्रकार से कष्टो को सहन करना परीषह है। अज्ञानपूर्वक तो बहुत–से लोग कष्ट सहन करते है परन्तु उसकी गणना परीषह मे नही की जाती। परीषह मे उन्ही कष्टो की गणना की जाती है जो ज्ञानपूर्वक सहन किये जाते हैं। ज्ञानपूर्वक कष्ट सहन तभी हो सकता है जब क्षमा विद्यमान हो। क्षमा धारण किये बिना सम्यक् प्रकार से कष्ट सहन नही हो सकता। श्री उत्तराध्ययन के द्वितीय अध्याय मे परीषह के बाईस भेद बतलाये गये है और उनके विषय मे सुन्दर विवेचन किया गया है। परीषह के बाईस प्रकार इस तरह है – (1) क्षुधा का परीषह (2) पिपासा (प्यास) का परीषह (3) शीत का परीषह (4) ताप का परीषह (5) डोस–मच्छर का परीषह (6) अवस्त्र का परीषह (7) अरति (अप्रीति) का परीषह (8) स्त्री का परीषह (9) चर्या–गमन का परीषह (10) बैठक का परीषह (11) आक्रोश–वचन का परीषह (12) वध का परीषह (13) शैया का परीषह (14) याचना का परीषह (15) अलाभ परीषह (16) रोग का परीषह (17) तृणस्पर्श का परीषह (18) जलमल का परीषह (19) सत्कार–पुरस्कार अर्थात् मानापमान का परीषह (20) प्रज्ञा–बुद्धि का परीषह (21) अज्ञान का परीषह (22) अदर्शन का परीषह।

उपर्युक्त परीषहो मे क्षुधा का परीषह सब से पहला है। भूख के दु ख को सम्यक् प्रकार से सहन करना क्षुधा–परीषह है। ससार मे भूख के दु ख से व्याकुल होकर लोग ऐसी चीज भी खा लेते हैं, जिसके देखने मात्र से दूसरो को घृणा उत्पन्न होती है। क्षुधा का दु ख न सह सकने के कारण ही लोग अपने प्राणप्रिय बालक को भी मारकर खा जाते हैं, ऐसा सुना जाता है। इस प्रकार

क्षुधा का परीषह सबसे विकट है। महान् तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुष ही क्षुधा–परीषह को समतापूर्वक सहन कर सकते हैं। क्षुधा–परीषह को जीतने के लिए शास्त्रकार खाने की मनाही नहीं करते। खाने की मनाही करने का फलितार्थ होगा मरने के लिए कहना। क्योंकि जो भोजन करता ही नहीं अथवा जिसने भोजन का त्याग किया है, वह भूखा कितने दिन रहेगा ? किसी अवधि के बाद तो उसे मरण–शरण होना ही पडेगा। इसलिए शास्त्रकार यह नही कहते कि 'तुम खाओ ही नही' अथवा 'भोजन का सर्वथा त्याग कर दो।' शास्त्रकार यह कहते हैं कि क्षुधा को जीतो और क्षमा द्वारा क्षुधा–परीषह पर विजय प्राप्त करो और यह समझो कि 'मैं जो कुछ खाता हू सो इस शरीर रूपी गाडी को चलाने के लिए ही खाता हू।' जैसे गाडी को चलाने के लिए पहिये के चक्र मे तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार मैं इस शरीर रूपी गाडी को चलाने के लिए उदर रूपी चक्र मे भोजन रूपी तेल लगाता हू। ऐसा विचार करके इतना ही, परिमित भोजन करना चाहिए जिससे शरीर–चक्र बराबर काम देता रहे।

मुनिजन किस उद्देश्य से भोजन करते हैं, यह बात बताने के लिये शास्त्र मे एक छोटा–सा दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार गृहस्थ अपने घर के पास के गड्ढे को सुखपूर्वक आवागमन करने के उद्देश्य से पूरा भर देता हे, उसी प्रकार मुनिजन उदर रूपी गड्ढे को सयम रूपी गाडी चलाने के लिये ही भरते हैं। इस तरह जो मुनि सयम के निर्वाह के लिए ही भोजन करता हे, वह क्षमा द्वारा क्षुधा–परीषह को सहन कर सकता हे। मुनियो मे केसी क्षमा होती ह, यह तो उनके आचार–विचार से ही जाना जा सकता हे। जब मुनि भिक्षाचर्या के लिए जाते हें तव कितनेक लोग कर्णकटु शब्द कहते हे, लेकिन क्षमाशील मुनि उन कर्णकठोर शब्दो को समताभाव के साथ सहन कर लेते हैं। सच्चे साधु को न भोजन देने वाले पर राग होता हे ओर न कटु शब्द कहने वाले पर द्वेष ही होता हे। चक्रवर्ती राजा भी छह खण्ड के वेभव का त्याग करके साधुता अगीकार करता हे ओर घर–घर भिक्षा के लिये जाता हे। तव उस मुनि को भी कोई कहता हे– 'राज्य भोगते–भोगते भिक्षा मागने की मन मे आई ह! साधुपना निकम्मा ह।' इत्यादि। इससे विपरीत कोई साधुवृत्ति की प्रशसा करके उसके परा मे गिरता ह। तव शास्त्र कहता हे– 'हे मुनि! तुम किसी के प्रति राग–द्वेष मत करो। कटुक शब्द कहने वाले या निदा करने वाले पर द्वेष न करना आर प्रशसा करने वाले पर राग न करना ही साधु का लक्षण

है।' इस पकार निदा–पशसा के शब्द सुनने पर भी राग–द्वेष मन मे न आने देना क्षमा का ही पताप है।

अब पश्न यह उपस्थित होता है कि क्षमा के द्वारा परीषह जीत लेने से आत्मा की कैसी अवस्था होती है? इस पश्न का उत्तर यह है कि लौकिक विजय पाप्त करने से जैसी पसन्नता होती है और जिस प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है वैसी ही पसन्नता और वैसा ही आनन्दानुभव क्षमा द्वारा परीषह को जीत लेने पर होता है। लौकिक विजय की अपेक्षा यह लोकोत्तर विजय महान् है। अतएव लौकिक विजय के आनन्द की अपेक्षा लोकोत्तर विजय का आनन्द अधिक होता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

मान लीजिये, एक योद्धा शत्रु पर विजय प्राप्त करके किसी महात्मा के पास गया। वह योद्धा महात्मा को ध्यान मे मग्न देखकर कहने लगा – महात्मन्! आप तो घर मे ही घुसे रहकर ध्यान मे मग्न रहते हो और कोई पराक्रम नही दिखलाते, मगर हम तो शत्रुओ के मध्य मे जाकर उनके शस्त्र–अस्त्र के प्रहार और आघात सहन करते है और शत्रुओ को परास्त करके उन पर विजय पाप्त करते है। अब आप ही बतलाइये कि ऐसी स्थिति मे वास्तव मे महान् कौन है? हम बडे या आप?

तुम्हे इस पश्न का उत्तर देने के लिए कहा जाये तो तुम किसे महान् कहोगे? महात्मा को महान् कहोगे या विजयी योद्धा को महान् कहोगे ? इस विषय पर शास्त्र तो स्पष्ट रूप से कहता है–

**जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।**
**एग जिणिज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।**

**उत्तराध्ययन, 9 अ.**

अर्थात् दस लाख सुभटो को दुर्जय सग्राम मे जीतने की अपेक्षा एक मात्र आत्मा को जीतना अधिक उत्तम है और यही श्रेष्ठ विजय है। यही बात अधिक स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार आगे कहते है –

**अप्पाणमेव जुज्झाहि कि ते जुज्झेण वज्झओ।**
**अप्पणामेवमप्पाण, जइत्ता सुहमेहए।।**

**उत्त अ 9, गा 35**

अर्थात आत्मा के साथ युद्ध करो। बाहरी युद्ध मे क्या रखा है! शुद्ध [illegible] द्वारा दुष्ट प्रकृति वाली आत्मा को जीतकर ही सुख पाप्त किया जा

सकता है। दुर्जय आत्मा को किस प्रकार जीत सकते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं –

**पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।**
**दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं।।**

**उत्त अ. 9, गा 36**

अर्थात् पाच इन्द्रिया, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा को जीतना ही उत्तम है। क्योकि आत्मा को जीत लिया तो सभी को जीत लिया।

मुमुक्षु आत्मा बाह्य युद्ध की अपेक्षा कर्मशत्रुओ को परास्त करने के लिए आन्तरिक युद्ध करना ही पसद करते हैं। क्योकि बाह्य युद्धो की विजय क्षणिक होती है और परिणाम मे परिताप ही उपजाती है। इस विजय से बाह्य युद्धो की परम्परा का जन्म होता है और कभी युद्ध से विराम नही मिलता। साथ ही इस वासना के कारण ही अनेक जन्म लेने पडते हैं। अतएव बाह्य शत्रुओ को उत्पन्न करने वाले हृदय मे घुसे हुए भीतरी शत्रुओ का नाश करने के लिए प्रयास करना ही मुमुक्षु का कर्तव्य है।

सच्चा जैन निरन्तर जीवनसग्राम मे सलग्न रहता है। वह कायर बन कर घर मे नही बैठा रहता। वह हाथ मे क्षमा रूपी खड्ग लेकर कर्मशत्रुओ पर विजय प्राप्त करके अपना जैनत्व चमकाता है। जैन होकर भी कायर बन कर बैठ जाने से ओर आन्तरिक शत्रुओ को परास्त करने का प्रयत्न न करने से जेनत्व की शोभा घटती हे। प्राचीनकाल के जेन जेनत्व की रक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, मगर जैनत्व को तनिक भी फीका नही पडने देते थे। आजकल कायरता के कारण जेनो का जैनत्व फीका पड गया हे। इसी कारण वीरोचित अहिसा, क्षमा आदि को भी निर्बलता का चिह्न समझा जाता हे। वास्तव मे अहिसा या क्षमा निर्बलो के शस्त्र नही हैं। ये तो वीर पुरुषो के शस्त्र हैं। तलवार चाहे जितनी तीखी धार वाली क्यो न हो, अगर वह कायर के हाथ मे जाती हे तो निकम्मी हो जाती हे। वही तलवार जब किसी वीर पुरुष के हाथ मे आती हे तो अपने जोहर दिखलाती हे। इसी प्रकार अहिसा और क्षमा के शस्त्र कायरो के हाथ पडकर निष्फल साबित होते हैं और वीर पुरुषो के हाथ लग कर अमोघ शस्त्र सिद्ध होते हैं। यह सच्चाई आज प्रत्यक्ष अनुभव की जाती हे। जेन लोग अगर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हो तो उन्हे अपने जेनत्व का तेज प्रकट करना चाहिए। जेनो का जेनत्व, क्षत्रियो के क्षत्रियत्व से जरा भी हलका नही हे। बल्कि जेनत्व मे अहिसक

क्षात्रत्व होने के कारण वह अधिक तेजस्वी है। जैन अर्थात् विजेता। सच्चा विजेता वही है जो कर्मशत्रुओ के साथ सदैव जीवनसग्राम लडता है। वह किन–किन शस्त्रो द्वारा अहिसक युद्ध लडता है, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते है –

**सद्धं नगर किच्चा तवसंवरमग्गलं।**
**खति निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधसय।।**
**घणुं परक्कमं किच्चा जीवं च इरियं सया।**
**धिइ च केयण किच्चा सच्चेण पलिमथए।।**
**तव–नारायजुत्तेणं भित्तूण कम्मकचुयं।**
**मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चई।।**

**उत्तरा. अ. 9, गा 20–21–22।**

अर्थात् श्रद्धा (सत्य पर अडिग विश्वास) रूपी नगर, तप–सवर रूपी आगल क्षमा रूपी सुन्दर गढ, तीन गुप्ति (मन, वचन, काय का नियमन) रूपी दु प्रधर्ष (दुर्जय शतघ्नी – शस्त्रविशेष), पराक्रम रूपी धनुष, ईर्या (यतनापूर्वक गमन) रूपी डोरी और धैर्य रूपी बाण यानी तीर बना कर सत्य–चिन्तन करना चाहिए। क्योकि तपश्चर्या रूपी बाणो से युक्त मुनि कर्म को भेद कर सग्राम मे विजय पाप्त करता है और ससार से मुक्त हो जाता है।

ऊपर की गाथाओ मे शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि सत्याग्रह–सग्राम अहिसक होने पर कितना विनयशील होता है। आजकल होने वाले हिसात्मक युद्धो मे लाखो–करोडो मनुष्यो का सहार होता है और युद्धभूमि रक्तरजित हो जाती है फिर भी नही कहा जा सकता कि विजय किसे प्राप्त होगी ? भौतिक युद्ध मे हिसा होती है, राग–द्वेष बढते हैं और फलस्वरूप जगत् मे अशान्ति का साम्राज्य फैल जाता है। परन्तु इस अहिसक सग्राम मे किसी का एक बूद भी रक्त नही गिरता, सुख–शान्ति का प्रसार होता है, क्लेश नही बढता और जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है। यह सब अहिसादेवी और क्षमामाता का ही पताप है। आज भी अगर थोडी–बहुत सुख–शान्ति का अनुभव होता है तो उसका अधिकाश श्रेय अहिसा तथा क्षमादेवी के ही हिस्से मे जाता है। जगत् मे अहिसा और क्षमा का अस्तित्व न रहे तो जगत् की शान्ति सर्वथा अदृश्य हो जाये। आजकल भी अहिसा, क्षमा आदि आध्यात्मिक गुणो के कारण ही शान्ति का अनुभव होता है।

हिसा के पयोग से अथवा हिसक अस्त्र–शस्त्रो से प्राप्त की जाने वाली विजय सदा के लिए स्थायी नही रहती। प्रेम और अहिसा द्वारा हृदय

मे परिवर्तन करके जनसमाज के हृदय पर जो प्रभुत्व स्थापित किया जाता है, वही सच्ची और स्थायी विजय है। कहा भी है –

**न हि वैरेण वैराणि समन्तीघ कदाचन।**

अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने पर जगत् मे कभी वैर घट नहीं सकता, उलटा वैर बढता है। वैर की शान्ति तो अवैर से होती है। प्रेम के द्वारा ही दूसरो के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। यह सच्ची और स्थायी विजय है। और ऐसी सच्ची एवम् स्थायी विजय प्राप्त करना ही जैन धर्म या सनातन धर्म है।

लाखो सुभटो को जीतने की अपेक्षा एक दुर्जय आत्मा को जीतना अधिक कठिन है। आत्मा वास्तव मे दुर्दम है। जो महापुरुष आत्मा को जीतकर जितेन्द्रिय और जीवात्मा बन जाता है, वह वदनीय हो जाता है। अत आत्महितैषी को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करे। शास्त्र मे कहा भी है –

**अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।**<br>**अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।।**

अर्थात् आत्मा ही वास्तव मे दमन करने योग्य है, क्योकि आत्मा दुर्दम है। जो दुर्दम आत्मा का दमन करते है, वे इस लोक मे भी सुखी होते है और परलोक मे भी।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने जितात्मा बनने और आत्मविजय प्राप्त करने की ही प्रशसा की हे। आत्मविजय मे ही समस्त विजयो का समावेश हो जाता हे। आत्मविजयी जितात्मा लाखो योद्धाओ को जीतने वाले योद्धा की अपेक्षा अधिक विजयी गिना जाता हे। जितात्मा की ही सर्वत्र पूजा होती हे ओर इसी कारण सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् की पदवी ऊची मानी गई हे।

सुभट की अपेक्षा साधु ओर सम्राट् की अपेक्षा परिव्राट् इसीलिए वदनीय ओर पूजनीय हें कि एक तो क्षेत्र पर विजय प्राप्त करता हे ओर दूसरा क्षेत्री पर जयलाभ करता हे। क्षेत्र या शरीर पर प्रभुत्व जमा लेना कोई वडी वात नही ह, परन्तु क्षेत्री अर्थात् आत्मा पर विजय पा लेना अत्यन्त ही कठिन ह।

इस प्रकार सुभटो पर विजय पाना सरल हे मगर काम–क्रोध आदि को जीतना वडा कठिन कार्य हे। कहा जाता हे कि लक्ष्मण ने रावण को पराजित किया था परन्तु वास्तव मे रावण किससे पराजित हुआ? रावण लक्ष्मण से नहीं वरन काम से पराजित हुआ था। रावण ने सब को जीत लिया

था, मगर काम को वह नही जीत सका था और इसी कारण उसकी पराजय हुई। इस प्रकार सुभटो को जीतना बहुत कठिन नही है, किन्तु काम को जीतना अत्यन्त कठिन है। जिस काम ने रावण जैसे बलिष्ठ पृथ्वीपति को पराजित कर दिया, उस काम को जीत लेना हसी–खेल नही है। वास्तव मे जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकारो पर विजय पा लेता है, वह महात्मा–महापुरुष है।

हमने क्रोध को जीता है या नही, यह बात कैसे मालूम हो? कितने ही लोग ऊपर से तो शान्त तथा क्षमाशील प्रतीत होते हैं, किन्तु ऊपर से शान्त रहने मात्र से ही यह नही कहा जा सकता कि उन्होने क्रोध को जीत लिया है। जब आत्मा का स्वरूप समझ मे आ जाए, तभी मानना चाहिए कि क्रोध काबू मे आ गया है। क्रोध को जीत लेने के बाद आत्मा शान्त तथा शीतल बन जाता है। क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात महाभारत की एक कथा द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है –

सौ कौरव और पाच पाडव एक ही जगह और एक आचार्य से अभ्यास करते थे। सब राजकुमारो मे युधिष्ठिर पढने मे मन्द गिने जाते थे। शिक्षक युधिष्ठिर पर बहुत नाराज भी होते रहते थे और उपालम्भ देते थे – तू सब राजकुमारो मे बडा है, भविष्य मे राज्याधिकारी होने वाला है, फिर पढने मे दत्तचित्त न होना क्या तुम्हे शोभा देता है? गुरु का यह उपालम्भ युधिष्ठिर नम्रतापूर्वक सहन कर लेते थे और शिष्टतापूर्वक उत्तर देते थे कि आपकी तो मुझ पर कृपा है परन्तु मेरी बुद्धि मन्द है। अतएव मुझे याद नही रहता। गुरु ने कहा– अगर तुम बराबर अभ्यास नही करोगे तो मुझे उपालम्भ मिलेगा। मुझे उपालम्भ से बचाने के लिए अभ्यास करो तो अच्छा है। युधिष्ठिर बोले – आप उपालम्भ के पात्र नही बनेगे। मै पढता नही हू तो इसमे आपका क्या दोष है? दोष तो मेरी मन्दबुद्धि का है और इसके लिए स्वय मैं ही उपालम्भ का पात्र हू।

एक दिन सब राजकुमारो के अभ्यास की परीक्षा लेने के लिए पाडु राजा ने एक परीक्षक भेजा। परीक्षा ली जाती है तो होशियार छात्रो को आगे और मन्द छात्रो को पीछे रखा जाता है। इस पद्धति के अनुसार युधिष्ठिर सब राजकुमारो मे बडे और राज्य के उत्तराधिकारी होने पर भी, पढने मे कमजोर होने के कारण सबसे पीछे खडे किये गये। इस पर युधिष्ठिर को क्रोध आना स्वाभाविक था परन्तु उन्हे क्रोध नही आया। उन्होने सोचा – में पढने मे मन्द हू और इस कारण पीछे रखना ही ठीक हैं।

परीक्षक परीक्षा लेने आया। सब राजकुमारो को देखने के वाद परीक्षक ने शिक्षक से कहा– युधिष्ठिर सब से बडा है, फिर भी उसे सबसे पीछे क्यो रखा है?

शिक्षक ने कहा– युधिष्ठिर अभ्यास करने मे बहुत मन्द है और इसी कारण उसे पीछे रखा है।

परीक्षक ने युधिष्ठिर की परीक्षा लेते हुए प्रश्न किया – तुमने क्या सीखा है?

युधिष्ठिर– अभी सयुक्त अक्षर सीख रहा हू और वाक्य बनाने का अभ्यास करता हू।

यह सुनकर परीक्षक ने कहा– इतने बडे हो गये हो और इतने वर्ष पढते–पढते हो गये हैं फिर भी अब तक वाक्य बनाना नही आता। ठीक बताओ कि तुम क्या सीखे हो?

पहले भारतवर्ष मे सस्कृत भाषा प्रचलित थी। लोग सस्कृत भाषा सीखते थे। आज तो सस्कृत भाषा का स्थान अग्रेजी भाषा ने ले लिया है और सस्कृत भाषा को लोग Dead Language अर्थात् मृतभाषा कहते है। अग्रेजी भाषा जानने वाले को अच्छी नौकरी मिलेगी, ऐसा–कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग उसे सस्कृत भाषा की अपेक्षा अच्छी और समृद्ध भी मानते हैं, किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपनी मातृभाषा की बेकद्री करना और विदेशी भाषा की कद्र करना भूल है। तुम्हारे हृदय मे अपनी माता का स्थान ऊचा है या दासी का? अगर तुम्हारे हृदय मे माता के लिए उच्च स्थान है तो मातृभाषा के लिए भी ऊचा स्थान होना चाहिए। मातृभाषा माता के स्थान पर है और विदेशी भाषा दासी के स्थान पर। दासी कितनी ही सुरूपवती और सुदृढ क्यो न हो, माता का स्थान कदापि नही ले सकती।

प्राचीन समय मे इस देश मे सस्कृत भाषा प्रचलित थी और इसी भाषा मे शिक्षा दी जाती थी। आज की तरह उस समय विदेशी भाषा का महत्त्व या प्रभुत्व नही था। अतएव युधिष्ठिर ने सस्कृत भाषा मे, अपनी पट्टी पर 'कोप मा कुरु' अर्थात् क्रोध मत करो, ऐसा लिखा था।

युधिष्ठिर की पाटी पर लिखा हुआ यह वाक्य पढकर परीक्षक ने कहा– 'बस इतना ही आता है?'

युधिष्ठिर– अभी तो इतना भी ठीक तरह नही आता।

परीक्षक– (क्रुद्ध होकर) इतना भी अभी याद नही हुआ?

युधिष्ठिर– बाहर से तो इतना लेख याद हो गया है परन्तु अन्दर से नही हुआ।

यह सुनकर परीक्षक और अधिक कुपित हो गया, उसने क्रोध मे आकर युधिष्ठिर को मारना आरम्भ किया। यद्यपि युधिष्ठिर राजपुत्र था और चाहता तो परीक्षक को उचित दण्ड दिला सकता था, परन्तु उसने क्रोध का उत्तर क्रोध से नही, वरन् शान्ति से दिया, अर्थात् युधिष्ठिर पूर्ववत् प्रसन्नचित्त ही बना रहा। युधिष्ठिर को मार खाने के बाद भी प्रसन्नचित्त बैठे देखकर परीक्षक ने शिक्षक से कहा– 'कैसा है यह कि मारने पर भी प्रसन्न दिखाई देता है! शिक्षक ने कहा– 'युधिष्ठिर की ऐसी प्रकृति है। ऐसी प्रकृति वाले को पढाया भी कैसे जाये!' परीक्षक ने युधिष्ठिर से पूछा– 'तुम्हे इतना पीटा गया, फिर भी तुमने कोध नही किया। इससे तो यह जान पडता है कि तुम पाटी पर लिखे वाक्य को अमल मे ला रहे हो।' इस कथन के उत्तर मे युधिष्ठिर ने बतलाया– 'अभी मैं इस वाक्य को सिद्ध नही कर सका हू। मैं ऊपर से तो क्रोध नही कर रहा था मगर भीतर ही भीतर मुझे क्रोध आ रहा था। मैं मन मे यह सोच रहा था कि मुझे मारने वाला यह होता कौन है? अर्जुन और भीम सरीखे बलवान् मेरे भाई हैं और भविष्य मे मैं राज्याधिकारी होने वाला हू, फिर मुझे पीटने वाला यह होता कौन है? इस प्रकार मेरे हृदय मे क्रोध की अग्नि भडकी थी। अतएव अभी मैं 'कोप मा कुरु' इस वाक्य को सिद्ध नही कर सका हू। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं इसे सिद्ध कर सकू।'

युधिष्ठिर के ये नम्र वचन सुनकर परीक्षक गद्गद हो गया और कहने लगा – 'युधिष्ठिर! वास्तव मे तुमने सच्ची शिक्षा ग्रहण की है। तुमने सक्रिय ज्ञान प्राप्त किया है। लोग वाक्यो को कण्ठस्थ तो कर लेते हैं, मगर हृदय मे नही उतारते। तुमने अपना ज्ञान हृदय तक पहुचा कर क्रिया मे परिणत किया है। अतएव तुम्हारा थोडा–सा भी ज्ञान, सक्रिय होने के कारण, सच्चा ज्ञान है।

आज जगत् मे ऐसे सक्रिय ज्ञान की ही आवश्यकता है। तोतारटत ज्ञान से इष्टसिद्धि नही हो सकती। इष्टसिद्धि तो सक्रिय ज्ञान से ही हो सकती है अतएव सक्रिय ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

परीक्षक युधिष्ठिर की सहिष्णुता तथा सत्यवादिता से अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगा– हे युधिष्ठिर! तू क्रोध–विजेता और सत्यभाषी है, अतएव ससार को भी जीत सकेगा। युधिष्ठिर इस प्रकार सहनशील तथा सत्यभाषी होने के कारण ही आगे चलकर धर्मराज के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

शास्त्रकारो ने क्रोध, मान, माया और लोभ को ससार का मूल प्रकट किया है। इन चार कषायो से ही पापो की वृद्धि होती है। शास्त्र मे कहा भी है –

**कोहं माण च माय च लोहं च पाववड्ढणं।।**
**वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो।।**

—दश 8, 37

अर्थात् क्रोध, मान, माया तथा लोभ, ये चार दोष पापवर्धक तथा ससारवर्धक हैं। अतएव आत्मा का हित चाहने वाले को इन चार दोषो का सर्वथा त्याग करना चाहिए। क्योकि—

**कोहो पीइ पणासेई, माणो विणयणासणो।**
**माया मित्ताणि नासेई, लोहो सव्वविणासणो।।**

—दश 8, 38

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रो की मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सर्वविनाशक है। अतएव—

**उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।**
**मायामज्जवभावेण, लोहं सतोसओ जिणे।।**

—दश 8, 39

अर्थात् उपशम – क्षमा द्वारा क्रोध को दूर करना चाहिए, नम्रता द्वारा अभिमान को हटाना चाहिए, सरलता द्वारा माया को जीतना चाहिए और सतोष द्वारा लोभ को जीतना चाहिए।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ— ये चार कषाय भवचक्र मे भ्रमण कराते हैं। अगर हम भवचक्र मे भ्रमण नही करना चाहते ओर आत्मा को शान्ति देना चाहते हें तो क्षमा आदि साधनो द्वारा क्रोध आदि कषायो को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता हे, यह वात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती हे। युधिष्ठिर की भाति 'कोप मा कुरु', इस धर्मशिक्षा को अगर तुम अपने हृदय मे उतार कर सक्रिय रूप दोगे तो तुम धर्मात्मा वनकर आत्मकल्याण साध सकोगे।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो वतलाया, परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता ओर क्षमा धारण करनी चाहिए, यह वात खधक मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हू। सहनशीलता सीखने के लिए

खधक मुनि की सहनशीलता अपने लिए आदर्श है। इस आदर्श का अनुसरण करने मे ही अपना कल्याण है।

खधक मुनि गृहस्थावस्था मे राजकुमार थे। वे राजकाज करने मे निपुण थे। उनके राज्य–सचालन से प्रजा सतुष्ट और सुखी थी। एक बार उन्हे किसी विद्वान् मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया। मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनके जीवन पर पडा। उन्होने विचार किया – मै अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरो के ही लिए करता हू। यह योग्य नही है। मुझे अपने इन गुणो का उपयोग अपनी आत्मा के लिए भी करना चाहिए। इस पकार विचार कर उन्होने अपने माता–पिता से अनुरोध किया – 'मै आत्मा का श्रेयस् करना चाहता हू, अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए।' माता–पिता ने कहा– 'पुत्र! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है, यह अच्छी बात है। प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर।' खधकजी बोले– 'ससार मे रहकर आत्मश्रेयस् साधना मुझे कठिन प्रतीत होता है, अतएव मै ससार का त्याग करके आत्मकल्याण करने की इच्छा करता हू।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता–पिता दुखित होकर कहने लगे– 'बेटा! ससार का त्याग थोडे ही हो सकता है।' खधकजी बोले– 'ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साध अथवा यह कहिए कि ससार का त्याग करके आत्मकल्याण नही किया जा सकता।' खधकजी का यह कथन सुनकर माता–पिता उनका निश्चय और सदाशय समझ गए और उन्होने ससार त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी। साथ ही यह कहा– 'बेटा! तू क्षत्रियपुत्र है। अतएव सिह की भाति ससार का त्याग करना और सिह की भाति ही सयम का पालन करना।' खधकजी ने माता–पिता की शिक्षा शिरोधार्य करते हुए कहा– आपका कथन समुचित है। मैं आपके आदेशानुसार सयम–पालन मे सिहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूगा और प्राणपण से सयम का पालन करूगा।,

खधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ सयम स्वीकार किया। पिता ने विचार किया– 'खधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नही किया है। अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सताये।' इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्रेरित होकर पाच सौ सैनिको की व्यवस्था कर दी। ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खधकजी को इस बात का पता न लगे, मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे। सैनिक गुप्त रूप से खधक मुनि के साथ रहने लगे। खधक मुनि को इन रक्षक सैनिको का पता नही था वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा

आत्मा ही है, दूसरा कोई नही। इस प्रकार खधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

विहार करते–करते वे अपनी ससारावस्था की बहन के राज्य मे पधारे। उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे– अब खधकजी अपनी बहन के राज्य मे आ पहुचे हैं। अब किसी प्रकार के उपद्रव की सम्भावना नही है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी–अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे कार्यो मे लग गए। इधर खधक मुनि आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखा कर आत्मा को बलवान बनाने मे लगे है।

एक बार खधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राजमहल के पास से निकले। उस समय राजा और रानी राजमहल की अटारी पर बैठकर नगर–निरीक्षण करने के साथ ही साथ मनोविनोद कर रहे थे। रानी की दृष्टि अकस्मात् मुनि के ऊपर पड गई। मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी – मेरा भाई भी इन्ही मुनि की तरह भ्रमण करता होगा। इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षणभर के लिए मनोविनोद और वाणीविलास को भूल गई। राजा ने देखा, साधु को देखकर रानी मुझे भूल गई और दूसरे ही विचारो मे डूब गई है। यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है। इस मुण्डित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नही होगा? इस विषय मे दूसरो की सलाह लेना भी अनुचित है। अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है। इस प्रकार विचार कर राजा ने नोकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी– उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चाण्डाल काप उठा। वह मन ही मन विचार करने लगा– आज मुझे कितना जघन्य काम सोंपा गया हे। मे चाकर हू अतएव यह काम किये बिना छुटकारा नही। अगर में राजा की आज्ञा का उल्लघन करता हू तो मैं उनका कोप–भाजन बनूगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायेगा। इस प्रकार विचार कर वह खधक मुनि के पास आया आंर उन्हे पकडने लगा। मुनि ने पूछा – मुझे किस कारण पकडा जा रहा हे? चाण्डाल ने कहा –'राजा ने पकडने की आज्ञा दी है। अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ।' मुनि ने पूछा – चलना कहा हे?

चाण्डाल – श्मशान भूमि मे।

मुनि – किसलिए?

चाण्डाल– राजा की आज्ञा के अनुसार वहा तुम्हारा वध किया जाएगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतारी जायगी।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुचना स्वाभाविक है। परन्तु खधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था। अतएव वह विचारने लगे– यह शरीर नश्वर है। किसी–न–किसी दिन जीर्ण–शीर्ण हो जायेगा, ऐसी स्थिति मे अगर आज ही यह नष्ट होता है तो इस मे दु ख मानने की क्या आवश्यकता है? मेरा आत्मा तो अजर–अमर है। उसे कोई नष्ट नही कर सकता। इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे–पीछे चलने लगे। जब दोनो वधस्थल पर पहुचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा– 'भाई! मेरे शरीर मे रक्त नही है, इस कारण चमडी हाडो के साथ चिपट गई है तो खाल उधेडने के लिए कोई साधन साथ मे लाये हो या नही? अगर कोई साधन नही लाये हो तो तुम्हे बहुत कष्ट होगा।' मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया। वह मन मे विचार करने लगा– 'कितना पापी हू मैं! मुझे इन पापी हाथो से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पडेगी!, वह नम्र भाव से मुनि से कहने लगा– आप महात्मा है। आपके हृदय मे मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है। परन्तु इस समय मै निरुपाय हू। मुझे अनिच्छा से और दुखित मन से भी आपके वध का पाप करना पडेगा।

वधस्थल पर ले जाकर चाण्डाल ने दु खी हृदय से मुनि का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली। परन्तु वह शान्तमूर्ति मुनिराज परमात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नही हुए। शरीरनाश के समय उन्होने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसधान किया कि परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हे मृत्यु का दु ख मालूम ही नही हुआ। मुनि के मन मे किसी के प्रति न क्रोध जाग्रत हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ। उस समय खधक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति बन गये। क्षमाशीलता का इससे ऊचा आदर्श और क्या हो सकता है? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है। समर्थ साधु ही ऐसा वध–परीषह सह सकते है। क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है –

**हओ न सजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।**
**तितिक्ख परम नच्चा, भिक्खू धम्मं समायरे।।**

अर्थात् कोई प्राणो का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहा तक कि मन मे भी द्वेष न लावे। बल्कि तितिक्षा (सहनशीलता – क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे।

खधकजी मुनि ने दस प्रकार के साधुधर्मो मे प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत् के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य बना लिया। खधकजी मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भायी थी कि –

**चाहत जीव सर्व जग जीवन, देह समान नही कछु प्यारो।**
**संयमवंत मुनीश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो।।**
**तो चितवे हम आतमराम, अखंड अबाधित ज्ञान मण्डारो।**
**देह विनाशिक सो हम तो नहि, शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो।।**

खधक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। जिस उद्देश्य के लिए उन्होने ससार का त्याग किया था, वह आत्मश्रेयसाधन का उद्देश्य सिद्ध करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार खधक मुनि सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि की खाल उतार लाने की आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई तो उसे देखकर वह एक बार काप उठा। कहने लगा– हाय! मैने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर की खाल उतरवाली! नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता और क्षमा की बात कही। नौकर की बाते सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा। उसे इतना सताप हुआ कि आखो से आसुओ की धारा बहने लगी। जब रानी को विदित हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी ने उसे आकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उडती–उडती आई। उसने रक्त से रजित मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा कोई वस्त्र उठा लिया था। मगर उस चीज मे उसे कोई स्वाद नही आया। अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल पर ही छोड दिया और वह उड गई। खून से लथपथ वह वस्त्र रानी को नजर आ गया। रानी ने उसी समय वह वस्त्र मगवा कर देखा तो जान पडा कि वह वस्त्र किसी मुनि का मालूम होता हे। रानी, राजा के पास गई ओर कहने लगी – महाराज! आपके राज्य मे किसी मुनि का घात हुआ हे।

यह वस्त्र उन्ही मुनि का मालूम होता है। रानी ने यह भी कहा– उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने उन्हे प्राणदण्ड दिया? रानी के प्रश्न के उत्तर मे राजा ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा का कथन सुनकर रानी के दुख का पार न रहा।

रानी ने कहा– मुनि को पाणदण्ड देने से पहले जॉच तो कर लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा? आपने यह कुकृत्य करके घोर अनर्थ किया है। मुनि को देखकर मेरे मन मे विचार आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह घर–घर भिक्षा के लिए भटकता होगा। आपने मेरी दृष्टि मे विकार देखा, मगर वास्तव मे मेरी दृष्टि मे अथवा मुनि की दृष्टि मे किसी प्रकार का विकार नही था।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी के ससारावस्था के भाई ही थे। यह जानकर राजा को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ।

रानी ने कहा– अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित होने के नही। अतएव पश्चात्ताप करना छोडो और इन मुनि के मार्ग का अनुसरण करो। इसी मे अपना कल्याण है। आखिर राजा–रानी दोनो ने सयम मार्ग ग्रहण करके आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन मे जो क्षमा होती है, उसका प्रभाव दूसरो पर भी पडता है। राजा कितना कठोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अपराध न होने पर भी उसने मुनि के शरीर की चमडी उधेड लेने की आज्ञा दे दी। परन्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदयी राजा का हृदय भी परिवर्तित हो गया। इस प्रकार खधक मुनि ने क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व–पर–कल्याण साधन किया। इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव मे महान् हैं। क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है। ससार मे उन्ही पुरुषो का जीवन धन्य बनता है जो स्वय क्षमाशील बनकर दूसरो को भी क्षमाशील बनाते हैं।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो। इसी मे तुम्हारा कल्याण है।



# सैंतालीसवां बोल

## अलोभवृत्ति

पिछले बोल मे क्षमा के विषय मे विचार किया गया है। निर्लोभ व्यक्ति ही क्षमा धारण कर सकता है। अतएव अब निर्लोभता अर्थात् मुत्ति (मुक्ति) के विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं –

**मूलपाठ**

**प्रश्न– मुत्तीए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– मुतीए ण अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाण अपत्थणिज्जे हवइ।।47।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न–** भगवान्! मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता हे?

**उत्तर–** निर्लोभता से जीव अकिचन–अपरिग्रही बनता है ओर धनलोलुप पुरुपो का अप्रार्थनीय बनता है।

**व्याख्यान**

गोतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछ कर हम लोगो पर महान् उपकार किया हे। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने जो, कुछ कहा हे, उस पर हमे शान्त चित्त से विचार करना चाहिए। भगवान् का कथन हे कि क्षमा के बिना निर्लोभता उत्पन्न नही होती ओर निर्लोभता के बिना क्षमा नही आ सकती। ये दोनो गुण एक–दूसरे के सहारे टिके ह। अकेली क्षमा टिक नही सकती। क्षमागुण को स्थिर रखने के लिए अन्य सद्गुणो की भी आवश्यकता होती हे। जसे मूल होने पर शाखा–प्रशाखाए होती ह, उसी प्रकार क्षमा रूपी मूल के

होने पर शाखा–प्रशाखा के रूप मे अन्य गुण होते है। क्षमागुण अगर मूल है तो निर्लोभता आदि गुणो को शाखा–प्रशाखा के रूप मे समझना चाहिए।

जिस व्यक्ति मे लोभ होता है अथवा जिस व्यक्ति को किसी वस्तु के पति ममत्व होता है, उसकी प्रिय वस्तु को अगर कोई हानि करता है तो हानि करने वाले पर उसे क्रोध आना स्वाभाविक है। किन्तु जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, जो यह मानता है कि सब वस्तुए मेरे आत्मा के सयोग से ही है और एक–न–एक दिन वे सब नष्ट होने वाली ही है, मेरा शाश्वत सम्बन्ध किसी भी सासारिक वस्तु के साथ नही है, ऐसे व्यक्ति को किसी पर क्रोध आने का कोई कारण ही नही। जिस व्यक्ति के लिए किसी पर क्रोध करने का कारण ही नही होता, वही व्यक्ति क्षमा रख सकता है। इस प्रकार निर्लोभता के कारण ही क्षमाभाव टिक सकता है। अतएव लोभ को जीत कर क्षमाशील बनने का प्रयत्न करो।

निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते है– जिसमे लोभ नही होता, जो निर्लोभ होता है, वह अकिचन अर्थात् निर्धन बन जाता है और इस कारण निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोलुप लोगो के लिए अप्रार्थनीय बनता है।

इस प्रश्न का उत्तर सुनकर कोई कह सकता है कि निर्लोभता का यह तो उलटा फल निकला! ससार–व्यवहार मे तो यह देखा जाता है कि धन होने से ही धर्म होता है और धनवान् को ही धर्मात्मा माना जाता है। परन्तु भगवान कहते है कि निर्लोभता से निर्धनता आती है। इस प्रकार के कथन के सम्बन्ध मे शास्त्रकार कहते हैं कि अगर तुम भगवान् के कथन पर गहरा विचार करोगे तो भगवद्–वाणी का रहस्य तुम्हारी समझ मे आयेगा और तुम्हे अपनी भूल मालूम हुए बिना नही रहेगी। यह तो तुम भलीभाति जानते कि पदार्थो के पति चाहे जितनी ममता क्यो न रखो, आखिर वे पदार्थ नष्ट हो जाएगे और तब ममता त्यागनी ही पडेगी। ऐसी स्थिति मे जो पदार्थ नष्ट हो जाने वाले है उन्हे अपनी ओर से त्याग देना ही निर्लोभता है। अब तुम स्वय ही विचार करो कि जो वस्तु अन्त मे छूटने वाली ही है और नष्ट–भ्रष्ट होने वाली है, उस नश्वर वस्तु के पति ममत्व रखने से लाभ है या उसका स्वेच्छा से त्याग करने मे लाभ है? तुम स्वय कहोगे कि नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व न रखने तथा निर्लोभता धारण करने मे ही लाभ है।

कोई कह सकता है कि निर्धन हो जाना या दरिद्रता प्राप्त होना निर्लोभता का सुन्दर परिणाम नही कहा जा सकता। दरिद्रता के कारण तो पूरे

अन्न–वस्त्र भी प्राप्त नही होते। ऐसी स्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि निर्लोभता अच्छी वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् कहते हैं, जिसमे निर्लोभता होती है, उसे अर्थलोलुप लोग छोड देते हैं। निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोभी लोगो का अप्रार्थनीय बन जाता हे। धन के लोभी भलीभाति जानते हैं कि जिनके पास कुछ भी नही है अथवा जो निर्लोभ हैं, उनसे कुछ मिलने की आशा नही! अतएव वे निर्लोभ व्यक्ति का पिण्ड छोड देते हैं।

ससार मे प्राय धनिको को ही सताया जाता है। राजा इच्छुकार की पत्नी कमलावती ने अपने पति से कहा था–

**सामिस कुलल दिस्स वज्झमाण णिरामिस।**
**आमिस सव्वं मुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा।।**

**श्री उ 14, अ 46 गा 1,**

अर्थात् जब किसी पक्षी के पास मास होता है तब दूसरे पक्षी, जिनके पास मास नही होता, वे उस पर टूट पडते है। मास के कारण ही उस पक्षी पर दूसरे पक्षी टूट पडते है। अगर मास वाला पक्षी मास का त्याग कर दे तो दूसरे पक्षी उसे सताएगे नही।

इसी प्रकार जो पुरुष स्वय धन–सम्पदा का त्याग कर देता है, उसे राजा, चोर आदि अर्थलोलुप लोग नही सताते। जब लुटेरा किसी मनुष्य को लूटता है या मारता हे तो यह कहा जाता हे कि लुटेरा या चोर लोगो को दु ख देता हे। मगर इस बात का विचार करो कि वास्तव मे दु ख कौन देता है? चोर या लुटेरा दु ख देता हे अथवा धन की ममता दु ख देती हे? धन की ममता के कारण ही दु खो का उद्भव होता हे। धन की ममता का त्याग कर देने पर दु ख की उत्पत्ति नही होती, बल्कि सुख ओर शान्ति की प्राप्ति होती हे।

कहने का आशय यह हे कि जो लोग निर्लोभता – अकिचनता को स्वीकार करते हे, उन्हे अर्थलोभी लोग भी छोड देते हे। निर्लोभ मनुष्य ही आखिर देवो ओर मनुष्यो द्वारा पूजनीय वनता हे। वही सुख ओर शान्ति प्राप्त करता ह। इससे विपरीत, जिन्होने धन का लोभ नही त्यागा, वे इस लोक मे ही हाय–हाय करते हें और परलोक मे भी दु ख पाते हे।

शास्त्र मे यह वात यद्यपि साधुओ को लक्ष्य करके कही गई हे, पर गृहस्थो को भी इस बात पर विचार करना चाहिए कि धन के लोभ से कितना दु ख होता हे? यह तो सभी जानते हें कि लोभ से धन की प्राप्ति नही होती। ऐसी रिथति मे धन की आवश्यकता होने पर भी लोभ करन से क्या लाभ हे? लाभ का कहीं अन्त नहीं ओर जहॉ लोभ हे वहा पाप का पोपण होता हे।

गहरा विचार करने से तुम्हे भी विदित हुए बिना नही रहेगा कि दु ख का मूल कारण धन है। कुछ लोग धनिको को सुखी मानते है, पर धनिको से पूछो कि वे सुखी है या दु खी? वास्तव मे धनवानो को सुखी समझना भ्रम मात्र है। प्राय देखा जाता है कि जिनके पास धन है, वही लोग अधिक हाय–हाय करते है। जहा जितना ज्यादा ममत्व है, वहा उतना ही ज्यादा दु ख है।

कहा जा सकता है कि हम तो धनिको को आनन्द मनाते हुए देखते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध मे ज्ञानीजनो का कथन है कि धन वास्तव मे सुख का कारण नही है। सुखी असल मे वही है, जिसने ममता पर विजय प्राप्त करली है। जो लोग ममत्व मे फसे है, वे दिन–रात हाय–हाय करते रहते है। इसी कारण शास्त्रकार सासारिक पदार्थो के प्रति ममता का भाव न रखने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थो का जितने अश मे त्याग किया जायेगा, उतने ही अशो मे अधिक आनन्द प्राप्त होगा। वस्तुए तो आखिर नष्ट होने वाली है ही, फिर इन विनाशशील वस्तुओ पर ममत्व रखकर क्यो दु खी होना चाहिए? विनश्वर वस्तुओ का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर दिया जाये तो दु ख से बचाव हो जायेगा और आत्मसुख भी प्राप्त हो सकेगा। ज्ञानीजन अपना अनुभव प्रकट करते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थ अन्त मे एक–न–एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं, अतएव इन नश्वर पदार्थो का अगर वैराग्यपूर्वक त्याग कर दिया जाये तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कितनेक लोगो के पास सोना, चादी आदि धन होने पर भी वे त्यागी जैसे मालूम होते हैं और कुछ लोग धन न होने पर भी त्यागी सरीखे मालूम नही होते। इसका क्या कारण है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अमुक ने वस्तु सम्बन्धी ममत्व का त्याग किया है या नही, यह निश्चय की बात है। इसे हम लोग जान नही सकते। परन्तु जिस व्यक्ति मे जिस वस्तु के प्रति ममत्वभाव न होगा, वह व्यक्ति अपने पास वह वस्तु रखेगा ही क्यो? मुख्य बात तो यह है कि जिसने अन्त करण मे ममता का त्याग कर दिया होगा, वह दु खरहित बन जाएगा। जिसने ऊपर से केवल बाह्य दृष्टि मे त्याग होने का दिखावा किया होगा, भीतर से ममताभाव का त्याग नही किया होगा, वह बाहर से भले ही त्यागी जैसा दिखलाई दे मगर वह दु खो से मुक्त नही हो सकता। जहा ममत्व है वहा दु ख होता ही है। अतएव सासारिक पदार्थो से जितना दूर रहा जाये, उतना ही अच्छा है। सासारिक पदार्थो के प्रति निस्पृह रहने से सासारिक पदार्थ अधिकाधिक समीप आते है और उन पर ममत्व रखने से वे दूर भागते

है। सूर्य की तरफ पीठ करके छाया को पकडने के लिए दौडने से छाया आगे–आगे भागती जाती है। इसी प्रकार ममता के कारण सासारिक पदार्थ दूर से दूर होते जाते हैं। अगर सूर्य की ओर मुख और छाया की तरफ पीठ की जाये तो छाया पीछे–पीछे चली आती है। इसी पकार सासारिक पदार्थो के प्रति निस्पृहता धारण की जाये और उदारतापूर्वक उनका त्याग करने की भावना रखी जाये तो सासारिक पदार्थ तुम्हारे पीछे–पीछे दौडेगे। अतएव सासारिक पदार्थो के प्रति ममताभाव नही रखना चाहिए।

ससार मे जनसमाज का कल्याण वही व्यक्ति कर सकता है, जिसने ममता का त्याग कर दिया हो। अर्थलोभी व्यक्ति प्राय ससार का अहित करने मे प्रवृत्त रहता है। कोई कह सकता है कि आप धन का त्याग करने के लिए कहते है, परन्तु आज यह माना जाता है कि –

**भज कलदारं, भज कलदारं, कलदारं भज मूढमते!**

अर्थात् हे मूढ! तू धन की पूजा कर। ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए?

इस कथन का उत्तर यह है कि अर्थलोभी ही ऐसा कहते हैं। ऐसे लोगो से पूछना चाहिए कि धन मे सुख ही है या दु ख भी है? इस प्रश्न के उत्तर मे अर्थलोभी भी स्वीकार किये बिना नही रह सकते कि धन मे दु ख भी है। वास्तव मे धन को परमात्मा के समान मानने वाले अर्थलोलुप लोगो की बदौलत ही यह ससार दुखी बना हुआ है और जिन्होने धन को धूल के समान मानकर उसका त्याग कर दिया है, उन निर्लोभी पुरुषो की ही बदौलत ससार सुखी हो सका है अथवा हो सकता है।

जो अर्थलोभी नही है, जो धन को धूल समझते हैं, उन्हे कही भी, किसी भी प्रकार का भय नही रहता। आज धनलोभी लोगो को ही चोर आदि का सबसे ज्यादा भय लगता हे। धन के त्यागी, धन को धूल समझने वाले मुनि को जगल मे भी किसी का भय नही लगता। दरअसल धन मे आनन्द नही हे, धन का त्याग करने मे आनन्द हे। यह वात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हे। धन का त्यागी स्वय सुखी रहता हे ओर दूसरो को भी सुखी बनाता हे।

अगर तुम सासारिक पदार्थो की वास्तविकता पर विचार करोगे तो जान पडेगा कि लोभ का कहीं अन्त ही नही हे! ज्यो–ज्यो धन वढता जाता ह त्यो–त्यो लोभ भी वढता चला जाता हे ओर जैसे–जेसे धन–लोभ वढता जाता ह वेसे–वसे पाप का पोषण भी हो जाता हे। अतएव ससार की प्रत्येक वस्तु का स्वेच्छा से ही त्याग करना उचित हे। लोभ को जीतकर निर्लोभ वनने

के लिए शास्त्र मे अनेक उपाय बतलाये गए है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर बतलाया है कि वस्तु की प्राप्ति होने से किस प्रकार लोभ मे वृद्धि होती जाती है। और परिणामस्वरूप जीवन मे कितनी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। लोभ दु ख और अशान्ति का कारण है। निर्लोभता से सुख और शान्ति प्राप्त होती है। अतएव लोभ का त्याग करके निर्लोभ बनने मे ही कल्याण है।

कपिल ब्राह्मण को सिर्फ दो माशा सोने की ही आवश्यकता थी। राजा ने इच्छानुसार जो चाहिए सो मागने की अनुमति दी। कपिल ब्राह्मण ने बगीचे मे जाकर खूब विचार किया कि क्या मागना चाहिए? किन्तु विचारते–विचारते वह इसी निर्णय पर आये कि लोभ का कही अन्त नही है। ज्यो–ज्यो अधिक मागने की इच्छा करता हू, लोभ बढता ही जाता है। वास्तव मे जहा लाभ है वहा लोभ है। तृष्णा सर्वनाशिनी है। अगर मै तृष्णा का त्याग कर दू तो निर्भय बन जाऊ। इस प्रकार गहरा विचार करने के बाद कपिल ब्राह्मण इसी नतीजे पर पहुचे कि लोभ ही सर्वविनाशक है। अतएव लोभ का त्याग कर देना श्रेयस्कर है। ऐसा विचार कर कपिल ब्राह्मण ने लोभ का त्याग कर दिया और लोभ का पूर्ण रूप से त्याग करने के लिए ससार का त्याग करके मुनि पद स्वीकार किया और आत्मकल्याण किया।

भगवान् ने कहा है– लोभ पर विजय प्राप्त करने से आत्मकल्याण होता है। अत आत्महितैषी लोगो को लोभ पर विजय पाकर, निर्लोभ बनकर आत्मकल्याण करना चाहिए।

जीवन मे निर्लोभवृत्ति आ जाएगी तो धन आदि के लिए अर्थलोलुप लोगो से प्रार्थना भी नही करनी पडेगी। जहा निर्लोभता है वहा निर्भयता है। अतएव भयरहित बनने के लिए जीवन मे लोभ को त्याग दो। लोभ को जीतो। इसी मे स्व–पर कल्याण है।



# अड़तालीसवां बोल

## ऋजुता

सिद्धान्त–सागर मे अनेक अनमोल मोती भरे हैं। सच्चा जौहरी ही मोती की परख कर सकता है और ठीक कीमत आक सकता है। मोतियो की माला पहन कर लोग फूले नही समाते, परन्तु नश्वर मोतियो की माला से जीवन का वास्तविक कल्याण नही हो सकता। वीर–वाणी रूपी अनमोल मोतियो की माला अपने गले मे धारण करने वाले ही अपने जीवन को कल्याणमय वना सकते हैं, साथ ही पर का भी कल्याण कर सकते हैं। वास्तव मे वीर–वाणी ससार–सागर से पार उतारने वाली है और इसी कारण वीर–वाणी को जगदुद्धारिणी कहते हे।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र महावीर की अन्तिम वाणी हे। इस अन्तिम वाणी मे श्रमणनायक महावीर भगवान् के आत्मानुभव का निचोड सगृहीत हे। उत्तराध्ययन के 29वे अध्ययन मे महावीर भगवान् ओर गोतम गणधर के बीच हुए प्रश्नोत्तर का सक्षिप्त सारगर्भित तथा सुन्दर सूत्र के रूप मे निरूपण किया गया है। इस अध्ययन मे आत्मिक गुणो का विकास करने वाले 73 सोपान वनाए गए हैं। इन 73 वोलो मे सतालीस बोलो का विस्तृत विवेचन किया जा चुका ह। सतालीसवे वोल मे मुत्ति अर्थात् निर्लोभता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती ह ओर उससे जीवात्मा को क्या–क्या लाभ होता हे?, इस विषय पर विचार किया गया था।

आर्जव क्या ह? आर्जव गुण धारण करने से जीव को क्या लाभ होता ह? इस सम्बन्ध मे गातम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते ह –

**मूलपाठ**

**प्रश्न– अज्जवयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?**

उत्तर– अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायण जणयइ अविसंवायणसंपण्णयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।।48।।

### शब्दार्थ

**प्रश्न**– भगवन्! आर्जव– ऋजुता– निष्कपटता से जीव को क्या लाभ होता है?

**उत्तर**– ऋजुता से जीवात्मा काय की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता तथा तीनो योगो की सरलता प्राप्त करता है। आत्मा जब मन वचन, काय से सरल बनता है तब धर्म का आराधक बनता है।

### व्याख्यान

इस बोल पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीवन मे आर्जव – सरलता कब प्रकट होती है? जीवन मे आर्जव गुण पकट करने के लिए भगवान् ने पहले ही कह दिया है कि जो व्यक्ति अक्रोधी होता है, वही क्षमागुण को धारण कर सकता है, जो क्षमाशील होता है वही निर्लोभ हो सकता है और जो निर्लोभी होता है वही निष्कपट बन सकता है। इस प्रकार जहा कपटभाव नही होता, वही आर्जव गुण प्रकट होता है। जिसमे लोभ आदि होते हैं, वह सरलता नही रख सकता और जहा लोभ है वहा कपट होता ही है।

लोभ और कपट मे अविनाभाव सम्बन्ध है। जहा तीव्र लोभ है वहा माया भी है और जहा माया है वहा लोभ अवश्य होता है। जो लोभ को जीत लेता है वह कपट को भी जीत लेता है और जो कपट को जीत लेता है वह लोभ को भी जीत लेता है। इस प्रकार निर्लोभता और निष्कपटता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है और इसी कारण गौतम स्वामी ने निर्लोभता के प्रश्नोत्तर के बाद निष्कपटता के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया है।

दुनियादारी मे आमतौर पर यह कहा जाता है कि जो सरल होता है वह व्यवहार मे कच्चा होता है अतएव मनुष्य मे थोडी–बहुत वक्रता अवश्य होनी चाहिए। इस पकार ससार मे वक्रता रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। परन्तु शास्त्रकार इससे विरुद्ध यह कहते हैं कि लोभ या वक्रता रखने से आत्मा का तनिक भी लाभ नही होता है। निर्लोभता और सरलता से ही आत्मा का वास्तविक लाभ होता है। भगवान् ने कहा है– हे गौतम! जिस व्यक्ति के हृदय मे सरलता होती है कपट नही होता उस व्यक्ति की काया मे सरलता आती है भावो मे सरलता आती है और भाषा मे भी सरलता आ

जाती है। इसके विपरीत हृदय मे जब कपटभाव होता है तो काया मे भी कुटिलता आ जाती है, भावो मे भी वक्रता आ जाती है और भाषा मे भी कपटीपन आ जाता है।

हृदय मे कपट का भाव आने से शरीर मे किस प्रकार वक्रता आ जाती है, यह बात नाटक के उदाहरण से स्पष्ट समझ मे आ सकती है। नाटक मे अनेक प्रकार के जो पात्र होते हैं, वे वास्तव मे कैसे होते हैं और नाटक मे शरीर का रूप कैसे बना लते हैं? उनके हृदय मे तो मलीनता होती है, मगर ऊपर से सरलता प्रकट करते है। 'हाथी के दॉत दिखाने के और तथा खाने के और'— इस लोकोक्ति के अनुसार उनके हृदय का व्यवहार तथा काया का व्यवहार जुदा–जुदा होता है।

राम या हरिश्चन्द्र का नाटक खेला जाता है। राम या हरिश्चन्द्र का अभिनय करने वाले मे उन जैसा त्यागभाव नही होता, फिर भी कपटपूर्वक राम या हरिश्चन्द्र का वेषधारण करके अभिनेता खेल दिखलाता है। इसमे कपट नही तो क्या है?

कहने का आशय यह है कि हृदय मे कपटभाव रखने से काया मे भी वक्रता आ ही जाती है और जब हृदय मे सरलता आती है तो काया मे भी सरलता आ जाती है। इसके अतिरिक्त काय की वक्रता ओर सरलता से हृदय की वक्रता और सरलता जानी जा सकती है। अगर भावो मे कपट हो तो काय मे वक्रता आए बिना नही रहेगी। अर्थात् भाव मे कपट होगा तो काय मे वक्रता आएगी और काय मे वक्रता होगी तो भावो मे भी वक्रता आएगी। इसी प्रकार भाव मे सरलता होगी तो काय मे भी सरलता होगी ओर काय मे सरलता होगी तो भावो मे भी सरलता होगी और जिनके भावो मे तथा काय मे सरलता या वक्रता होगी, उनकी भाषा मे भी वैसी ही सरलता या वक्रता आए बिना नही रहेगी।

भाव मे, भाषा मे और काय मे वक्रता किस प्रकार आती हे, इसका वर्णन शास्त्र मे भिन्न–भिन्न प्रकार से किया गया है। यद्यपि प्रधानता तो भाव की ही रहती है, तथापि भाव के साथ भाषा ओर काय का भी सम्बन्ध है। भाव की प्रधानता देहली पर रखे दीपक के समान हे। देहली पर दीपक रखने से बाहर भी प्रकाश पडता हे ओर भीतर भी प्रकाश पडता हे, उसी प्रकार भाव मे सरलता या वक्रता रखने से भाषा ओर काय मे भी सरलता तथा वक्रता आती ह।

ऋजुता अर्थात् सरलता से भाव मे, भाषा मे तथा काय मे सरलता आती है और जब इन तीनो मे सरलता आती है तब, भगवान् के कथनानुसार आत्मा मे अविसवाद प्रकट होता है। आत्मा मे अविसवाद प्रकट होने से आगामीकाल मे धर्म की आराधना की जा सकती है। वास्तव मे धर्म की आराधना अविसवाद से ही होती है।

जो रोगी होता है और जो रोग दूर करना चाहता है, वही औषध का सेवन करता है। जो अपना रोग शान्त ही नही करना चाहता, वह किसलिए औषध सेवन करेगा? इसी प्रकार अगर तुम अपनी वक्रता दूर करना चाहते हो, तो भगवान् के इस सदुपदेश को हृदय मे उतारो और अमल मे लाने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी वक्रता दूर ही नही करना चाहते, तो इस दशा मे उपदेश सुनने से क्या लाभ हो सकता है? बालक के हृदय जैसी सरलता जब तुम्हारे हृदय मे आ जाए तो समझना कि तुमने भगवान् के धर्म को समझा है। जैसे बालक कपटरहित होकर माता–पिता के सामने सब बात खोलकर कह देता है, उसी प्रकार जो पुरुष अपना समस्त व्यवहार निष्कपट होकर करता है, वही वास्तव मे धर्म की आराधना कर सकता है। सच्ची सरलता प्रकट हुए बिना धर्म की यथावत् आराधना नही हो सकती।

तुम लोग माया को जीतकर सरलता प्राप्त करने के लिए हमारे पास आते हो। अतएव हमे भी विचारना चाहिए कि हम दूसरो का रोग, दूसरो की माया, तभी दूर कर सकते हैं, जब हम स्वय निरोग हो, अर्थात् मायारहित हो। अगर हम स्वय रोगी अर्थात् वक्र हुए तो दूसरो का रोग किस प्रकार मिटा सकेगे? वास्तव मे सरलता धारण किये बिना आत्मा का कल्याण भी नही हो सकता। अपने बुद्धिबल से या कपट से कोई दूसरो को पराजित भले ही कर सके, मगर उससे आत्मा का कल्याण नही साधा जा सकता। आत्मा का कल्याण तो सरलता से ही हो सकता है।

हृदय मे कपटभाव रखने वाला धर्म की आराधना नही कर सकता। धर्म की आराधना तो सरल आत्मा से ही होती है। वही अपना कल्याण कर सकता है। व्यवहार मे भी सरलता की आवश्यकता रहती है। स्वामी भी सरल सेवक पर प्रसन्न रहता है। जो सेवक कपटी होता है, उसके प्रति स्वामी प्रेम प्रदर्शित नही करता। जब व्यवहार मे भी यह बात देखी जाती है तो फिर कपट मे पडा हुआ अर्थात् वक्र मनुष्य परमात्मा का प्यारा कैसे बन सकता है? ठग लोग समझते है कि हम परमात्मा की आँखो मे धूल झोक कर उसे भी ठग लेगे, परन्तु आध्यात्मिकता के आगे ठगविद्या काम नही आती।

ठगविद्या से परमात्मा को ठग लेने की मान्यता ही भ्रामक तथा आत्म–विघातक है। अतएव परमात्मा की आराधना करने के लिए भाव, भाषा तथा काया की सरलता रखनी चाहिए।

कितनेक लोग वक्रतापूर्ण काम करके भी कहते हैं कि हमारा हृदय तो सरल ही है। हम काया द्वारा चाहे जैसे खराब काम करे, परन्तु हमारे भावो मे किसी प्रकार की वक्रता नही है। किन्तु यह कथन भी भ्रामक और मिथ्या है। शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं– जिसके भाव मे सरलता होगी उसकी भाषा मे भी सरलता होगी और काया मे भी सरलता होगी। इसके विपरीत, जिसके कार्यो मे और जिसकी भाषा मे वक्रता होगी, उसके भावो मे सरलता नही हो सकती। जो वृक्ष ऊपर से हरा–भरा दिखाई देता है, उसकी जड भी मजबूत और हरी–भरी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु जो वृक्ष ऊपर से सूखा हुआ नजर आता है उसकी जड हरी है, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार जब काया और भाषा मे वक्रता होती है, तब कैसे कहा जा सकता है कि भाव मे सरलता है? जब काया मे वक्रता होती है तो भाव मे भी वक्रता होती है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण देकर समझाता हू –

बादशाह अकबर का प्रधान हिन्दू था। यह हिन्दू प्रधान मुसलमानो को शल्य की भाति चुभता था। उनकी मान्यता थी कि मुसलमान राज्य मे हिन्दू प्रधान कदापि नही होना चाहिए। अतएव वे हिन्दू प्रधान के बदले किसी मुसलमान को प्रधान बनाने का प्रयत्न करते थे। जब उनका कोई प्रयत्न सफल न हुआ तो उन्होने बेगम को भरमा कर अपनी मनोकामना पूरी करनी चाही। कुछ मुसलमान बेगम के पास पहुचे और बोले– 'आपका भाई शेख हुसैन हर तरह से काबिल है, फिर भी उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को सल्तनत का दीवान बनाया गया हे। क्या यह ठीक कहा जा सकता है?'

बेगम मुसलमानो के भ्रमजाल मे फस गई। जब बादशाह महल मे गए तो बेगम ने तिरियाचरित द्वारा उन्हे वचन मे बाध लिया। बादशाह ने बेगम से कहा– तुम चाहती क्या हो? जो चाहती हो, बताओ। में वही देने को तेयार हू। बेगम बोली– तुम मेरे भाई की कई बार तारीफ किया करते हो। अगर दरअसल वह होशियार है तो उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को क्यो दीवान वनाया है? बादशाह बेगम का मतलब समझ गया। उसने मन ही मन विचार किया, बेगम को इस बात का यकीन करा देना चाहिए कि दरअसल उसका भाई कितना काबिल हे। इस प्रकार विचार कर बादशाह ने कहा– तुम्हारा कहना सही हे। मुझसे भूल हुई कि अपने ही घर मे शेख हुसेन

जैसे काबिल शख्स के होते हुए भी मैने एक हिन्दू को सल्तनत का वजीर बना दिया! मै कल शेख हुसैन को बडा वजीर बना देने का इन्तजाम करूगा।

जब बादशाह राजमहल मे से चले गये तो वे धूर्त मुसलमान फिर बेगम के पास आए। पूछने लगे– 'क्या हुआ?' बेगम ने उत्तर दिया – 'बस काम हो गया है। कल मेरा भाई शेख हुसैन प्रधान बना दिया जायेगा।' यह सुनकर वे मुसलमान पसन्न हुए और कहने लगे, चलो, हिन्दू प्रधान का एक काटा दूर हुआ।

दूसरे दिन बादशाह ने प्रधान से कहा– 'तुमने बहुत दिनो तक प्रधान पद भोगा है। अब थोडे दिनो के लिए शेख हुसैन को यह पद दे दो।'

हिन्दू वजीर ने कहा– 'जैसी जहापनाह की मर्जी।'

बादशाह ने प्रधान पद शेख हुसैन को सौपा और हिन्दू प्रधान को पृथक् कर दिया। बादशाह के इस कार्य से मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए। मगर उन्हे पता नही था कि शेख हुसैन इस कार्य के लिए योग्य है या नही? बादशाह को भलीभाति मालूम था कि शेख हुसैन इस पद को सुशोभित नही कर सकता। उन्होने सोचा, शेख हुसैन को मैने प्रधान पद सौप तो दिया है, परन्तु वह किसी दिन राज्य को भयकर हानि पहुचाएगा। अतएव ऐसा कोई उपाय करना ठीक होगा कि वह स्वय ही प्रधान पद छोडकर भाग जाये। इस प्रकार विचार कर बादशाह ने शेख से कहा– रोम के बादशाह से कुछ काम है। तुम वहा जाओ और काम को इस प्रकार कर आओ जिससे मेरी पतिष्ठा बढे। शेख हुसैन ने बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य की और रोम जाने की तैयारी शुरू कर दी।

शेख हुसैन रोम गया। उसने वहा ऐसा व्यवहार किया कि उसका अपमान हुआ। अपमानित होकर वह वापिस लौटा। वह अपने मन मे कहने लगा– मै इस झझट मे कहा से पड गया! पहले मैं मौज मे था। प्रधान बन कर मुसीबत गले लगा ली। इस प्रकार सोचता–विचारता वह बादशाह के सामने आया। बादशाह ने पूछा– रोम सकुशल जा आए? शेख हुसैन ने उत्तर मे कहा– आपने मुझे खूब झझट मे डाल दिया। वहा मेरा अपमान हुआ और जिस काम के लिए आपने भेजा था वह भी न हुआ। मुझसे यह वजारत न होगी। मेहरबानी करके यह पद वापिस ले लीजिए। बादशाह ने जवाब दिया– यह सब बात तुम अपनी बहिन से कहो।

बादशाह चाहते थे कि बेगम इन सब बातो से परिचित हो जाये और फिर कभी ऐसा पपच न करे। इसी कारण बादशाह ने सब बाते बेगम से कहने

के लिए कहा। शेख हुसैन अपनी बहन के पास गया और कहने लगा– 'बहिन! प्रधान पद की यह मुसीबत तुमने क्यो मेरे सिर मढी! पहले मैं मजे से रहता था, अब चिन्ता ही चिन्ता मे दिन बीतता है।'

बेगम– तुम प्रधान बनाए गए तो बुरा क्या हुआ? प्रधान का हुकम तो बादशाह से भी ऊचा समझा जाता है।

शेख– बहिन, तुम्हारा कहना सही है। प्रधान का पद बडा है, यह ठीक है, मगर उसे टिकाए रखने के लिए मुझमे काबलियत भी तो होनी चाहिए। मुझमे यह काबलियत नही है। इसलिए किसी तरह कोशिश करके मुझे इस मुसीबत से बचाओ।

बेगम – फला मुल्लाजी और फला मुसलमानो ने तुम्हे वजीर बनाने के लिए मुझ से कहा था, बल्कि जोर दिया था। उन्होने ही मुझे ऐसा करने के लिए भडकाया था। लिहाजा उन्हे बुलवाकर पूछ लेती हू।

जिन मुल्लाओ और मुसलमानो ने बेगम को भरमाया था, उन सब को बेगम ने अपने सामने बुलाकर पूछा – तुम लोग मेरे भाई को वजीर बनाने के लिए कहते थे। उसे वजीर बना भी दिया है। लेकिन वह वजीर बने रहने के लिए तैयार नही है। अब क्या करना चाहिए?

उन्होने कहा– हमारी ख्वाहिश तो यही थी कि मुसलमान सल्तनत का वजीर भी मुसलमान होना चाहिए। इसी वजह से हमने आपके भाई का नाम पेश किया था। अब अगर वह वजीर होना या रहना नही चाहे तो जाने दीजिए।

आखिर बादशाह ने फिर हिन्दू प्रधान को प्रधान के पद पर नियुक्त किया। बादशाह ने हिन्दू प्रधान से कहा– शेख हुसैन जो काम बिगाड आया है, उसे तुम सुधार आओ। बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य करके हिन्दू प्रधान दलबल के साथ रोम गया। रोम के बादशाह को मालूम हुआ कि भारत का प्रधान आया है। रोम के बादशाह ने कहा– भारत के प्रधान का व्यक्तित्व ही क्या है! एक प्रधान तो पहले आया था। अब दूसरा आया है। मिलना तो चाहिए ही।

रोम के बादशाह ने भारत के प्रधान की परीक्षा करने के लिए एक युक्ति रची। उसने अपने ग्यारह गुलामो को भी अपनी ही जैसी पोशाक पहना दी। बारहो आदमी एक समान बैठ गये, जिससे पता न लगे कि वास्तव मे बादशाह कौन हे? भारतीय प्रधान रौबदार पोशाक पहनकर रोम की राजसभा मे गया। राजसभा पहुचकर प्रधान ने एक ही नजर मे असली बादशाह को

पहचान लिया और उसी को सलामी दी। बादशाह ने पूछा कि तुम मुझे बादशाह समझते हो तो ये दूसरे लोग कौन है? भारत के प्रधान ने उत्तर मे कहा – हमारे यहा भारत मे होली के अवसर पर ऐसे अनेक बादशाह बनाये जाते हैं। ये लोग भी ऐसे ही बादशाह है। बादशाह ने फिर पूछा– यह बात तुमने कैसे जानी कि ये लोग असली बादशाह नही हैं और मै ही असली बादशाह हू। भारत के प्रधान ने कहा– जिस समय मै राजसभा मे दाखिल हुआ, उस समय ये मेरी पोशाक की ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे। अकेले आप ही गम्भीर होकर बैठे रहे। आपकी गम्भीरता देखकर मैं जान सका कि वास्तव मे आप ही बादशाह है। यह सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ। प्रधान के साथ उसने हाथ मिलाया और उसकी पीठ ठोक कर योग्यता का प्रमाण–पत्र दिया। रोम के बादशाह ने भारतीय प्रधान से शेख हुसैन के आने का जिक्र करते हुए कहा– तुम से पहले जो प्रधान आया था, वह तो बिलकुल अयोग्य था। भारतीय पधान ने रोम के बादशाह के मुख से शेख हुसैन की निन्दा सुनकर कहा – जहापनाह शेख हुसैन को तो आपकी परीक्षा करने भेजा था। वास्तव मे वह अयोग्य नही था। इस प्रकार भारतीय प्रधान ने अपनी प्रतिष्ठा बढाने के साथ शेख हुसैन की अप्रतिष्ठा भी दूर की।

पधान रोम से लौटकर बादशाह अकबर के समक्ष आया। उसने रोम का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। बादशाह सारी बाते सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने मुसलमानो को बुलाकर कहा– 'वजीर को तो ऐसा होना चाहिए।' बादशाह का कथन सुनकर मुसलमानो ने कहा – 'अब हमारी समझ मे आया कि आप जो–कुछ करते है, योग्य ही करते हैं।'

इस कथा से यह सार निकलता है कि जब भाव मे सरलता आती है तब काया मे भी सरलता आती है और जब भाव मे सरलता नही होती तो काया मे भी सरलता नही होती। भाव मे वक्रता आने से काय मे भी वक्रता आ जाती है। उपर्युक्त उदाहरण मे हम देख चुके हैं कि नकली बादशाहो ने भी पोशाक तो असली बादशाह सरीखी ही पहनी थी, परन्तु उनके भाव वक्र होने के कारण ही उनकी काया मे भी वक्रता आ गई थी। इसके विपरीत बादशाह के भाव मे वक्रता न थी, अतएव उसकी काया मे भी वक्रता न आई। भाव की वक्रता या सरलता का पता तो काया की वक्रता और सरलता से सहज ही लग जाता है। अतएव भाव मे सरलता रखने के साथ काया मे और भाषा मे भी सरलता रखना आवश्यक है। अगर कोई मनुष्य काया मे वक्रता रखकर अपने भाव सरल बतलाता है तो उसका कथन मिथ्या है।

भगवान् ने जो सरलता का फल वतलाया हे उसे दृष्टि मे रखते हुए प्रत्येक कार्य मे सरलता रखनी चाहिए। गौतम स्वामी ने सरलता के विषय मे प्रश्न पूछकर आत्मकल्याण करने का सरल मार्ग वतलाया है। सरलता रखना आत्मकल्याण साधने का सरल मार्ग है। सरल वनो, कपट मत रखो, इस सीधे–सादे वाक्य मे गहरा भाव छिपा है। कपट रखने से परमात्मा प्रसन्न नहीं होता और न आत्मकल्याण साधा जा सकता हे। भगवान् ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सरलता धारण करने वाला ही स्व–पर का कल्याण कर सकता है और कपट करने वाला अपना तथा पराया अकल्याण करता है। धर्म की आराधना अविसवादीपन से ही होती है और अविसवादीपन सरलता से ही प्राप्त होता है। अतएव कपट का त्याग करके सरलतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो अवश्य ही अविसवाद प्रकट कर सकोगे तथा धर्म की आराधना करके आत्मकल्याण साध सकोगे। सरलतापूर्वक की गई परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार सार्थक तथा सफल होती है, इस विषय मे एक कवि कहता है –

**अजित जिन तारजो रे, तारजो दीनदयाल, अजित**
**जे जे कारण जेहनो रे, सामग्री संयोग**
**मिलता कारज नीपजे रे, कर्तातणे प्रयोग। अजित**
**कार्य सिद्धि करता वसु रे, लइ कारण सयोग,**
**निज पद अर्थी प्रभु मिल्या रे, होय निमितय भोग। अजित**

इस प्रार्थना मे भक्त कहते है– प्रभो! तेरे सिवाय और कोई तारक नही है। परन्तु अजित जिन भगवान् तभी तारते हैं, जब जीवन मे सरलता आती है, जीवन मे सरलता न हुई, कपट हुआ तो परमात्मा केसे तार सकेगा? जीवन को तारना या डुबाना तो अपने ही हाथ मे है। पारस और लोहे के बीच अगर कागज जितना थोडा–सा अन्तर रह जाये तो पारस उस लाहे को सोना कैसे वना सकता है? अगर किसी प्रकार का अन्तर रह जाने के कारण पारस लोहे को सोना न वना सके तो इसमे पारस का क्या दोष हे? इसी प्रकार जव तक आत्मा ओर परमात्मा के वीच कपट का अन्तर हे, तब तक आत्मा परमात्मा किस प्रकार वन सकता है? और अजितनाथ भगवान् आत्मा को केसे तार सकते हैं? मानव–जीवन हमे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप मे प्राप्त हुआ है, अगर इस दशा मे भी इस आत्मा का कल्याण नही करेगे तो फिर कव करेगे? अनन्त भवो के वाद अपने को ऐसी सामग्री मिली है जिसे पाकर हम परमात्मा के समीप पहुच सकते हैं। हमे यह मानव–शरीर इसीलिए मिला

इसी मे है कि जो वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो, उसका उसी मे उपयोग किया जाये। जिस कार्य का जो कारण होता है, उस कारण से वही कार्य सिद्ध हो सकता है अन्य नही। उससे अन्य कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना उस कारण का दुरुपयोग करना है। घडा बनाने के लिए मिट्टी ही लेनी पडती है और कपडा बनाने के लिए सूत काम मे लेना पडता है। ऐसा न किया जाये और कपडा बनाने के लिए मिट्टी और घडा बनाने के लिए सूत काम मे लाया जाये तो कार्यसिद्धि नही हो सकती। इसी प्रकार जब आत्मा का कल्याण करने का कार्य करना हो तो आत्मकल्याण–साधक सरलता को अपनाना चाहिए और पुद्‌गलो के प्रति निस्पृह बनना चाहिए तथा कपट का त्याग करना चाहिए। इसके विपरीत अगर यह भावना रही कि मै किस प्रकार सुन्दर दिखाई दू, मैं धनिक कैसे बनू, या ऐसी कोई और सासारिक भावना रही और उस भावना को पूर्ण करने के लिए कपट का आश्रय लिया गया तो ऐसा करने वाले को पुद्‌गलानन्दी भले ही कहा जाये, मगर आत्मकल्याण–साधक नही कहा जा सकता। ऐसा अतिशय लोलुप जीव सम्यक्त्व भी प्राप्त नही कर सकता आत्मा का कल्याण किस प्रकार कर सकेगा? अतएव जिस कार्य के लिये जो कारण हो, उस कार्य के लिए वही कारण अपनाना चाहिए। आत्मकल्याण साधने के लिए जिन कारणो की आवश्यकता है, वे कारण हम लोगो को शुभक्रिया के प्रताप से, सौभाग्य से प्राप्त हैं। अतएव परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडने का जो साधन हमे प्राप्त है, उस साधन द्वारा आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। आत्मकल्याण का सरल मार्ग है सरलता धारण करना, कपट का त्याग करना।





# सम्यक्त्व पराक्रम
## भाग—5



# उनचासवां बोल

## मृदुता

शास्त्रकारो ने जगत् के जीवो को ससार–सागर पार करने के लिए धर्म–नौका मे बैठने का आह्वान किया है। धर्म का अर्थ ही है– धारण करने वाला। जो पतितो का उद्धार करे, डूबने वालो को तारे, उसी को धर्म कहते है। यह धर्म दस प्रकार का है। धर्म के क्षमा आदि दस भेद है। क्षमा रखना, निर्लोभता धारण करना, सरलता रखना आदि आत्मोन्नति के मार्ग हैं। इन गुणो से क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है। जो आत्मा विनम्र होता है, वही वास्तव मे सरल बन सकता है। अतएव अब मृदुता–विनम्रता गुण पर विचार किया जाता है। मार्दव क्या है और उससे जीव को क्या लाभ होता है? इस विषय मे गौतम स्वामी महावीर भगवान् से प्रश्न करते है।

**प्रश्न– मद्दवयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– मद्दवयाए ण अणुस्सियत्तं जणयइ, अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दवसंपण्णे अट्ठमयट्ठाणाइ णिट्ठावेई।।49।।**

प्रश्न– भगवन्! मृदुता– निरभिमानता से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– मृदुता से जीवात्मा अभिमान रहित होता है और निरभिमानी बनने के कारण कोमलता – मार्दव प्राप्त करके आठ प्रकार के मदस्थानो का परित्याग करता है।

### व्याख्यान

मृदुता अर्थात् विनम्रता समस्त गुणो की आधार भूमिका है। बिना आधार के आधेय टिक नही सकता। जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी

आधारभूत है, अर्थात् पृथ्वी के सहारे के बिना वृक्ष आदि स्थिर नहीं रह सकते, उसी प्रकार समस्त गुणो की आधारभूमिका मृदुता, अर्थात् विनयशीलता है। विनयशीलता के अभाव मे कोई भी गुण नही रह सकता। इसी कारण आर्जव के साथ मार्दव गुण भी प्राप्त करना चाहिए।

मृदुता के गुण को धारण करना लाभदायक तो है ही, परन्तु मृदुता के धारण करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस बात पर विचार करना आवश्यक है।

द्रव्य और भाव से नम्रता धारण करना मार्दव अर्थात् विनयशीलता, निरभिमानता है। शरीर आदि द्रव्य मे भी नम्रता होनी चाहिए और भाव मे भी नम्रता होनी चाहिए। जहा नमनभाव है, वही सब गुण टिक सकते है। जिसमे नम्रता होती है, वही विनयशील व्यक्ति अन्य सद्गुण प्राप्त कर सकता है। कहावत है—जो नमता है, वही गमता (सुहाता) है। प्राय मधुर फल भी उसी वृक्ष मे आते है, जिस मे नम्रता होती है। जिस वृक्ष मे नम्रता नही होती, उसमे मिष्ट और सुन्दर फल भी नही लगते। आम्रवृक्ष आम लगने पर नीचे झुक जाता है और इसी कारण आम मे मिठास होता है। परन्तु एरण्ड का पेड अकडा रहता है और इसी से उनके फल भी वैसे ही आते हैं। तुम्हे भी नमनभाव पसन्द हैं। अनम्रता तुम्हे भी पसन्द नही। आम तुम बडी रुचि के साथ खा जाते हो, परन्तु एरण्ड का फल खाने के लिए दिया जाये तो उसे खाना पसन्द करोगे? जहा कोमलता होती है, वही नमनभाव होता है और जहा नमनभाव होता है, वहा विनय होता है। विनयभाव सभी गुणो को अपनी ओर खीच लाता है। विनयभाव मे सद्गुणो को अपनी ओर खीचने की शक्ति रही हुई है।

जिस व्यक्ति मे विनय भाव है, उसके विषय मे भगवान् कहते है कि विनयशील व्यक्ति मे आठ प्रकार के मदो मे से एक भी मद नही रह पाता।

मद के आठ स्थान ये हैं –(1) जातिमद (2) कुलमद (3) बलमद (4) रूपमद (5) तपमद (6) ज्ञानमद (7) लाभमद (8) ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के मदो का त्याग विनयशील व्यक्ति ही कर सकता है, क्योकि जीवन मे नम्रता आए बिना मदो का त्याग करना शक्य नही है।

प्राय देखा जाता है कि लोग मामूली बात मे भी अभिमान करने लगते हैं। नये बूट पहनकर लोग ऐसा अभिमान करते है मानो अभिमान के मारे फूले नही समाते हें ओर अगर नये बूट के साथ बहुमूल्यवान् सुन्दर तथा नवीन वस्त्र भी पहन लिये हो तब तो कहना ही क्या है? उस समय तो अभिमान की सीमा ही नही रहती। ऐसी दशा मे अगर वह व्यक्ति उच्च जाति

मे या उच्च कुल मे पैदा हुआ हो और फिर धनसत्ता, वैभव तथा प्रभुता प्राप्त हो तब तो फिर अभिमान का कहना ही क्या है। परन्तु किसी का अभिमान सदा टिक नही सकता। अभिमान से सदा–सर्वदा हानि ही होती है। जब राजा रावण का भी अभिमान न टिक सका तो साधारण आदमी का अभिमान न टिकने मे आश्चर्य ही क्या है? अभिमान एकान्तत हानिकारक है और इसी कारण उसे 'मद' कहते है। मद्य और दूध मे कितना अन्तर है? कही–कही सरकार ने मद्य का तो निषेध किया है, मगर यह नही सुना गया कि किसी सरकार ने कही दूध का भी निषेध किया है। मद्य से हानि होती है और दूध से लाभ होता है। तुम लोग शराब को ही मद्य मानते हो, परन्तु ग्रन्थकार मद्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं–

**बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।**

अर्थात् जिस पदार्थ के सेवन से बुद्धि विकृत होती है, वे सब पदार्थ नदकारी है। अभिमान से भी बुद्धि विकृत होती है, अतएव वह भी एक प्रकार का मद है।

लोगो को जाति या कुल का भी मद होता है। पर शास्त्रकार कहते है कि जाति, कुल वगैरह का अहकार भी एक प्रकार का मद ही कहलाता है। सुज्ञ पुरुषो का कथन है कि जो जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न हो, उन्हे नम्र तथा निरभिमानी होना चाहिए। उच्च जाति वाला और उच्च कुल वाला तो विनम्र ही रहेगा। वह अभिमान नही करेगा। इससे विरूद्ध जो अपनी जाति या कुल का अभिमान करता है, समझना चाहिए कि उसकी जाति या कुल मे कुछ अन्तर होगा। शास्त्र मे गौतम स्वामी को जातिसम्पन्न और कुलसम्पन्न कहा है। माता का वश जाति और पिता का वश कुल कहलाता है। जाति या कुल उच्च होना तो पुण्य का फल है, फिर इनके लिये अभिमान क्यो करना चाहिए? जातिमद, कुलमद या किसी भी प्रकार का अन्य मद करना अभिमान ही है और अभिमान पाप का कारण है। तुलसीदास ने 'पाप मूल अभिमान' कहकर अभिमान को त्याज्य गिना है।

जीवन मे मार्दव गुण प्रकट होने पर जाति या कुल आदि का भी अभिमान नही रहने पाता। आत्मा मे कोमलता प्रकट होने से अनेक गुण प्रकट होते है। आत्मा मे एक प्रकार की कोमलता तो स्वभावत उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की कोमलता प्रयत्न द्वारा आती है। अगर प्रयत्न द्वारा आत्मा मे कोमलता न आती होती तो फिर शास्त्रकार दया के द्वारा आत्मा को कोमल करने का उपदेश ही क्यो देते? मार्दव गुण प्रयत्न द्वारा भी प्रकट हो सकता

है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि मार्दव गुण प्रकट होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि मार्दव गुण के प्रकट होने से अहकार का नाश होता है, अर्थात् आठ प्रकार के मदो मे कोई भी मद नही रह पाता।

अहकारी या अभिमानी पुरुष दूसरो को हलका मानता है। पर वास्तव मे बडा कौन है और छोटा कौन है? इस विषय मे पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज एक उदाहरण दिया करते थे, वह इस प्रकार है– जोधपुर मे एक छोटा पहाड है। उस पहाड पर किला बना है। उस किले पर चढकर मनुष्य जब नीचे के मनुष्यो को देखता है, तब उसे वे छोटे–छोटे नजर आते हैं। इसी प्रकार नीचे के मनुष्यो को भी ऊपर वाला मनुष्य छोटा दिखाई देता है। इस तरह जो दूसरो को छोटा या हलका समझता है। वह स्वय भी दूसरो के द्वारा हल्का समझा जाता है, जो व्यक्ति दूसरो को समान बनाना चाहता है। और यह चाहता है कि दूसरे भी उसे समान माने, तो उसे भी दूसरो के साथ समान भूमिका पर खडा होना पडेगा। कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति अहकार पर सवार है और अहकार के कारण दूसरो को हलका मानता है, उसको भी दूसरे हलका ही समझते हैं। वास्तव मे महान् वही है जो नम्रता से युक्त है।

श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध पुरुष की ईंट उठाई थी, इससे वे क्या छोटे हो गए थे? क्या ईंट उठाते समय उन्होने यह अभिमान किया था कि कहा मै द्वारिकाधीश हूँ और कहा यह विपन्न बूढा। उन्होने ऐसा अभिमान नही किया तो वे महान् समझे गये या छोटे? धर्मरुचि मुनि ने कीडियो की दया के लिए अपना शरीर भी त्याग दिया। उन्होने विचार किया कि यह विषमय शाक खाकर कीडिया मरे, इसकी अपेक्षा मै स्वय इसे खाकर प्राण अर्पण कर दू तो क्या हर्ज हे? उन्होने विषमय शाक का आहार करते समय छोटे–बडे का यह भेद नही किया कि कहा मै और कहा ये क्षुद्र कीडिया? उन्होने उस समय छोटे–बडे का भेद करके अभिमान किया होता तो क्या वे जगत् के समक्ष ज्वलत जीवदया का अनुपम आदर्श उपस्थित कर सकते? इस प्रकार सच्ची जीवदया वे ही कर सकते है। जिनमे सच्चा मार्दव गुण होता है अर्थात् कोमलता या विनम्रता होती है। जिनमे कोमलता या विनम्रता नही होती, वे प्रथम तो किसी प्राणी के प्रति दयाभाव प्रदर्शित ही नही कर सकते, कदाचित् प्रदर्शित करे भी तो वह दया बनावटी ओर दिखावे के लिए ही होती हे। सच्ची भावदया तो वही व्यक्ति कर सकता हे, जिसमे सच्ची मृदुता होती हे। अतएव सच्ची दया

करने के लिए तुम भी अहकार को जीतो और यह मानो कि सब जीव मेरे ही सरीखे हैं। दूसरो का हित करने से अपना हित होता है और दूसरो का अहित करने से अपना अहित होता है। तुम्हारे अन्त करण मे ऐसी भावना दृढ होगी, तो तुम भी सच्ची दया कर सकोगे। अहकार या अभिमान को जीत कर अपनी आत्मा को सरल तथा नम्र बनाओगे तो तुम अपना कल्याण करने के साथ दूसरो का भी कल्याण कर सकोगे। आत्मा को सरल और नम्र बनाने से स्व–पर का कल्याण होता है।



# पचासवां बोल

## भावसत्य

क्षमा, निरभिमानता, ऋजुता, विनयशीलता आदि गुणो के द्वारा आत्मा सरल और शान्त बनता है। आत्मा को कर्म–मैल से शुद्ध करने के लिए ऊपर के गुण धारण करना आवश्यक है। क्षमा आदि गुण धारण करने से किस प्रकार आत्मशुद्धि होती है, यह वात पहले विचारी जा चुकी हे। अव गौतम स्वामी भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि अन्तकरण की शुद्धि किस प्रकार होती है? ओर उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता हे?

### मूलपाठ

**प्रश्न– भावसच्चेण भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– भावसच्चेणं भाव विसोहि जणयइ, भाव विसोहीए वट्टमाणे जीवे अरिहंत पण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए आब्मुट्ठेइ, अरिहत पण्णत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्मुट्ठित्ता परलोग धम्मस्स आराहए भवइ।। 50।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भावसत्य (शुद्ध अन्तकरण) से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– भावसत्य से हृदय की विशुद्धि होती हे और विशुद्ध अन्तकरण वाला जीव ही अरिहत प्रभु द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर सकता हे और उस धर्म की आराधना मे उद्यत होकर परलोक मे भी धर्म का आराधक बनता है।

### व्याख्यान

भावसत्य के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक ह कि भावसत्य किसे कहते हं? सत्य के चार भेद हें। एक

सत्य तो सिर्फ ऊपरी होता है, वह सत्य वास्तव मे सत्य नही है। यह पहला सत्य ऊपर से तो सत्य मालूम होता है, पर भीतर से सत्य रूप नही होता। दूसरा सत्य ऐसा होता है कि वह ऊपर से भी सत्य मालूम होता है और भीतर से भी सत्य ही होता है। तीसरा सत्य वह है, जो भीतर से तो सत्य रूप होता है मगर ऊपर से सत्य नही होता। चौथा सत्य भीतर से भी सत्य रूप नही होता और बाहर से भी सत्य रूप नही होता, फिर भी उसे सत्य कहा जाता है। सत्य के ये चार अग है।

श्रीस्थानागसूत्र मे इस विषय मे एक उदाहरण देकर समझाया गया है। एक घडा ऐसा होता है जिसके भीतर विष भरा होता है, पर उसका ढक्कन अमृतमय होता है। दूसरा घडा ऐसा है कि उसमे विष भरा है और उसका ढक्कन भी विषमय होता है। तीसरा घडा ऐसा होता है कि उसमे अमृत भरा है किन्तु उसका ढक्कन विषमय है। चौथा घडा ऐसा है कि उसमे अमृत भरा है और ढक्कन भी उसका अमृतमय हैं। इस उदाहरण के अनुसार सत्य के भी चार प्रकार है।

भावसत्य के बिना आत्मा अर्हत् प्ररूपित धर्म की आराधना नही कर सकता। श्री उपनिषद् मे भी कहा है कि विद्यापूर्वक की जाने वाली उपासना ही सच्ची उपासना है। अज्ञानपूर्वक की जाने वाली उपासना सच्ची उपासना नही है। उपनिषद्कार जिसे विद्या कहते हैं, उसे हम लोग सम्यग्ज्ञान और दर्शन कहते है। उपनिषद्कार के कथनानुसार जब तक विद्यापूर्वक उपासना नही की जाती, तब तक मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। जैन शास्त्र मे भी कहा है –

**णाण च दसणं चेव, चरित च तवो तहा।**
**एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदसिहि।।**

**–उत्त 28, गा 2**

अर्थात्– जिनेश्वर भगवान् ने सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। तात्पर्य यह है कि ये चारो ही मोक्ष के मार्ग है।

मोक्षमार्ग का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि जिन्हे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उन्हे ही सम्यग्दर्शन होता है, और जिन्हे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उन्हे ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। अज्ञानी को सम्यग्दर्शन प्राप्त नही होता और जिसे सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नहीं है उसे सम्यक्चारित्र प्राप्त नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे श्री उतराध्ययनसूत्र मे कहा है–

णादसणिस्स णाण, णाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाण।।

—उत्त 28, गा 30

अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ, उसे सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त नही होता और सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र गुण प्राप्त नही हो सकता। सम्यक्चारित्र के अभाव मे मुक्ति नही मिलती और मुक्ति मिले बिना निर्वाण की प्राप्ति भी नही हो सकती।

इस कथन से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है या सम्यग्दर्शन? इस प्रश्न का उतर यह है कि निश्चय मे तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक ही साथ होती है, परन्तु व्यवहार मे बोलने के क्रम से पहले सम्यग्ज्ञान बोला जाता है। वास्तव मे तो दोनो एक ही साथ उत्पन्न होते है। उदाहरणार्थ, सूर्योदय होने पर प्रकाश पहले होता है या प्रताप? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकाश और प्रताप दोनो एक साथ ही सूर्य मे से निकलते है, क्योकि जिन किरणो से प्रकाश निकलता है, उन्ही किरणो से प्रताप निकलता है। फिर भी बोलने मे पहले प्रकाश और फिर प्रताप बोला जाता है। इसी प्रकार जब ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होता है, और मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होता है। तब मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जब ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व मोहनीय का भी क्षयोपशम होता है, तब सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, सिर्फ बोलने के क्रम मे पहले सम्यग्ज्ञान और फिर सम्यदर्शन बोला जाता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र प्राप्त होने से ही मोक्ष मिलता है।

कहा जा सकता है कि सम्यक्चारित्र तो सयम धारण करने से ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को भिन्न–भिन्न कहा है। ऐसी स्थिति मे जिन्होने सयम धारण नही किया, उन्हे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? इस कथन का उत्तर यह है कि जिसमे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है, वह व्यवहार मे भले ही सयम, अर्थात् चारित्र धारण न कर सका हो, फिर भी उसमे भाव से चारित्र का अश होता ही है। व्यवहार मे सयम न धारण करने पर भी जिनका आत्मा निज गुणो मे रमण करता हे, उनमे भावचारित्र होता ही है।

संयम की तरह सत्य भी दो पकार का होता है– व्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक सत्य ही भावसत्य कहलाता है। भावसत्य होने पर ही भावशुद्धि हो सकती है। पारमार्थिक सत्य किसे कहते है? यह बात समझाने के लिए श्री आचारागसूत्र मे कहा है–

**समियं ति मण्णमाणे समिया वा असमिया वा समिया होइ त्ति उव्हिाए।**

–आचा 5/5/169/4

अर्थात् जिसे तू सत्य मानता है, अर्थात् जिस विषय मे तेरे हृदय मे किसी पकार सदेह नही है, वह तेरे लिए सत्य रूप ही है।

इस पकार का आध्यात्मिक सत्य अपनाने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। भावसत्य को अपनाये बिना नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी भी आत्मकल्याण साधे बिना ही रह जाते हैं। ऐसे ज्ञानीजनो के उपदेश से धर्मोन्मुख हुए लोग तो मोक्ष पा भी लेते हैं परन्तु भावसत्य न अपनाने के कारण वे ज्ञानी जैसे के तैसे, अर्थात् कोरे ही रह जाते है। इससे भावसत्य की महिमा समझ मे आ सकती है।

भावसत्य को अपनाने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा– भावसत्य द्वारा अन्तकरण की विशुद्धि होती है, अर्थात् चित्त की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि द्वारा जीवात्मा अर्हन्त–प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है। जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अर्हन्त भगवान् हैं। अर्हन्त भगवान् द्वारा जिस धर्म की प्ररूपणा की गई है, वह धर्म अर्हन्त–परूपित धर्म कहलाता है। जब भावसत्य द्वारा भावशुद्धि होती है, तभी अर्हन्त परूपित धर्म की आराधना हो सकती है। चित्त की शुद्धि ही धर्माराधना का मार्ग है। श्रावक–श्राविका जो धर्मकार्य करते हैं, उसका उद्देश्य चित्त की शुद्धि करना ही है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए चितशुद्धि करना आवश्यक है।

जो बात हम जान या देख नही सकते, भगवान् उसे भी जानते, देखते है। अगर कपटपूर्वक सत्य बोला जाये तो भगवान् की दृष्टि मे ऐसा सत्य भी असत्य ही है। इससे विपरीत कपटरहित, सरल भाव से बोला गया लगने वाला असत्य कथन भी सरल आत्मा की दृष्टि से सत्य ही है।

कहने का आशय यह है कि जीवन मे भावसत्य को अपनाने से ही चित्त की शुद्धि होती है और चित्त की शुद्धि से ही अर्हन्त–प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। धर्म की आराधना करने से किसी भी समय कष्ट

उत्पन्न नही होता। कदाचित् कोई कष्ट उत्पन्न भी हो, तो यह नही कहा जा सकता कि वह धर्म की आराधना के कारण उत्पन्न हुआ है। शक्कर कदापि कड़ुवी नही हो सकती, परन्तु किसी कारण से अगर शक्कर कड़ुवी लगे तो यही कहा जा सकता है कि वह कड़ुआपन किसी और वस्तु का होगा, जो शक्कर मे मिल गई है। भगवान् स्पष्ट कहते है कि जिनमे भावसत्य होता है, उनके भावो मे विशुद्धता आती है। और जिनमे भावो की विशुद्धता होती है, वही धर्म की भलीभाति आराधना कर सकते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म की भलीभाति आराधना करता है, वही परलोक की भी आराधना कर सकता है।

अर्हन्त भगवान् ने जो, कुछ कहा है, वही पूर्ण रूप से तभी समझ मे आता है, जब हृदय के भाव शुद्ध बनते हैं। मैने जो भी ग्रन्थ या शास्त्र देखे या समझे है, उन सब मे प्रधान रूप से चित्त को शुद्ध करने की ही बात आई है। समस्त शास्त्रकारो ने तथा नीतिकारो ने चित्तशुद्धि को प्रधानता दी है, ऐसा मैने समझा है। भगवान् महावीर ने तेरह बोलो का अभिग्रह किया था। भगवान् का अभिग्रह क्या है? यह बात साधारण लोग समझ नही सकते थे। किन्तु भगवान् का चित्त शुद्ध था, अतएव वे चन्दनबाला की आख मे, आसू न देखने से और इस प्रकार अपने अभिग्रह की पूर्ति मे एक बोल की कमी होने के कारण चन्दनबाला के द्वार पर जाकर वापिस लौट गए थे। सीताजी का चित्त शुद्ध था। इस कारण उन्होने सहर्ष कष्ट सहन करना स्वीकार किया, परन्तु राम के सिवाय अन्य पुरुष को पति के रूप मे स्वीकार नही किया। अगर सीताजी का चित्त शुद्ध न होता तो वह इस प्रकार कष्ट सहन करने के लिए तैयार न होती। इस प्रकार चित्तशुद्धि, भावशुद्धि या आत्मशुद्धि को सभी ने महत्त्व दिया है। आत्मशुद्धि का महत्त्व कितना अधिक है, यह बात केशी–गौतम के सवाद मे स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। केशी श्रमण आत्मा की स्थिति बतलाते हुए गौतम स्वामी से पूछते हैं –

**अणेगाण सहस्साण, मज्झे चिट्ठसि गोयमा।**
**ते य ते अहिगच्छति, कह ते निज्जिया तुमे।।**

–उत्त 23/35

अर्थात् हे गौतम! हजारो दुश्मनो के बीच मे तुम निवास कर रहे हो, वे तुम्हारे सामने जूझ रहे हैं, तुम उन सबको किस प्रकार जीत सकते हो?

केशी स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने बतलाया–

**एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।**
**दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह।।**

—उत्त 23/36

अर्थात् मै सिर्फ एक 'आत्मात' को जीतने का सतत प्रयत्न करता हू, क्योकि उस एक को जीतने से पाच और पाच को जीतने से दस और दस को जीतने से समस्त शत्रुओ पर विजय प्राप्त हो जाती है।

गौतम स्वामी का उत्तर सुन कर केशी स्वामी ने फिर प्रश्न किया– हे गौतम! तुम शत्रु किसे कहते हो? और एक को जीतने से पाच, पाच को जीत लेने से दस तथा दस को जीत लेने से समस्त शत्रु जीत लिए जाते है, यह सब तुम किसके विषय मे कहते हो? इस प्रश्न के उत्तर मे गौतम स्वामी ने कहा–

**एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इदियाणि य।**
**ते जिणित्ता जहाणायं विहरामि अहं मुणी।।**

—उत्त 23/38

अर्थात् हे मुनि! एक (मन की दुष्प्रवृत्ति के अधीन बना हुआ) जीवात्मा अगर जीता न जाये तो, वह शत्रु है (आत्मा को न जीतने से कषायो की उत्पत्ति होती है)। इस शत्रु के प्रताप से चार कषाय भी शत्रु हैं और पाच इन्द्रिया भी शत्रु हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शत्रु–परम्परा को जैन शासन के न्याय के अनुसार जीत कर मैं शान्तिपूर्वक विहार करता रहता हू।

क्रोध, मान माया और लोभ, ये चार कषाय है। इनकी न्यूनाधिकता–तरतमता के कारण कषाय के सोलह भेद होते हैं। दुष्ट मन भी शत्रु है। पाच इन्द्रियो का असत् वेग होने से ये भी शत्रुओ जैसा काम करती है। मगर इन सबका मूल एकमात्र दुरात्मा है। अतएव दुरात्मा को जीत लिया जाये तो सरलता के साथ सब को जीता जा सकता है। जैन शास्त्रो की नीति के अनुसार–

**इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ**

– आचा 5/3,159

बाहर के युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना उत्तम है। क्षमा, दया, तपश्चर्या और त्याग आत्मयुद्ध के शस्त्र है। इन्ही शस्त्रो से कर्मशत्रु नष्ट होता है।

गौतम स्वामी ने जो–कुछ कहा है वही अनाथी मुनि ने भी राजा श्रेणिक से कहा था। अनाथी मुनि ने श्रेणिक राजा से कहा था– दु ख और

सुख, नरक और स्वर्ग तथा शत्रु और मित्र आत्मा ही है, दूसरा नही। अगर हमारी आत्मा शुद्ध है, तो समस्त वस्तुए शुद्ध स्वरूप मे दिखाई देगी। आत्मा अगर अशुद्ध हुआ तो किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नही देखा जा सकता। कूटशाल्मली वृक्ष, वैतरणी नदी अथवा कामधेनु गाय या नन्दन वन अर्थात् समुच्चय रूप मे तमाम सुख और दु ख अथवा स्वर्ग या नरक अपना आत्मा ही है। यह तथ्य भलीभाति समझने के कारण ही ज्ञानीजन सुख के समय फूल कर कुप्पा नही हो जाते और दु ख के समय घवरा नही जाते, वे दोनो अवस्थाओ मे समभाव ही रखते है। ज्ञानीजनो का कथन है कि जब नरक या कूटशाल्मली वृक्ष के दु ख अपनी आत्मा मे से ही उत्पन्न होते हैं, तो फिर नरक या शाल्मली वृक्ष को खराब क्यो कहा जाये? अगर हम अपनी आत्मा को जीत ले तो ये दु ख हमारे पास नही फटक सकते। एक आत्मा को भलीभति जीत लेने से समस्त दु ख जीते जा सकते है। आत्मा को न जीतने की हालत मे दु खो का टूट पडना स्वाभाविक है। दु ख दूर करने के लिए आत्मा को जीतना आवश्यक है।

सूर्य और दीपक– दोनो प्रकाश देते है। सूर्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाश देता है, परन्तु दीपक तेल देने पर ही प्रकाश दे सकता है। दीपक मे तेल न दिया जाये तो वह बुझ जाऐगा। ज्ञानीजनो का कथन है कि हमारा आत्मा सूर्य से भी अधिक स्वतन्त्र है। आत्मा जब तक परतन्त्र है, तभी तक वह दु खी है। अगर वह परतन्त्र न बने तो उसे किसी भी प्रकार का दु ख उत्पन्न नही हो सकता।

गौतम स्वामी का कथन सुनकर केशी स्वामी ने कहा– आपने मेरे प्रश्नो का जो उत्तर दिया है, वह समीचीन है। मेरे कहने का आशय भी यही था। आप वास्तव मे जितात्मा है। आपने क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चतुर्विध कषायो को जीत कर आत्मा पर विजय प्राप्त की है। द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा, इन आठ प्रकार की आत्माओ मे से केवल एक कषायात्मा को जीत कर आपने आत्मविजय प्राप्त की है। 'चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचन्ति मूलाइ पुणब्भवस्स'– वास्तव मे कषाय ही ससार है, क्योकि चार कषाय ही ससार को बढाने वाले हें। जो व्यक्ति चार कषायो को जीत लेता हे, वही आत्मविजय प्राप्त करके ससार का उच्छेद कर सकता हे।

सुना जाता है कि यूरोप मे युद्ध की तैयारिया हो रही है। पाश्चात्य लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हें, तो तुमने भी क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी

आन्तरिक शत्रुओ को जीतने की तैयारी की है या नही? बाह्य युद्ध की अपेक्षा आन्तरिक युद्ध करना उचित है। बाह्य युद्ध करने मे मान व हिसा, रक्तपात तथा धन–जन की हानि तो होती है, साथ ही दूसरो को लूटने की, पददलित करने की मनोवृत्ति– वैरवृत्ति भी हृदय मे उत्पन्न होती है। ज्यो–ज्यो बैरवृत्ति बढती जाएगी, त्यो–त्यो ससार मे अशाति का साम्राज्य बढता जायेगा और परिणाम यह होगा कि ससार मे सुख और शाति अदृश्य हो जाएगी। इससे विपरीत अगर वैरवृत्ति का त्याग करके क्रोध, मान, माया और लोभ को, जिनके कारण ससार मे विध्वसकारी विप्लव जागता है, उन्हे जीतने के लिए कषायात्मा के साथ दया, क्षमा आदि अहिसात्मक शस्त्रो द्वारा आन्तरिक युद्ध किया जाये तो दूसरो को लूटने की, पददलित करने की जो मलीन मनोवृत्ति है, उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। वैर पर विजय प्राप्त करने से आत्मशाति तो मिलेगी ही, विश्व मे भी शाति स्थापित हो जाएगी। विश्व मे सुख–शाति स्थापित करने के लिए दया, क्षमा आदि अहिसात्मक साधनो द्वारा कषायात्मा को जीतना ही एकमात्र अमोध मार्ग है। आज 'शठ प्रति शाठयम्', अर्थात् बैर का बदला बैर से लेने की, व रक्तरजित वस्त्र को रक्त से धोने की नीति प्रयोग मे लाई जा रही है। मगर इस प्रकार के बैरयुक्त व्यवहार से ससार मे कदापि सुख–शाति की स्थापना नही हो सकी है और न हो सकती है, क्योकि शान्ति स्थापिल करने का यह मार्ग ही नही है। शाति स्थापित करने का सच्चा और अमोघ मार्ग तो 'शठ प्रत्यपि सत्यम्' अर्थात्, बैर का बदला भी क्षमा से देना है। विश्वशाति की स्थापना तो तभी हो सकती है जब थप्पड का बदला भी क्षमा से दिया जाए। शास्त्रकार तो बहुत प्राचीन समय से ही पुकार–पुकार कर ये सब बाते कह रहे हैं, परन्तु अब गाधीजी जैसे राजनीतिज्ञ भी यही कहते है। दूसरो को शाति पहुचाने से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरो को अशात करके स्वय शान्ति की अभिलाषा करने से शान्ति नही, मिल सकती। अशाति बढाने से शाति नही वरन् अशाति ही फैलेगी।

सन् 1914 मे अग्रेजो और जर्मनो के बीच महायुद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इस युद्ध मे अग्रेजो ने जर्मनो को पराजित किया था और शाति स्थापित की थी। परन्तु वह शाति राख ढकी अग्नि के समान किस प्रकार उत्पात मचाने वाली थी, यह आज प्रत्यक्ष देखा या सुना जा सकता है। इस घटना से इतना सार अवश्य निकलता है कि शस्त्रबल से किसी को थोडे समय के लिए भले ही पराजित कर दिया जाए परन्तु ऐसा करने से शाति स्थापित नही हो सकती। जब तक हृदय मे से वैरवृत्ति नही निकल जाती, तब

तक अशाति नही मिट सकती। अशाति को दूर करना अवश्यक है। दूसरो को शाति पहुचाने से ही शाति उत्पन्न हो सकती है। वैर का वदला बैर से लेने से तो बैर ही बढता है। अतएव बैरवृत्ति का विनाश करने के लिए तथा विश्व मे शाति की स्थापना के लिए कषायात्मा को जीतना अनिवार्य है। जो आत्मा मैत्रीपूर्ण आचार और विवेकपूर्ण विचार द्वारा कषाय को जीतने का प्रयत्न करता है, वह कषाय को जीत सकता है और विश्व मे शाति भी स्थापित कर सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि यह किस प्रकार जाना जा सकता है कि हमने कषाय को जीत लिया है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही दिया जा सकता है कि अपने व्यवहार से ही पता लग सकता है कि वास्तव मे हमने कषाय को जीत लिया है या नही।

आचार और विचार के एकीकरण से ही इष्ट कार्य की सिद्धि होती है। निश्चय और व्यवहार मे आचार तथा विचार एक ही होना चाहिए। महापुरुषो की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति एक ही प्रकार की होती है।

**मनस्येक वचस्येक कार्येचैकं महात्मनाम्।**

महात्माओ के मन मे, वचन मे तथा कार्यो मे एक ही सरीखी प्रवृत्ति होती है।

जो व्यक्ति क्रोध, मान और लोभ को जीत लेता है। उस व्यक्ति का व्यवहार सरल बन जाता है। निश्चय मे जो कषाय–विजयी होता है, वह व्यवहार मे भी कषायजित कहलाता है। गौतम स्वामी के व्यवहार से ही केशी स्वामी ने उन्हे जितात्मा तथा कषायविजयी कहा था। गौतम स्वामी का निश्चय व्यवहार मे न उतरा होता तो केशी स्वामी उन्हे कषायविजयी के रूप मे किस प्रकार पहचान सकते थे? गौतम स्वामी के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया कि उनमे क्रोध, मान, माया, लोभ नही हैं। जो निश्चय मे होता है, वही व्यवहार मे आता है। व्यवहार से ही निश्चय का पता लगता हे। जब कोई वृक्ष ऊपर से हरा–भरा दिखाई देता है, तो उसकी जड भी हरी–भरी होने का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यवहार से निश्चय का अनुमान किया जा सकता। इसके अतिरिक्त निश्चय के साथ व्यवहार की भी आवश्यकता रहती है। केवल निश्चय या केवल व्यवहार, को पकड कर बैठ जाने से काम नही चल सकता। निश्चय ओर व्यवहार दोनो से ही इष्ट कार्य सिद्ध होता हे। वर्षा हो मगर बीज या अकुर न होगा तो क्या उगेगा? इसी

पकार बीज या अकुर हो, मगर वर्षा न हो तो भी अकुर कैसे बढेगा? वर्षा हो और बीज भी हो, तभी अकुर उग सकता है। इसी तरह निश्चय और व्यवहार दोनो से ही काम चल सकता है। किसी एक से नही।

ससार मे अनेक मत–मतान्तर हैं। इन मत–मतान्तरो की विपुलता के कारण लोगो की बुद्धि चक्कर मे पड गई है। पर हमे तो वही मानना चाहिए जो केशी स्वामी और गौतम स्वामी ने कहा है। हमे वही बात मान्य होनी चाहिए जो वीतराग प्रभु सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थकर देवो ने बतलाई है। अगर कोई बात हमारी समझ मे न आवे तो भी अपने हृदय मे ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिए कि–

**तमेव सच्च निस्सकिय जं जिणेहिं पवेइयं–एवं सद्दहमाणा, एव पत्तेयमाणा एव रोयमाणा, देवाणुप्पियाणं आणाए आराहियं भवइ?**

**हता गोयमा! भवइ।**

कदाचित् कोई बात अपनी बुद्धि मे न उतरती हो तो उस पर हृदय मे ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिए कि वीतराग जिन–भगवान् ने जो–कुछ कहा है, वह सत्य है और उसके विषय मे मुझे किसी भी प्रकार का सदेह नही है। मै उनके कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता हू। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा– इस प्रकार कहकर जो आपके वचन पर श्रद्धा रखता है, वह आराधक है? भगवान् ने उत्तर दिया– हा गौतम! वह जीव आराधक है। इस प्रकार तीर्थकर भगवान् ने जो–कुछ कहा है, वह अपनी बुद्धि मे न आये तो भी उनके कथन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा आत्मा को प्रकाशित करने वाली दीपिका है– आत्मा को ज्योतिर्मय बनाने वाला दिव्य दीपक है।

कहने का आशय यह है कि चित्त की शुद्धि अथवा भावविशुद्धि का महत्व केशी महाराज तथा गौतम स्वामी ने भी बतलाया है। अतएव भावसत्य द्वारा चित्त की शुद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए। ससार मे सयोग तो अनेक प्रकार के प्राप्त होते है परन्तु उन सयोगो के कारण अपने भावो मे अशुद्धता नही आने देना चाहिए। विषम सयोग प्राप्त होने पर भी अजना सती की भाति चित्त को शुद्ध रखना चाहिए।

भावसत्य का फल बतलाते हुए भगवान् ने बतलाया है कि भावसत्य से हृदय की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि से करण और योग की विशुद्धि होती है। इस प्रकार विशुद्ध अन्तकरण वाला जीवात्मा अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना करता है, वही परलोक मे धर्म की आराधना कर सकता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अर्हत्–धर्म की आराधना और परलोक की आराधना क्या भिन्न–भिन्न हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहा दोनो को भिन्न कहकर लक्षण द्वारा दोनो का सबध बतलाया गया है। इस लक्षण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अर्हत्–धर्म की आराधना आस्तिक ही कर सकता है। जो आस्तिक नहीं है, नास्तिक है, वह अर्हत्धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर के युग मे भी अनेक नास्तिक थे ओर आजकल तो इस मत की वहुत प्रवलता हो गई है। आधुनिक भोतिक विज्ञानवेत्ता भी कहते है कि पाच भूतो के सम्मिलन से जीव पैदा होता है और जब पाचो भूत विखर जाते है तो मृत्यु हो जाती है। आत्मा न परलोक मे जाता हे, न परलोक से आता है। आत्मा जब तक रहता है तभी तक जीवन है और उसी का हट जाना मृत्यु है। भृगु पुरोहित के पुत्र देवभद्र तथा यशोभद्र जब सयम धारण कर रहे थे, तब उनके पिता भृगु ने कहा था –

**जहा य अग्गी अरणी असतो, खीरे धयं तेल्ल महातिलेसु।**
**ऐमेव जाया! सरीरसि सत्ता, समुच्छई णासइ णावचिट्ठे।।**

– उत्त 14/18

अर्थात् जैसे अरणी मे अग्नि, दूध मे घी ओर तिल मे तेल प्रत्यक्ष से न दिखाई देने पर भी सयोगवल से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार, हे बालको! पचभूतात्मक शरीर मे से जीवात्मा उत्पन्न होता है ओर शरीर के नाश के साथ ही वह नष्ट हो जाता है। शरीर के नाश होने के पश्चात् चेतन नही रहता। तो फिर धर्म किस लिए? और सयम लेने की क्या आवश्यकता है?

चार्वाक मत का कथन हे कि पाच महाभूतो से ही कोई शक्ति उत्पन्न होती हे ओर शरीर के साथ ही वह क्षीण हो जाती है। परन्तु वास्तव मे चेतना शक्ति का क्षय कभी हो ही नही सकता। अरणी मे अग्नि, दूध मे घी ओर तिल मे तेल भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो, तथापि वे अव्यक्त रूप से रहते अवश्य हैं। इसी प्रकार शरीर धारण करते समय कर्म से लिप्त चेतनातत्त्व विद्यमान होता हे ओर शरीर क्षीण होने पर दूसरे शरीर मे चला जाता हे। पिता के कथन के उत्तर मे पुत्रो ने कहा था–

**णो इदिदियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइणिच्चो।**
**अज्झत्थहेउ निययस्स वधो, ससारहेउ च वयति बधं।।**

–उत्तरा 14/19

पिताजी! आत्मा अमूर्त होने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता और अमूर्त होने से ही वह नित्य भी है। आत्मा यद्यपि नित्य है, तथापि जीवात्मा मे अज्ञान आदि दोष मौजूद होने के कारण वह कर्मो से बद्ध होता है। यह बन्धन ही ससार–परिभ्रमण का कारण है, ऐसा महापुरुषो का कथन है।

जितने अमूर्त द्रव्य है, वे सभी नित्य है। आकाश अमूर्त है तो वह नित्य है। परन्तु आकाशद्रव्य मे जीव की तरह पर–सयोग से परिणमन नही होता, जबकि जीवात्मा (कर्म–बद्ध आत्मा) कर्म के वश होकर छोटे–बडे आकारो मे परिणत होता है और उच्च–नीच गतियो मे गमन करता है।

आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियग्राह्य नही है। इन्द्रिया एक–एक विषय को ही ग्रहण करती है। जो विषय जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, उस विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नही कर सकती। सुनने का काम कान और देखने का काम आख ही कर सकती है अगर कोई व्यक्ति सुनने के लिए कान बन्द करके आख खुली रखे अथवा देखने के समय आख बन्द करके कान खुला रखे तो वह सुन या देख नही सकता। कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने–अपने विषय को ही ग्रहण कर सकती है। परन्तु आत्मा सबके विषय को ग्रहण कर लेता है और आत्मा होने के कारण ही इन्द्रिया अपने–अपने विषय को ग्रहण करने मे शक्तिमान होती हैं। आत्मा जब शरीर मे से निकल जाता है तो इन्दिया शरीर मे रहती हुई भी अपने विषय को ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाती है। मृत व्यक्ति की इन्द्रिया मृतक शरीर मे मौजूद तो रहती है लेकिन आत्मा के अभाव मे वे काम नही कर सकती। इससे यह भलीभाति सिद्ध हो जाता है कि आत्मा की मौजूदगी मे ही इन्द्रिया अपना विषय ग्रहण कर सकती है। इस प्रकार आत्मा सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियो का स्वामी है।

आत्मा की विद्यमानता मे ही प्रत्येक काम हो सकता है। राजा भी तभी तक दण्ड दे सकता है जब तक शरीर मे आत्मा है। आत्मा के निकल जाने पर राजा भी शरीर को दण्ड नही देता। आत्मा–विहीन शरीर या तो भस्म कर दिया जाता है या जमीन मे गाड दिया जाता है।

भृगु पुरोहित के पुत्र कहते है– आत्मा स्थूल आखो से देखा नही जा सकता। वह अन्य इन्द्रियो द्वारा भी नही जाना जा सकता। वह आत्मा अमूर्त है, अमूर्त आत्मा मूर्त इन्द्रियो द्वारा किस प्रकार जाना जा सकता है? आत्मा यद्यपि इन्द्रियग्राह्य नही है फिर भी उसका अस्तित्व मानना पडता है। आत्मा

को माने विना काम नही चल सकता। परन्तु वहुत–से नासमझ लोग नास्तिको की कल्पित बातो मे इसलिए फस जाते हैं कि आत्मा न मानने से दान, धर्म, तप, शील आदि कुछ भी नही करना पडता और जीवन विषयभोग मे व्यतीत हो जाता है। इस प्रकार विपयानन्द मे फसकर लोग नास्तिकता स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु जिन महापुरुषो ने विषयसुख तथा ससार–सम्प्रदाय का त्याग किया है। उन पर अविश्वास करके आत्मा को स्वीकार न करना ओर जो विषयसुख के दास बने हुए हे, उनके कथन पर विश्वास करके, विपयलोलुप बनकर जीवन को नष्ट–भ्रष्ट करना कहा तक उचित हे? इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है।

देवभद्र और यशोभद्र अपने पिता भृगुपुरोहित से कहते हैं – पिताजी! आप आत्म–तत्त्व को भूल कर ही ऐसा कह रहे हैं कि आत्मा और शरीर भिन्न–भिन्न नही हैं, किन्तु दूध मे घी की तरह शरीर मे ही जीवत्वशक्ति हे। सचाई यह है कि आत्मा और शरीर, तलवार तथा म्यान की तरह जुदा–जुदा हैं। तलवार ओर म्यान अलग–अलग हैं, फिर भी तलवार म्यान मे रहती हे। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न–भिन्न हैं, फिर भी आत्मा शरीर मे रहता है। आत्मा अमूर्त तथा अविनाशी है। शरीर मूर्त ओर विनश्वर है। आत्मा अजर–अमर और शरीर क्षीण होने वाला हे।

प्रश्न हो सकता हे कि अगर आत्मा अमूर्त ओर अविनाशी हे तो मूर्त और विनश्वर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार हुआ? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि मिथ्यात्व आदि कारणो से ही आत्मा जन्म धारण करता हे ओर मरता हे। आत्मा का जैसा अध्यवसाय होता हे, वैसा ही उसका जन्म–मरण होता हे।

कुछ लोग कहते हें कि परमात्मा ही आत्मा को उत्पन्न करता ओर मारता हे, परन्तु गम्भीर विचार करने पर यह कथन किसी भी प्रकार ठीक ओर युक्तिसगत नही जान पडता। इस सम्बन्ध मे गीता मे भी स्पष्ट कहा हे –

**न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु।**
**न कर्मफल सयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते।।**

परमात्मा कर्ता नहीं हे, कर्म कराता नहीं हे, लोक का सर्जन करता नहीं हे ओर न किसी को दण्ड ही देता हे। यह सव स्वभाव से ही होता हे। जेसे मुह म मिर्च डालने से चरपराहट लगती हे ओर शक्कर डालने से मिठास मालूम होती हे उसी प्रकार कर्म का फल भी स्वभावत मिलता हे। परमात्मा कर्म का फल देने या जन्म–मरण कराने के झगडे मे नहीं पडता। ऐसा होने पर भी कुछ

लोग परमात्मा या काल आदि पर सारी जिम्मेदारी डाल कर कहते हैं– हम क्या करे? काल ही ऐसा आ गया है। परमात्मा ने ही यह सब किया है। परन्तु इस पकार परमात्मा या काल आदि पर बोझ डालना अज्ञान है।

शास्त्र कहता है कि तुम्ही कर्म के कर्ता हो और तुम्ही कर्म के भोक्ता हो। तुम स्वय अपना सुधार या बिगाड कर सकते हो। स्वभाव, काल आदि की सहायता तुम्हारे कार्य मे अपेक्षित अवश्य है, परन्तु कर्म के कर्ता तो तुम स्वय हो। तुम पुरुषार्थ करोगे तो तुम्हारे कार्य मे काल आदि की सहायता भी तुम्हे मिलेगी। कहावत है–

**हिम्मते मरदां मददे खुदा।**

इस कहावत का आशय यह है कि तुम हिम्मत रखोगे तो दूसरो की सहायता भी तुम्हे मिल जाएगी। हा, तुम पुरुषार्थ या प्रयत्न नही करोगे तो दूसरो की सहायता से वचित रहोगे। अतएव अपना उत्तरदायित्व दूसरो पर मत डालो। अपना काम आप ही करना होगा।

पुत्रो का युक्तिसगत कथन सुनकर भृगु पुरोहित समझ गया। भृगु पुरोहित ने तथा उसकी पत्नी ने देवभद्र और यशोभद्र को सयम ग्रहण करने की सहर्ष अनुमति दे दी। इतना ही नही, किन्तु स्वय भी सयम ग्रहण करके आत्म–कल्याण किया। शास्त्रकारो ने यह घटना शास्त्र मे सुरक्षित रखी। इस घटना से सार ग्रहण करके तुम भी आत्मसुधार करके आत्मकल्याण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि आस्तिक ही अर्हत्–प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत् प्ररूपित धर्म की आराधना करता है, वही वास्तव मे आस्तिक है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भावसत्य को ही धर्म की आराधना का मूल कारण बतलाया है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए भावसत्य को जीवन मे स्थान दो और हृदय की शुद्धि करो, इसी मे आत्मा का कल्याण है।



# इक्यावनवां बोल

## करणसत्य

पिछले बोल मे भावसत्य का विचार किया गया है। भावसत्य से होने वाले लाभ के विषय मे भगवान् ने कहा हे– भावसत्य से जीवात्मा भावविशुद्धि प्राप्त करता है और भावविशुद्धि से करण तथा योग की भी विशुद्धि होती है। अब गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं कि करण–सत्य क्या हे? ओर उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता हे? प्रश्नोत्तर यह है–

### मूलपाठ

**प्रश्न– करण सच्चेण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– करण सच्चेण करणसत्ति जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जाहावाई तहाकारी यावि भवइ।। 51 ।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! करणसत्य से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– करणसत्य (सत्यप्रवृत्ति करने) से सत्यक्रिया करने की शक्ति उत्पन्न होती हे ओर सत्यप्रवृत्ति मे स्थित जीवात्मा जेसा कहता हे, वैसा करता ह।

### व्याख्यान

करण का सामान्य अर्थ हे– साधन। कर्ता जिस साधन की सहायता स क्रिया करता ह उस साधन को करण कहते ह। जेसे कुम्हार चाक की सहायता से घडा बनाता ह, अतएव चाक करण हे। इसी प्रकार इन्द्रिया भी करण ह। कर्ता इन इन्द्रियो से जसा चाहे वेसा काम ले सकता हे। आत्म

(कता) ससार की वृद्धि करने मे भी इन्द्रियो का उपयोग कर सकता है। और ससार से मुक्त होने मे भी उपयणेग कर सकता है।

आज लोग साधारण कलम के लिए भी परतन्त्र हो रहे है। प्राचीन समय मे बरू की कलम बनाई जाती थी, मगर अब तो होल्डर और फाउन्टेनपेन का पचार बढ गया है, लोग समझते है कि सुविद्या के साधन बढ जाने से हम सुखी हो गए है पर वास्तव मे इन साधनो द्वारा सुख नही बढा, परतन्त्रता ही बढी है, और खर्च भी बढ गया है। पहले बरू की कलम बनाने मे कितना कम खर्च होता था? मै जब ससारवस्था मे था तो बाजार से कुछ बरू खरीद लाया था। मै जब तक ससारावस्था मे रहा, तब तक वे बरू काम मे आते रहे और जो बचे, वे मेरी दीक्षा के बाद दूसरो के काम आए होगे। इस प्रकार पहले थोडे–से खर्च मे काम चल सकता था और परतन्त्रता भी नही भोगनी पडती थी।

जैसे लिखने के लिए कलम करण है, उसी प्रकार कलम बनाने के लिए चाकू करण है। तुम लोग मुम्बई जाते हो। जिस साधन से तुम मुम्बई जाते हो वह साधन, चाहे रेलगाडी हो, मोटर हो या हवाई जहाज हो, करण है। इसी तरह आत्मा के लिए इन्द्रिया करण है। आत्मा चाहे तो इन्द्रियो द्वारा ससारवृद्धि भी कर सकता है और चाहे तो ससार से मुक्त होने के काम भी कर सकता है।

भगवान् कहते है– करणसत्य से करण मे सत्यता आती है और जब करण मे सत्यता आती है, तो जीव जैसा कहता है वैसा ही करके दिखा देता है। अगर उससे कोई काम नही हो सकता तो वह स्पष्ट कह देता है। जैसे आनन्द आदि श्रावको ने भगवान् से कहा था कि हम मे सयम धारण करने की शक्ति नही है मगर हम जो बात स्वीकार करेगे, उसका पूर्ण रूप से पालन करेगे।

करण मे सत्यता होगी तो कार्य भी बराबर सिद्ध होगा। चाकू अच्छा होगा तो कलम भी अच्छी बन सकती है। अगर चाकू ही अच्छा न हुआ तो खराब चाकू से कलम की नोक ठीक नही निकलेगी। इसी भाति जिस व्यक्ति मे करणसत्य होगा वह जैसा बोलेगा, वैसा ही कर दिखाएगा। करण मे सत्यता आ जाने से कार्य मे सरलता आए बिना नही रहती। जब करण मे

सत्यता आ जाएगी तो हाथी के दात खाने के और तथा दिखाने के और, इस लोकोक्ति के अनुसार कहना कुछ, करना कुछ की भिन्नता नही रह सकती। फिर तो जैसा उच्चार होगा, वैसा ही आचार होगा। अर्थात् वाणी तथा व्यवहार मे भिन्नता नही रह जाएगी। आजकल के लोग प्राय उच्चार के अनुसार आचार नही करते, अर्थात् कहने के अनुसार कार्य नही करते। मानो, वे यह सोचते हैं कि उच्चार के पश्चात् आचार की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु शास्त्र कहता है कि वाणी के अनुसार कार्य न करने का कारण करणसत्य का अभाव ही है। जिसमे करण सत्य होगा वही व्यक्ति उच्चार को आचार मे उतारेगा। जो व्यक्ति जैसा बोलता है, वैसा ही आचरण करता है। वही व्यक्ति लोक मे प्रशसा का पात्र बनता है। अरब देश के विषय मे कहा जाता है कि वहा के लोग बहुत कम झूठ बोलते हैं। यह उन लोगो के लिए प्रशसा की बात है, मगर भारतवासी कैसे बोलते हैं? इस बात पर विचार करो कि भारतीय झूठ तो नही बोलते? अगर कहा जाये कि भारत मे झूठ बोले बिना काम नही चलता, इस कारण झूठ बोलना पडता है, तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव मे सत्य बोले बिना काम नही चल सकता। उदाहरणार्थ, किसी आदमी को खूब भूख लगी है। वह झूठ बोलता है। कहता है– "मुझे भूख नही लगी।" ऐसी दशा मे क्या उसका काम चल सकेगा? उसका भूख का दु ख दूर हो सकेगा? अगर यह कहा जाये कि ऐसी जगह झूठ बोलने से काम नही चल सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि भोले लोगो को ठगने के लिए झूठ बोले बिना काम नही चल सकता।

लोग समझ बैठे हैं कि हम झूठ बोल कर चाहे जिस तरह ठगे, हमे कौन देखता है? पर शास्त्रकार कहते हैं– दूसरा कोई देखे या न देखे, पर तुम्हारा खुद का आत्मा और परमात्मा तो देखता है। अगर तुम परमात्मा को और अपने आत्मा को प्रसन्न करना चाहते हो, तो जेसा कहते हो, वैसा ही आचरण करके दिखाना चाहिए। कहना कुछ ओर करना कुछ, इस पद्धति को अगीकार करने से तुम्हारा आत्मा सतुष्ट नही होता ओर परमात्मा भी प्रसन्न नही होता। कथनी और करनी मे भिन्नता रखने से जीव का व्यवहार ठीक तरह नहीं चल सकता। किसी ने कहा है– 'यह करना चाहिए– यह नही करना चाहिए'– ऐसा दूसरो से तो कहा जाता हे, परन्तु अपने कहने के अनुसार तू आप ही नही करता, यह कहा तक उचित कहा जा सकता हे।

कहना कुछ और करना कुछ, यह भेदनीति सर्वथा अनुचित है। जब गृहस्थो के लिए भी यह भेदनीति अनुचित गिनी जाती है, तो साधुओ के लिए वह अनुचित और वर्ज्य हो, यह स्वाभाविक ही है। ऐसा होने पर भी कितनेक साधु भी बोलने मे और करने मे भिन्नता रखते है। परन्तु इस प्रकार के अनुचित व्यवहार से परमात्मा पसन्न नही हो सकता। परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए उच्चार को आचार मे लाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।



# बावनवां बोल

## योगसत्य

करणसत्य अर्थात् सत्यप्रवृत्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होगा, यह पहले बतलाया जा चुका है। अब योग सत्य अर्थात् मन, वचन और काय के सत्य व्यापार से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं–

**मूलपाठ**

**प्रश्न– जोग सच्चेणं भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– जोग सच्चेणं जोगे विसोहेई।।52।।**

**शब्दार्थ**

**प्रश्न– भगवन्! योगसत्य से जीव को क्या लाभ होता है?**

**उत्तर– योगसत्य से योगो की विशुद्धि होती है।**

**व्याख्यान**

मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है। मन, वचन ओर काय का व्यापार पन्द्रह प्रकार का हे। मूल मे योग के तीन भेद है– मनयोग, वचनयोग और काययोग। इनके पन्द्रह भेद हैं। मनयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद ओर काययोग के सात भेद हैं। वचन ओर काय के साथ मन रहता है किन्तु कभी मन सत्य मे प्रवृत्त होता हे, कभी असत्य मे प्रवृत होता हे। असत्य मे मन प्रवृत्त तो होता हे, मगर योग को, सत्य मन मे ही प्रवृत करना चाहिए। सत्य मन मे योग को प्रवृत्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता ह यह वतलाने के लिये ही गोतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया हे। भगवान्

ने उत्तर दिया है कि सत्ययोग से योग की विशुद्धि होती है। मन मे सत्य योग को प्रवृत्त करना ही योगसत्य है और योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योग का अर्थ जोडना भी है। मन, वचन और काय को किसी के साथ जोडना भी योग कहलाता है। मन, वचन और काय को जिसके साथ जोडा जाता है, उसी को योग कहते है। पानी मे कोई वस्तु डाली जाए तो वह उस वस्तु का रग अपना लेता है, इसी प्रकार अगर योग को सत्य मे प्रवृत्त किया जाए तो वह सत्ययोग कहलायेगा और यदि असत्य मे प्रवृत किया जाए तो असत्ययोग कहा जाएगा। इसी तरह अगर सत्य असत्य दोनो मे योग मिश्रित किया जाये तो मिश्रितयोग कहलाएगा। तात्पर्य यह है कि योग को सत्य मे प्रवृत्त करना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि सत्य किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन है। सत्य की पूर्ण व्याख्या तो वे ही महापुरुष कर सकते हैं जिन्होने अपने जीवन मे सत्य को तानेबाने की तरह बुन लिया हो। जिन महापुरुषो ने सत्य को सागोपाग, सम्पूर्ण रूप से जीवन मे उतार लिया है, उनमे और ईश्वर मे कोई अन्तर नहीं रहता। क्योकि शास्त्र मे कहा है कि सत्य ही भगवान् है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति का सच्चा मार्ग सत्य ही है।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि अपने लिए कठिन अवश्य है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा न सही, आशिक रूप मे भी अपने ध्येय तक पहुच ही सकता है। इस कथन के अनुसार अपनी शक्ति के अनुसार यहा यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जाएगा कि सत्य क्या है?

साधारणतया सभी मनुष्य सत्य का स्वरूप समझने की अभिलाषा रखते है, परन्तु वे ही लोग सत्य को ठीक तरह समझ सकते है, जिन्हे सत्य हृदय से प्रिय है। सत्य का उपासक बनने की इच्छा रखने वाला सत्य के समक्ष तीन लोक की सम्पदा को ही नही वरन् अपने प्राण को भी तुच्छ समझता है। किन्तु जो लोग किसी सम्प्रदाय, धर्म या मत के पीछे मतवाले बन जाते है और स्वार्थवश होकर सत्यासत्य का विवेक भूल जाते है, वे सत्य का स्वरूप नही समझ सकते। वे सत्य को अपने जीवन मे उतार भी नही सकते। जीवन को नीतिमय, प्रामाणिक, धार्मिक तथा उन्नत बनाने के लिए सर्वप्रथम सत्यमय बनना आवश्यक है। अतएव यहा सत्य के विषय मे कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है।

जो नित्य है, अविनाशी है और विकारो से रहित है, वह सत्य कहलाता है। अविनाशीपन को प्राप्त करने के लिए जो व्यवहार किया जाता है वह भी सत्य है। श्रीस्थानागसूत्र के चोथे स्थान मे सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है–

**चहव्विहे सच्चे पण्णत्ते तजहा काउज्जुयया भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे।**

अर्थात् काय की सरलता, भाषा की सरलता ओर मन, वचन, काय के योगो की सरलता का नाम सत्य है।

जिस विचार, वाणी और कार्यप्रणाली मे त्रिकाल मे भी फेरफार न हो, जिसे आत्मा निष्पक्षभाव से ग्रहण करे, हृदय मे सम्पूर्ण रूप से जिसके स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहकार, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव नष्ट हो जाए तथा जो भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगा अथवा जिसके द्वारा आत्मा की सच्ची शाति प्राप्त हो, उसे सत्य कहते हैं।

योगदर्शन के साधन–पाद के तीसरे सूत्र के भाष्य मे वेदव्यासजी ने सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है–

**सत्य यथार्थे वाड्मनसो यथादृष्टं यथानुमित यथाश्रुतं तथा वाड्नश्चेति।**

**परत्र स्वबोधक्रान्तये वागुक्त्यायदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपतिवंध्या वा भवेदिति।**

भाव यह है कि मनोयोगपूर्वक वाणी की यथार्थता होना सत्य कहलाता हे, अर्थात् जैसा देखा हो, समझा हो, वैसा ही दूसरो को दिखाया जाये, समझाया जाये तथा सुनाया जाये, यही सत्य है। किन्तु अगर वाक्चातुर्य से या असावधानी से उन्हीं शब्दो द्वारा दूसरो को भ्रमणा उत्पन्न हो तो उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। सक्षेप मे वास्तविक विचार, वाणी तथा व्यवहार सत्य कहलाता है। महाभारत मे भी कहा हे –

**अविकारितम् सत्य सर्ववर्णेषु भारत।**

अर्थात्– समस्त वर्णों मे विकाररहित रहने वाले को सत्य कहते हैं।

सत्य की मूर्ति किसी पाषाण की बनी नहीं होती ओर न उसका कोई स्थान ही नियत होता हे। इस देह मे रहे हुए जीवो की भाति सत्य सर्वत्र

व्याप्त है। कोई वस्तु या कोई स्थान ऐसा नही है, जहा सत्य न हो। जिस वस्तु मे सत्य नही है, वह वस्तु ही किसी काम की नही रहती। जैसे सूर्य मे सत्य वस्तु प्रकाश है। अगर सूर्य मे से प्रकाश निकल जाये तो उसे कोई भी सूर्य नही कहेगा। दूध मे सत्य वस्तु घी है। अगर दूध मे से घी निकल जाये तो उसे वास्तव मे दूध नही कहा जा सकता। कहने का आशय यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है, जिसके होने से किसी वस्तु, विचार, वाणी या कार्य वगैरह के नाम, रूप तथा गुणो मे परिवर्तन न हो सके। सत्य अपरिवर्तनशील और स्वाभाविक है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त है। ससार मे विभिन्न मत हैं और उनके सिद्धान्त अलग–अलग हैं। कुछ मतो के बाह्य सिद्धान्तो मे तो इतनी अधिक भिन्नता होती है कि एक मतानुयायी दूसरे मत के अनुयायी से मिल भी नही सकता। यही नही, वरन् इन सिद्धान्तो को पकडे रख कर वे प्राय महायुद्ध मचा देते हैं। ऐसा होने पर भी अगर सब मतावलम्बी गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करे तो उन्हे मालूम होगा कि धर्म का पाया सत्य पर ही टिका है और वह सत्य सबका एक है। अगर इस सत्य का सच्चा स्वरूप समझा जाए तो जो लोग धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष रखकर कलह करते है, वे भी कलह और द्वेष का त्याग करके भाई–भाई की तरह एक–दूसरे के गले मिलेगे और प्रेमपूर्वक भेटने के लिए तैयार हो जाएगे।

प्रत्येक मनुष्य सत्य का पूजन कर सकता है। सत्य का पूजन करने मे कोई जाति या धर्म का बन्धन नही है। यही नही, वरन् जो कोई भी, चाहे वह किसी भी जाति का या किसी भी धर्म का हो, सत्य का आचरण करता है, वह सच्चा धर्मात्मा बन जाता है। सत्यपूजा की सामग्री के लिये साधारणतया एक कौडी भी नही खरचनी पडती, परन्तु कभी–कभी सत्यपूजा के लिये इतना अधिक आत्मत्याग करना पडता है कि ससार का कोई भी त्याग उसकी बराबरी नही कर सकता। पूछा जा सकता है कि इस सत्य की पूजा किस प्रकार करनी चाहिए? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही दिया जा सकता है कि 'सत्य चर।' अर्थात् सत्य का आचरण करो। मन वचन और काय से सत्य का आचरण करना ही सत्य की सच्ची पूजा है।

सत्य का पूर्ण स्वरूप तो केवली भगवान् ही जानते हैं। हम लोग स्वय अपूर्ण है। हम पूर्ण सत्य का वर्णन किस प्रकार कर सकते है? केवली

भगवान् जितना जानते है उतना वे भी कह नही सकते, क्योकि योग तो समयानुसार ही प्रवर्तित होता है। ऐसी स्थिति मे वे जितना जानते हैं, उस सबका वर्णन किस प्रकार कर सकते हैं? हम लोग भी जितना देखते हैं उतना वर्णन नही कर सकते, तो फिर जो अखिल ससार को हाथ की रेखा की तरह देखते है, वे सबका कथन किस प्रकार कर सकते हैं? इस प्रकार पूर्ण सत्य तो अनिर्वचनीय, अकथनीय है। पूर्ण सत्य की परिसीमा पर पहुचने से मन और वाणी भी उसी मे समा जाते है। अतएव पूर्ण सत्य अनिर्वचनीय है। यहा जिस सत्य का कथन किया गया है, वह तो व्यावहारिक सत्य है। जो वास्तविकता से विरुद्ध नही है और जिसके विषय मे किसी प्रकार का कपट सेवन नही किया गया है, वह व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य के साथ योग का सबध जोडना योगसत्य है। इस योगसत्य से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योगसत्य और योग–असत्य मे क्या अन्तर है? यह बात एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाता हू। मान लीजिए एक सेठ के पास कोई आदमी दस रूपया उधार लेने आया। सेठ के पास तिजोरी मे रुपया है, मगर वह उस आदमी को देना नही चाहता और न यही चाहता है कि मागने वाले को बुरा लगे। अतएव सेठ मागने वाले से कहता है– मैं तुम्हे रुपया अवश्य देता, मगर अभी सिलक मे रुपया न होने के कारण असमर्थ हू। ऐसा कहने वाले सेठ ने अपना योग असत्य मे प्रवृत्त किया या नही? सेठ मिथ्या बोला लेकिन उस आदमी को सेठ के कथन पर विश्वास नही हुआ। उसने मन मे यही सोचा होगा– यह सेठ झूठ बोलता है। यह केसे माना जा सकता है कि उसके पास दस रुपया भी नही हे! सेठ तो यह सोचता है कि मेरे तिजोरी मे रुपया हे या नही, यह कोन देखता हे? मगर वह यह नही सोचता कि दूसरा कोई देखे या न देखे मेरा मन तो जानता है कि तिजोरी मे रूपया हे, फिर भी मैं मिथ्या बोला ओर रुपया न देने के लिए कपट किया। इस प्रकार योग को असत्य मे प्रवृत्त करना योग असत्य हे। अगर वह सेठ उस आदमी से यह कह देता कि मेरे पास रुपया तो हे पर इस समय म तुम्हे रुपया नही दे सकता। ऐसा कहने से सत्य की रक्षा होती। ऐसे सत्य मे योग को प्रवृत्त करना

योगसत्य है। इसी प्रकार अगर सेठ यह कहता कि मैं दस रुपया तो नही देता, पाच दे सकता हू, तो यह भी सत्ययोग ही कहलाता। हा, सेठ ने यह कहा होता कि मेरे पास दस रुपया तो नही है, पाच ही है। तुम पाच रुपया ले जा सकते हो, यह कथन भी एक प्रकार से असत्य है, पर इसे मिश्र कहा जा सकता है। क्योकि इस कथन मे सत्य और असत्य का मिश्रण है। ऐसे मिश्र मे योग को पवृत्त करना मिश्रयोग कहलाता है।

चौथा व्यवहारयोग है। वस्तु न होने पर भी विकल्प से वस्तु मानना, अथवा एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप करके कथन करना विकल्प कहलाता है। जैसे– खाट शोर करती है। वास्तव मे खाट शोर नही करती, वरन् खाट पर बैठे आदमी शोर मचाते है। फिर भी व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि खाट शोर मचाती है। कोई कहता है– गाव भाग गया। वहा यह कथन किया गया है कि गाव भागता है, परन्तु गाव मे बसने वाले लोग भागते हैं– गाव नही। फिर भी व्यवहार मे यही कहा जाता है कि सारा गाव भाग गया। वस्तु मे सत्–असत् का निर्णय न करके व्यवहार मे जैसा कहा जाता है, वैसा ही कपटरहित मन से कहना व्यवहार है। ऐसे व्यवहार मे योग को प्रवृत्त करना व्यवहार–योग कहलाता है।

वचनयोग और काययोग के भी इसी प्रकार जुदे–जुदे भेद हैं। सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार, इन चारो मे से जिस योग को जिसके साथ जोडा जाएगा वह योग वैसा ही कहलाएगा। भगवान् ने सत्य मे योग जोडने का फल यह बतलाया है कि योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है अर्थात् आत्मा क्लेशकर्म के विपाक से रहित होता है।

जैसे झाडू से घर का कचरा साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे मन वचन तथा काय की असत्य प्रवृत्ति रूपी जो कचरा भरा हुआ है, उसे योगसत्य रूपी झाडू से साफ किया जाता है। किसी विशिष्ट व्यक्ति को घर आने का आमन्त्रण तभी दिया जाता है जब अपना घर पहले से ही साफ कर लिया हो। घर साफ–सुथरा न हो तो महान् पुरुष को घर पर आने का निमन्त्रण नही दिया जाता। इसी प्रकार अगर अपने आत्म–मंदिर मे परमात्मा देव को पधराना हो तो हमे आत्म–मंदिर मे से असत्ययोग की प्रवृति रूपी कचरे को बाहर निकाल देना चाहिए। ऐसा करना आवश्यक है।

कितने ही लोग कहा करते हैं कि हमारा मन सामायिक मे नही लगता। पर जब तक मन असत्य योग मे प्रवृत्त हो रहा है, तब तक वह सामायिक मे कैसे लगेगा? सामायिक मे मन एकाग्र करना हो तो मन को सत्ययोग मे प्रवत्त करना चाहिए। जब मन सत्ययोग मे लग जाएगा तो मन सामायिक मे स्थिर हुए विना नही रहेगा।

अगर तुम्हारे मन, वचन और काय का व्यापार सत्ययोग मे प्रवृत होगा तो तुम्हारे योग की अवश्य विशुद्धि होगी और जव योग की विशुद्धि होगी तब तुम्हे किसी प्रकार का सकट नही सहन करना पडेगा और न दूसरे के शरण मे ही जाना पडेगा। जो लोग योग को सत्य मे प्रवृत्त करते हैं, उनके सकट टल जाते हैं।



# तिरेपनवां बोल

## मनोगुप्ति

ठीक तरह परमात्मा को पहचान कर विशुद्ध भाव से वन्दन–नमस्कार करके उसे सदा सहायक बनाने मे अनेक विघ्न–बाधाए उपस्थित होती है। इन विघ्न–बाधाओ को दूर करने के लिए तथा उनसे बचने के लिए भी साधुत्व अगीकार किया जाता है। यद्यपि साधुजन विघ्न–बाधाओ को जीतने के लिए ही सासारिक वस्तुओ का त्याग करके सयम स्वीकार करते है, फिर भी मन, वचन और काय कभी–कभी साधुता की मर्यादा से बाहर निकल जाते हैं। उन्हे मर्यादा मे ही रखने के लिए भगवान् ने मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का विधान किया है। मन की गुप्ति अर्थात् मन को काबू मे रखने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते है–

### मूलपाठ

**प्रश्न– मणगुत्तयाए ण भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्गं जणयई एगग्ग चित्तेण जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ।। 53।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भते! मनोगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– मनोगुप्ति (मन के सयम) से जीवात्मा मे एकाग्रता उत्पन्न होती हे और एकाग्र–चित्त वाला जीवात्मा सयम का आराधक बनता है।

### व्याख्यान

यह प्रश्न पहले योगसत्य के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर करने मे आया है। योगसत्य तभी रखा जा सकता हे जब मन, वचन और काय की गुप्ति अर्थात्

रक्षा की जाती है। इसलिए योगसत्य के अनन्तर तीन गुप्तियो के विषय मे प्रश्न किया गया हे।

मानव शरीर मे मन की प्रधानता हे। अगर मन की गुप्ति, अर्थात् रक्षा की जाये तो वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति भी सरलतापूर्वक रखी जा सकती हे। मन, मानव–शरीर का प्रधान अग होने के कारण उसकी रक्षा करना आवश्यक है। मन वहुत चचल होता है, अतएव मन की चचलता को रोकने के लिए शास्त्रो मे तथा ग्रथो मे खूब ऊहापोह किया गया है। मन की चचलता के विषय मे गीता मे भी कहा गया है –

**चंचलं हि मन कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।**
**तस्याह निग्रह मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।।**

**गीता 6/34**

अर्थात् हे कृष्ण! मन वहुत चचल हे। वह प्रथमन स्वभाव वाला हे, दृढ है और बलवान् है। उसे वश मे करना मुझे तो वायु को वश मे करने के समान अत्यन्त दुष्कर जान पडता है।

इस प्रकार मन की चचलता दूर करने के सम्वन्ध मे अर्जुन को भी शका हुई थी। दूसरे भक्त भी कहते हैं– हे प्रभो! मेरा मन ऐसा हे कि जिन कामो के करने से हानि सहनी पडती है, उन्ही कामो मे बार–वार प्रवृत्त होता हे। ऐसा मन किस प्रकार वश मे किया जा सकता हे?

इस तरह मन को वश मे करना कठिन माना जाता है। परन्तु ज्ञानीजनो का कथन हे कि यह कार्य जितना कठिन समझा जाता हे, उतना कठिन नही हे। यह ठीक है कि मन चचल हे, मगर ऐसी बात नही हे कि वह वश मे हो ही न सके। यदि मन वश मे किया ही न जा सकता हो तो शास्त्रकार ऐसा करने का उपदेश ही क्यो देते? जो कार्य वास्तव मे अशक्य हे, उसे करने का उपदेश कोन देता हे? तिलो से तेल निकालने का उपदेश देना तो स्वाभाविक ओर उचित हे किन्तु वालू मे से तेल निकालने का उपदेश कोई नही देता। क्योकि ऐसा होना अशक्य है। मन वश मे तो किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता हे। इसीलिए यह उपदेश दिया जाता हे कि मन को वश मे करने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। जिन प्रयत्नो द्वारा मन वश मे किया जा सकता हे उन प्रयत्नो द्वारा उसे वश मे करके अनेक पुरुषो ने मुक्ति प्राप्त की हे करते हें ओर करेगे।

मन वचन आर काय को वश मे करने के लिए ही शास्त्रकारो ने तीन गुप्तियो का विधान किया हे। तीन गुप्तिया ओर पाच समितिया तो साधुता का प्राण ह। दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो ये आठो प्रवचनमाता हे।

गुप्ति का अर्थ रक्षा करना होता है। मन, वचन और काय को वश मे रखना, उनकी रक्षा करना गुप्ति है। मन, वचन और काय को वश मे रखने का अर्थ उन्हे नष्ट कर देना नही है। इसका अर्थ यह है कि जैसे घोडे को लगाम आदि द्वारा वश मे रखा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन काय को वश मे रखना गुप्ति है।

जैसे सीखा हुआ घोडा अपने सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुचा देने मे समर्थ होता है, उसी पकार मन, वचन तथा काय आत्म–सिद्धि प्राप्त करने मे अगर सहायक बन जाए तो कहना चाहिए कि उनकी गुप्ति हुई है। निर्दिष्ट स्थान पर पहुच कर सवार घोडे से उतर पडता है, उसी पकार आत्म–सिद्धि होने के बाद इन्द्रियो की सहायता लेने का भी त्याग कर दिया जाता है। अलबत्ता, जब तक आत्मा का उद्देश्य सिद्ध नही हुआ है, तब तक मन, वचन, काय से विवेकपूर्ण काम लेना पडता है। मन, वचन तथा काय से विवेकपूर्वक काम लेना ही गुप्ति है। मन, वचन, काय को नष्ट कर देना गुप्ति नही है। यह तो आत्महत्या है। अतएव मन, वचन तथा काय को निवृत्ति मे प्रवृत्त करना ही गुप्ति है। किसी भी वस्तु से निवृत होने के लिए प्रवृत्ति करना आवश्यक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति नही हो सकती और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नही हो सकती। अतएव मन, वचन और काय को निवृत्त करने के लिए सर्वप्रथम उन्हे आर्त्तध्यान से हटा कर धर्म–ध्यान मे प्रर्वत करना चाहिए। ऐसा न करके अगर इन्द्रियो को एकान्त निवृत्तिमय बनाया जाये तो परिणाम सुन्दर नही आ सकता। इस कारण इन्द्रियो को सर्वप्रथम आर्तध्यान से बाहर करके धर्म–ध्यान मे पवृत्त करना चाहिए।

प्रसग के अनुसार यहा आर्तध्यान पर विचार करना आवश्यक है। दु खपूर्ण ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। शास्त्र मे भी कहा है–

**अट्टज्झाण चउविहे चउपडियारे पण्णत्ते।**

–आर्तध्यान कैसा होता है और उसका स्वरूप क्या है? यह नीचे कविता मे स्पष्ट रूप से समझाया गया है–

**इष्ट वियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट सयोग दुखारी।**
**तन की व्याधि मन हि मन झूरे, अग्र सोच करि वछित पूरे।**
**ये आरत के चारो पाये, महा–मोह–रस से लिपटाये।**

किसी इष्ट वस्तु का वियोग होने पर व्याकुल होना पहला आर्तध्यान है। शास्त्र कहता है कि जिस वस्तु के वियोग से तू दु खी हो रहा है, वह वस्तु अगर वास्तव मे तेरी होती तो उसका वियोग ही क्यो होता? जो वस्तु नष्ट

हो गई है, वह वास्तव मे तेरी नही है। फिर भी उस वस्तु से तू दु ख मानता है, इसका प्रधान कारण तेरा मिथ्या मोह है।

अनिष्ट वस्तु के सयोग के कारण विकल होना दूसरा आर्त्तध्यान है। व्याधि उत्पन्न होने से दु खी होना तीसरा आर्तध्यान है और भविष्य सम्वन्धी चिन्ता करके दु खी होना चौथा आर्तध्यान है। इस चौथे आर्तध्यान का रूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं–

**इम च मे अत्थि इम च नत्थि,इम च मे किच्चमिमअकिच्च।**
**त एवमेवं लालप्पमाण,हरा हरति त्ति कह पमाओ।**

**–उत्त 14, 15**

यह मेरा है और यह मेरा नही है। यह मुझे करना है और यह नही करना है, इस प्रकार बडबडाते हुए प्राणी की रात और दिन रूपी चोर आयु को चुरा रहे है। ऐसी दशा मे प्रमाद क्यो करना चाहिए?

इस प्रकार भविष्य के विचार से जो दु ख उत्पन्न होता है, वह आर्तध्यान का चौथा भेद है।

किसी भी साधारण वस्तु के कारण किस प्रकार प्रपच खडा हो जाता है, इस विषय मे एक घटना सुनी है। एक आदमी नीलाम मे पलग खरीद लाया। वह पलग कारीगरी का अद्भुत नमूना था। अतएव उस पलग के कारण उस आदमी के घर साठ हजार का दूसरा सामान खरीदा गया। यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण जान पडती है, परन्तु घर मे एक चीज बसाने पर कितना प्रपच और कितना खर्च करना पडता है, इस घटना से यह बात समझी जा सकती है। तुम एक सुन्दर बटनो का सेट खरीदोगे तो बटनो के अनुकूल सुन्दर सिलाई वाले धुले कपडे पहनने की भी आवश्यकता प्रतीत होगी। जव तुम सुन्दर वस्त्रो से सुसज्जित होओगे तो बढिया छतरी और सुन्दर बूट आदि की भी आवश्यकता रहेगी। अब विचार करो कि एक सामान्य बटन के कारण कितना खर्च करना पडा? इसी प्रकार तुम लोग बारीक वस्त्र पहन कर सोचते हो कि हमे कपडा सस्ता मिला, परन्तु इस बारीक वस्त्र के पीछे कितना अधिक खर्च करना पडता हे ओर परिणामस्वरूप किस प्रकार आर्तध्यान मे पडना पडता हे इस बात का विचार करोगे तो तुम्हे पता चलेगा कि जीवन मे सयम ओर सादगी रखने से ही आर्तध्यान से बचाव हो सकता हे।

कहने का तात्पर्य यह हे कि मोह के कारण यह चार प्रकार का आर्तध्यान किया जाता हे। इस प्रकार के आर्तध्यान को धर्मध्यान या शुक्लध्यान के द्वारा ही जीता जा सकता हे। शुक्लध्यान आत्मविकास की उच्च श्रेणी हे।

अतएव अगर धर्मध्यान किया जाये तो आर्तध्यान से बचाव हो सकता है और फिर धीरे-धीरे शुक्लध्यान की स्थिति तक पहुचा जा सकता है।

धर्मध्यान किसे कहते हैं और धर्मध्यान से आर्तध्यान किस प्रकार दूर हो सकता है, इस विषय मे कहा है-

**केवलिभाषित वाणी माने, कर्मनाश का उद्यम ठाने।**
**पूरबकर्म उदय पहचाने, पुरुषाकार लोकथिति जाने।**
**धर्मध्यान के चारो पाये, जे समझे ते मारग आये।**

अगर इष्टवियोग के कारण आर्तध्यान हो तो केवलिभाषित वाणी पर विश्वास करके धर्मध्यान मे प्रवृत्ति करनी चाहिये और यदि अनिष्टसंयोग के कारण आर्तध्यान हो तो कर्मो को नष्ट करने का पयत्न करना चाहिये। शास्त्रकार का कथन है कि आर्तध्यान के प्रसग पर धर्मध्यान करने से कठिन बन्ध भी शिथिल पड जाता है। शरीर मे व्याधि हो तो पूर्वकर्मों का स्मरण करके सोचना चाहिए कि -मैंने ही यह व्याधि उत्पन्न की है, तो मुझे दु ख क्यों मानना चाहिए? जब किसी की वस्तु मैंने उधार ली है, तो मुझे वापिस सौंपनी ही चाहिए।

गाधीजी जब अफ्रीका मे थे तो उन्हे ईसाई बनाने के लिए एक बाई ने बहुत प्रयत्न किया था। जब उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए तब उसने गाधीजी से कहा- अपन पापी तो है ही और अपन से पाप होते ही रहते है, अगर हम इन पापो का फल भोगने बैठे तो कही अन्त ही नही आएगा। अतएव हमे ईसा की शरण मे जाना चाहिए। जो ईसा की शरण मे चले जाते हैं, उनके पाप का फल ईसा भोग लेते हैं और शरणागत लोग पाप के फल से बच जाते है। इस कथन के उत्तर मे गाधीजी ने कहा- "यह कैसा धर्म है। पाप से तो डरना नही और पाप के फल से डरकर ईसा की शरण मे जाना? यह सर्वथा अनुचित है। जब हमने पाप किया है तो उसका फल भी हमे ही भोगना चाहिये।"

इसी प्रकार जब रोग आवे तो सोचना चाहिए कि मेरे किये कर्म मुझे भोगने ही चाहिए। इसमे मुझे दु ख का अनुभव नही करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके वेदना के समय दु ख न मानने से, अर्थात् आर्तध्यान न करने से और उसके बदले धर्मध्यान करने से कर्मबन्ध भी ढीला पड जाता है।

इस श्लोक को पुरुषकार मानकर लोकस्थिति के विषय मे विचार करना चाहिए यह धर्मध्यान का चौथा प्रकार है। स्वर्ग और नरक इस शरीर मे है। शरीर मे नीचे नरक, मध्य मे मनुष्यलोक और ऊपर स्वर्ग है। नवग्रैवेयक

के विषय मे कहा जाता है कि अपनी गर्दन ही नवग्रैवेयक है। इस प्रकार अपने शरीर को चौदह राजूलोक का नक्शा मानकर लोकस्थिति के विषय मे विचार किया जाये तो मन धर्मध्यान मे प्रवृत्त होता है।

कहने का आशय यह है कि धर्मध्यान की सहायता से आर्तध्यान से बचाव हो सकता है और मन को एकाग्र किया जा सकता है। धर्मध्यान करना और आर्तध्यान से बचते रहना भी मनोगुप्ति का साधन हे। मनोगुप्ति के विषय मे कहा भी है—

**विमुक्तकल्पनाजालं समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।**
**आत्माराम मनस्तज्ज्ञैर्मनोगुप्ति सदाहृता।।**

अर्थात् कल्पना के जाल से बाहर निकलकर समभाव मे स्थिर होना, आर्तध्यान और रौद्रध्यान मे से निकलकर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मे प्रवृत्त होना और मन को आत्म—विचार में ही तन्मय कर देना मनोगुप्ति है। मन जव आत्मा मे ही रमण करता है, अन्यत्र नही जाता, तभी पूर्ण मनोगुप्ति होती है।

साधारणतया तो समिति और गुप्ति का मार्ग साधुओ के लिए है, परन्तु इस मार्ग को समझकर तुम लोग भी अगर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारे आत्मा का भी बहुत लाभ होगा। आर्तध्यान और रोद्रध्यान से निवृत्त होना ही गुप्ति है। इस प्रकार की गुप्ति का पालन गृहस्थ भी कर सकता हे। मनोगुप्ति का पालन करने से दु ख भी सुख मे परिणत हो सकता है।



# चौवनवां बोल

## वचनगुप्ति

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यहा सामान्य रूप से गुप्ति के विषय मे विचार किया गया है। मानव–शरीर मे मन की प्रधानता होने से सर्वप्रथम मन की गुप्ति करना आवश्यक है। जब तक मनोगुप्ति नही की जाती, तब तक वचनगुप्ति और कायगुप्ति नही हो सकती।

वचन की गुप्ति से अर्थात् वाणी पर काबू रखने से जीव को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा–

### मूलपाठ

**प्रश्न– वयगुत्तयाए णं भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– वयगुत्तयाए णं निव्वियारत्त जणयइ, निव्वियारेण जीवे वइगुते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ।।54।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! वचनगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– हे गौतम! वचनगुप्ति (वाणी के सयम) से जीवात्मा विकाररहित होता है और निर्विकार जीव आध्यात्मिक योग के साधनो से युक्त होकर विचरता है।

### व्याख्यान

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर मन पर नियत्रण कर लिया जाये तो फिर वाणी के नियत्रण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर तो कोई योगी महात्मा ही दे सकते हैं फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देने का प्रयत्न करता हू।

तालाब मे जैसे पानी की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार पानी की रक्षा करने के लिए पाल बाधने की भी आवश्यकता होती है। पानी के अभाव मे पाल बाधने की आवश्यकता नही है और पाल बाधे बिना पानी टिक नही सकता। तालाब मे पाल बधी हो तो ही पानी टिक सकता है और पानी को टिकाए रखने के लिए पाल बाधना आवश्यक होता है। इसी प्रकार मनोगुप्ति के साथ वचनगुप्ति का होना भी आवश्यक है।

वचनगुप्ति का साधारण अर्थ वाणी पर काबू रखना है। वचन पर एकदम काबू पा लेना कठिन है। अतएव सर्वप्रथम अप्रशस्त वचन बोलना कम करके प्रशस्त वचन बोलने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से वचनगुप्ति का सम्पूर्ण रूप से पालन हो सकेगा। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे वचनगुप्ति के चार भेद बताए गए हैं। उसमे कहा है–

**सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।**
**चउत्थी असच्चमोसा य वयगुत्ती चउव्विहा।।**

उत्त 24 / 22

वचनगुप्ति चार प्रकार की है–(1) सत्यवचनगुप्ति, (2) असत्यवचनगुप्ति, (3) सत्य असत्य वचन गुप्ति और (4) व्यवहारवचनगुप्ति। जो व्यक्ति इन चार प्रकार की वचनगुप्ति रखता है, उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वचनगुप्ति रखने के कारण वह व्यक्ति निर्विकार दशा प्राप्त करता है।

आत्मा का निज स्वरूप मे रमण करना निर्विकारीपन है और पर–वस्तु मे रमण करना विकारीपन है। पर–वस्तु चाहे जैसी हो, उसमे रमण करना आत्मा का विकार ही है। पानी मे चाहे शक्कर डाली जाये, चाहे नमक डाला जाये, पर–वस्तु के सयोग से कारण पानी विकृत ही माना जाता है। पानी की प्रकृति तो तभी कहलाएगी, जब वह अपने स्वरूप मे स्थित होगा। इसी प्रकार आत्मा मे निर्विकारपन तभी आ सकता है, जब आत्मा वचनगुप्ति का पूरा–पूरा पालन करे। बोलने के कारण आत्मा को अपने प्रकृत स्वभाव से च्युत होना ही पडता है। लेकिन जब आत्मा मोन अवस्था मे रह ही न सकता हो, तो ऐसी स्थिति मे असत्यवचन न बोलकर सत्यवचन बोलना ही आत्मा के लिए श्रेयकर है। अर्थात् अशुभ वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना ही लाभदायक है। यद्यपि सत्यवचन बोलना शुभ हे परन्तु आत्मा की निजदशा की दृष्टि से तो सत्यवचन भी उसी प्रकार विकृतिजनक हैं, जैसे शक्कर पानी मे विकृतिजनक

है, फिर भी जैसे पानी मे नमक मिलाने की अपेक्षा शक्कर मिलाना शुभ माना जाता है, उसी प्रकार जब तक वचनगुप्ति का पूर्ण रूप से पालन न किया जा सके, तब तक असत्य, मिश्र और अशुभ मे प्रवृत्त न करते हुये शुभ मे, अर्थात् सत्य मे ही पवृत्त करना चाहिए। इस प्रकार सत्यवचन का व्यवहार करने से भी आत्मा मे निर्विकार दशा उत्पन्न हो सकती है। विकार–रहित पानी किस प्रकार गुणकारी होता है, यह बात डाक्टर लोग भलीभाति जानते है। इसी पकार आत्मा जब निर्विकार होता है, तो उसमे क्या विशेषता आ जाती है, यह बतलाने के लिए भगवान् ने कहा है कि जब आत्मा निर्विकारी बनता है तभी वह निज–स्वरूप मे रमण करता है।

भगवान् के इस कथन से एक सूचना यह भी मिलती है कि वचनगुप्ति का पालन करके आत्मा को निज–स्वरूप मे रमण करना चाहिए। जब तक आत्मस्वरूपरमणता प्रकट नही होती है तब तक वचनगुप्ति का पालन सार्थक नही होता। साधारण रूप से तो बगुला मछलियो को पकडने के लिए चुपचाप रहता है, परन्तु उसकी वचनगुप्ति के पीछे स्वार्थवृत्ति अथवा पर–वस्तु को अपनाने की वृत्ति होने से वह वचनगुप्ति निरर्थक हो जाती है। अतएव वचनगुप्ति अगर आत्मस्वरूप रमण मे सहायक न हो तो वह सार्थक नही हो सकती। वचनगुप्ति के बिना निर्विकारीपन नही आ सकता और निर्विकारीपन प्रकट हुए बिना स्वरूप नही साधा जा सकता। अतएव वचनगुप्ति आवश्यक है। परन्तु वचनगुप्ति निज–स्वरूप साधने के लिए ही होनी चाहिए, स्वार्थपूर्ति के लिए नही।

वचनगुप्ति का जितना अधिक पालन हो सके उतना ही श्रेयस्कर है। आज घर–घर मे जो क्लेश–कलह होता देखा जाता है, उसका प्रधान कारण वचन पर अकुश न होना है। वचन पर अकुश रखा जाये तो बहुत सा कलह शात हो सकता है। क्षत्रियत्व न रहने के कारण लोग तलवार चलाना तो भूल गये है, उसके बदले वचन–बाण चलाना सीख गये है। मगर वचन–बाण तलवार से भी ज्यादा तीखे होते है, अतएव अधिक अघात पहुचाते हैं। कोणिक की रानी पद्मा ने कठोर वचनो द्वारा कोणिक को इतना उत्तेजित कर दिया था कि महायुद्ध मच गया। इस महायुद्ध मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य स्वाहा हो गए। लोग तलवार को तो सभाल रखते है, परन्तु जीभ को वश मे नही रखते है, इसी कारण क्लेश–कलह होता है। जीभ कैसी है और किस लिए तथा किस प्रकार उसकी सभाल रखनी चाहिए? इस सम्बन्ध मे एक लोककवि ने कहा है–

**जीभ जोग अरु भोग, जीभ ही रोग बढावे,**
**जिभ्या से यश होय, जीभ से आदर पावे।**
**जीभ नरक ले जाय, जीभ वैकुण्ठ पठावे,**
**जीभ करे फजीत, जीभ से जूता खावे।**
**अदल तराजू जीभ है, गुण–अवगुण दोउ तोलिये,**
**"वैताल" कहे विक्रम सुनो, जीभ सम्हाल कर बोलिये।।**

इस प्रकार जीभ की नोक पर गुण और अवगुण, दोनो बसे हैं। अगर हम गुण ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमे जिह्वा से सत्य, प्रिय और पथ्य बोलना चाहिए। हमे एक भी ऐसा कटुक वचन नही बोलना, जिससे दूसरे को दु ख हो और भविष्य मे अपने को पश्चात्ताप करना पडे। अगर जीभ का सदुपयोग करना न आता हो तो मौन साध लेना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है– 'मौन सर्वार्थसाधकम्', अर्थात् मौन सभी अर्थों को सिद्ध करने वाला है। परन्तु जब बोलना ही हो तो आगे–पीछे का विचार करके सत्य, प्रिय ओर पथ्य ही बोलना चाहिए। योगशास्त्र मे कहा है कि जो सत्यवचन बोलता है। उसके वचन मे सिद्धि बसती है', अर्थात् सत्यभाषी को प्रत्येक कार्य मे सिद्धि मिलती है। श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा है कि सत्य के प्रभाव से आग भी शीतल हो जाती है और तलवार भी फूल की माला बन जाती है। इस प्रकार सत्य–वचन मे सिद्धि का निवास है। जिस जीभ द्वारा सिद्धि देने वाले सत्यवचन बोले जा सकते हैं, उस जीभ को खराब कामो मे प्रवृत्त करना सर्वथा अनुचित है। जो व्यक्ति सत्य वचन बोलता है, वह कभी वचनगुप्ति का पूर्णत पालन करते हुए निर्विकार बन सकता है और अध्यात्मयोग साध सकता है। अगर कोई व्यक्ति मुख से अविवेकपूर्ण वचन निकालता रहे और अध्यात्मयोग साधने की बात करे, तो वह बकवादी व्यक्ति अध्यात्मयोग की साधना किस प्रकार कर सकता है? अध्यात्मयोग साधने के लिये वचन पर काबू रखने का प्रयत्न करो। ऐसे अनेक प्रसग आ जाते हैं, जब गृहस्थ लोग वचन पर काबू नही रख सकते परन्तु उस पर काबू रखने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

कल्पना करो, तुम्हे एक ऐसा मन्त्र बता दिया जाये कि जिससे तुम्हारे सभी काम सिद्ध होते हो, तो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए कोन उत्सुक नही होगा? ऐसे लोग बहुत ही कम निकलेगे जो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए तेयार न हो जाए। तो अव तुम्हे बतलाया जाता है कि तुम वचन पर काबू रखो और वचन को अशुभ से निकालकर सत्यरूप शुभ मे स्थिर करो तो तुम्हे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी, किन्तु यह करना तुम्हे कठिन मालूम होता हे।

वास्तव मे वचनसिद्धि प्राप्त करने के लिए वचनगुप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। वचनगुप्ति का पालन करने से वचनसिद्धि अवश्य पाप्त होगी। अगर तुम वचन–सत्यता को स्थिर करोगे तो समस्त सिद्धिया तम्हे खोजती आएगी। वचनगुप्ति का पालन साधु और श्रावक, दोनो के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है। दूसरा कोई वचनगुप्ति का पालन करे या न करे, तुम अपना कर्त्तव्य समझकर वचनगुप्ति का पालन करो। इसी मे तुम्हारा कल्याण है। अपने कर्त्तव्य मे दृढ रहने वाला व्यक्ति आत्मकल्याण अवश्य करता है। सकट के समय भी कर्तव्य का पालन करना ही कल्याण का मार्ग है।



# पचपनवां बोल

## कायगुप्ति

शास्त्र का कथन है कि पाच समिति और तीन गुप्ति मे समस्त द्वादशाग वाणी का समावेश हो जाता है। इसी कारण उन्हे प्रवचनमाता भी कहते हैं। प्रवचनमाता का पूर्णरूप से गुणानुवाद करना सरल काम नही है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी माता का गुणानुवाद तथा भक्तिप्रदर्शन अपनी शक्ति के अनुसार करता ही है। इसी प्रकार मै प्रवचनमाता का गुणानुवाद करने के लिए उद्यत हुआ हू।

गौतम स्वामी ने मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करने से जीव को क्या लाभ होता है? यह प्रश्न किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने मनगुप्ति और वचनगुप्ति से होने वाले लाभ के सम्बन्ध मे जो-कुछ कहा है, उसका विवेचन पहले किया गया है। अब यह विचार करना है कि कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

**प्रश्न– कायगुत्तयाए ण भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– कायगुत्तयाए णं सवर जणयइ, सवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासव णिरोह करेइ ।। 55 ।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– कायगुप्ति (कायिक सयम) से सवर (पापो का निरोध) होता हे। और फिर सवर द्वारा जीवात्मा पाप के प्रवाह का निरोध कर सकता है।

### व्याख्यान

कायगुप्ति के पालन से होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि मन और वचन के साथ काया भी रहती हे तो

फिर काय के विषय मे अलग प्रश्न क्यो किया गया है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे काया मन के साथ रहती है, उसी प्रकार मन से पृथक् भी है। किसी भी सम्पूर्ण शरीर का वर्णन किया जाये तो उस शरीर के सब अग उसमे आ जाते हैं, परन्तु जब शरीर के प्रत्येक अग का भिन्न–भिन्न वर्णन किया जाता है, तो पत्येक को अलग मानकर ही वर्णन करना पडता है।

गौतम स्वामी के पश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– गौतम! कायगुप्ति से जीव को सवर की प्राप्ति होती है। और सवर के कारण जीवात्मा आने वाले पापकर्मो का निरोध करने मे समर्थ होता है।

साधारणतया कायगुप्ति का अर्थ है– काय की रक्षा करना अर्थात् काय को निश्चल कर लेना या काय का ममत्व तज देना। परन्तु काय को अप्रशस्त क्रियाओ मे से हटाकर प्रशस्त मे प्रवृत्त करना भी कायगुप्ति ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त की व्याख्या मन कल्पित नही होनी चाहिए, वरन् शास्त्र मे इनकी जो व्याख्या की गई है, वही स्वीकार करनी चाहिए। हरेक आदमी अपनी मनमानी व्याख्या करने लगेगा तो ऐसी दशा मे प्रशस्त और अप्रशस्त के अनेक रूप हो जाएगे। अतएव प्रशस्त और अप्रशस्त की शास्त्रसम्मत व्याख्या ही स्वीकार करनी चाहिए।

शास्त्र कहते हैं– कायगुप्ति दो प्रकार की होती है। एक सामान्य और दूसरी विशेष। अप्रशस्त मे से निकालकर प्रशस्त मे काय को स्थिर करना सामान्य कायगुप्ति है और कायगुप्ति के विशेष नियमो का पालन करना विशेष कायगुप्ति। कायगुप्ति का पालन करने वाले को शयन, आसन और वस्तु–स्थापन आदि क्रियाए शास्त्रसम्मत रीति से ही करनी चाहिए। साधु के शयन के विषय मे शास्त्र मे कहा है कि साधु को बिना कारण निद्रा नही लेना चाहिए। निद्राशील साधु कायगुप्ति का पालन नही कर सकता। अगर निद्रा लिए बिना काम चल ही न सकता हो तो गीतार्थ साधु को एक पहर और अगीतार्थ साधु को दो पहर से अधिक नीद नही लेनी चाहिए। निद्रा लेने के इस विधान मे भी अपवाद है। इस अपवाद का सेवन न किया जाये तो अच्छा ही है परन्तु अपवाद सेवन के बिना काम न चल सकता हो तो शास्त्रविधि के अनुसार ही निद्रा ली जा सकती है।

वस्तु को धरने–उठाने तथा मल–मूत्र का त्याग करने आदि मे भी शास्त्रविहित नियमो का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार कायगुप्ति पालने वाले साधु को बैठने आदि मे भी कुचेष्टा नही करनी चाहिए, किन्तु शात तथा गम्भीर होकर बैठना चाहिए। साधु के बैठने तथा गमनागमन के तरीके से साधु

की परीक्षा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि को शात तथा गम्भीर भाव से वेठा देखकर ही समझ लिया था कि वे मुनि हैं। कहने का भावार्थ इतना ही हे कि साधु का उठना–वेठना वगेरह शास्त्रानुकूल ही होना चाहिए।

साधुओ के लिए शास्त्र मे विशेषत कायोत्सर्ग करने का विधान किया गया है। कायोत्सर्ग तो तुम श्रावक भी 'झाणेण मोणेण अप्पाण वोसिरामि' आदि पाठ वोलकर करते हो, पर केवल पाठ वोल देने से कायोत्सर्ग नही होता। कायोत्सर्ग करना सरल नही हे। कायोत्सर्ग अर्थात् काया का त्याग करना– काया पर तनिक भी ममता न रखना। चाहे जेसा उपसर्ग आवे, काया को डिगने न देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है। उदाहरण के लिए, किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी सोमल व्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकती हुई आग रख दी थी। फिर भी गजसुकुमार मुनि तनिक भी विचलित न होते हुए कायोत्सर्ग मे ही स्थिर रहे। आज जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमे तो मच्छर के काटने पर भी स्थिर नही रहा जाता। कायोत्सर्ग करना कठिन अवश्य है, परन्तु अभ्यास करने पर वह सरल भी है। आजकल के लोग कायोत्सर्ग करने मे कितने सहनशील वने रहते हैं, इसके लिए एक सुनी हुई घटना कह सुनाता हू।

एक गरीब श्रावक था। उसने सोचा कि मेरी नीयत साफ है, फिर भी मुझे कोई उधार नही देता। ऐसी दशा मे काम चलाने के लिए कोई उपाय करना चाहिये। पडोस मे रहने वाला सेठ धार्मिक हे। जव वह सामायिक मे वेठे तो गले मे पहना हुआ उनका कण्ठा क्यो न उतार लिया जाये? ऐसा विचारकर वह श्रावक सामायिक मे बैठे हुए सेठजी के पास गया। बोला, सेठजी! आपने सामायिक ली हे। ससार की समस्त वस्तुओ से सामायिक श्रेष्ठ हे। अतएव आप अपनी सामायिक मे स्थिर रहे, विचलित न हो। इतना कहकर श्रावक ने सेठ के गले मे से कण्ठा निकाल लिया। सेठ सामायिक मे स्थिर ही वैठे रहे। वह न कुछ भी वोले ओर न उन्होने अपना चित्त ही चचल होने दिया।

सामायिक पालकर सेठ घर पहुचा। मुनीम आदि ने पूछा, आज आपके गले मे कण्ठा क्यो नजर नही आता? सेठ ने सोचा सच कह दूगा तो लोग गरीव श्रावक को हेरान करेगे ओर उसने कह दिया– पडा होगा कही। तुम कण्ठे की इतनी ज्यादा चिन्ता क्यो करते हो? इस विपय मे किसी को कुछ

भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही। जब यह शरीर ही मेरा नही, तो कण्ठा मेरा कैसे हो सकता है?

कण्ठा ले जाने वाले श्रावक की नीयत साफ थी, उनका काम निकल गया तो वह श्रावक कण्ठा वापस ले आया। सेठ ने कहा– कण्ठा मेरा नही है। जब यह शरीर ही मेरा नही तो कण्ठा मेरा कैसे हो सकता है? उस श्रावक ने कहा– कण्ठा तुम्हारा नही तो मेरा भी नही है। मै इसे अपने पास कैसे रख सकता हू? इतना कहकर श्रावक ने सेठ के सामने कण्ठा रख दिया और वह चलता बना।

कहने का भावार्थ यह है कि उपसर्ग का आघात लगने पर भी अगर काया विचिलत न हो तो ही सच्चा कायोत्सर्ग कहा जा सकता है। तुम्हे भी कायोत्सर्ग मे दृढ रहना चाहिए और मानना चाहिए कि हमारे प्रभु ने जब सदैव के लिए कयोत्सर्ग कर लिया है तो मैं थोडी देर के लिए भी कायोत्सर्ग मे स्थिर क्यो न रहू!

इस प्रकार कायोत्सर्ग करना भी कायगुप्ति है। कायोत्सर्ग मे काया की ममता– आसक्ति तज देनी चाहिए। काया पर से थोडा–थोडा ममत्व भी उतारने का अभ्यास किया जाएगा तो भी कल्याण होगा। जब एक बार किया हुआ नमस्कार भी कल्याणकारी होता है तो हमेशा किया जाने वाला ऐसा कायोत्सर्ग लाभकारी क्यो नही होगा? मगर कायोत्सर्ग लाभकारी तभी हो सकता है जब काया की ममता छोडकर कायोत्सर्ग किया जाये। जो व्यक्ति लक्ष्य चूक कर तीर चलाता है, उसका तीर वृथा जाता है। लक्ष्य साधकर चलाया गया तीर ही इष्ट कार्य–साधक होता है। अतएव कायोत्सर्ग करने का लक्ष्य सामने रखकर कायोत्सर्ग किया जायेगा तो अवश्य कल्याण होगा।



# छप्पनवां बोल

## मन-समाधि

पिछले बोलो मे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के विषय मे कहा जा चुका है। अब गुप्ति की रक्षा करने के लिए मन को सत्यमार्ग (समाधि) मे स्थापित करने की आवश्यकता है। अतएव मन को समाधि मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं–

### मूलपाठ

**प्रश्न– मण समाहारणयाए णं भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– मण समाहारणयाए ण एगग्ग जणयइ, एगग्ग जणइत्ता, णाणपज्जवे जणयइ, णाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्त च णिज्जरेइ।।56।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भते! मन को समाधि मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– मन को समाधि मे स्थापित करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है। एकाग्रता उत्पन्न करके जीव ज्ञान की पर्याए उत्पन्न करता हे। ज्ञान की पर्याए उत्पन्न करके सम्यक्त्व की विशुद्धि करता हे ओर मिथ्यात्व का नाश करता है।

### व्याख्यान

मन का निरोध करने की बात करना जितना सरल हे, निरोध करना उतना ही कठिन है। जहा तक मन का निरोध नही किया जाता, अर्थात् मन को समाधिस्थ नही किया जाता, तब तक मन एकाग्र नही हो सकता। जव

मन मे एकाग्रता आ जाये, तभी समझना चाहिए कि मन समाधिस्थ हो गया है, अर्थात् मन का निरोध हो गया है। मन को बहिर्मुख न होने देना– अन्तर्मुख बनाना और आत्मसमाधि मे सलग्न करना ही मन का समाधारण है। जब मन मे ऐसी समाधि होती है, तब मन एकाग्र बनता है और अज्ञान–शक्ति नष्ट होकर ज्ञान की पर्याए, शक्तिया उत्पन्न होती हैं। ज्ञान शक्ति उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का नाश होता है।

सक्षेप मे मन की समाधि से एकाग्रता उत्पन्न होती है, एकाग्रता से ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मन की समाधि का जो फल बतलाया है। उसे दृष्टि मे रखकर मन का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए और इस बात की सभाल रखनी चाहिए कि मन किसी खराब काम मे प्रवृत्त न हो।

माता–पिता अपनी सतान को गहने पहनाते है तो इस बात की सावधानी भी रखते हैं कि कोई गहने न ले जाए अथवा गहनो के लोभ से कोई सतान को खराब रास्ते पर न ले जाए या कोई उसे मार न डाले। इसी भाति यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि मन खराब सगति मे न पड जाये। मन जब खराब कामो मे प्रवृत्त होने लगे, तब उसे वहा से रोककर सत्कर्मों मे प्रवृत्त करना ही मन के निरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार निरोध करने से मन एकाग्र होगा और जब मन एकाग्र होगा तभी जीवन मे ज्ञानशक्ति प्रकट होगी, ज्ञान बाहर से नही आता। वह तो आत्मा मे ही मौजूद है, मगर मन एकाग्र न होने से ज्ञान पर आवरण आ जाता है। अगर मन को एकाग्र किया जाए तो ज्ञान का आवरण हट जाए और ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाए। जब ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाती है तब मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है।

वस्तु को विपरीत रूप मे जानना, समझना या मानना मिथ्यात्व है। जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। अज्ञान के कारण ही भ्रम होता है, और भ्रम का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। ज्ञान मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है और मन की एकाग्रता मन की समाधि से उत्पन्न होती है। अतएव मन को खराब कामो मे जाने से रोकने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। मन की समाधि मोक्षप्राप्ति का कारण है। मनोयोग मोक्ष प्राप्ति के लिए सहजयोग है और सहजयोग से आत्मा का कल्याण होता

है। रथनेमि मे पहले कितना अज्ञान था। अपने भाई अर्थात् भगवान् नेमिनाथ द्वारा त्यागी हुई राजीमती को अपनी पत्नी बनाने के लिए वह तैयार हो गया था। परन्तु राजीमती ने सदुपदेश द्वारा उसका अज्ञान दूर किया, तब वह सयम मे प्रवृत्त हो गया, क्योकि उसने ज्ञान द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ लिया था। इस प्रकार जब वस्तु का स्वरूप समझ मे आ जाता हे तो किसी प्रकार का भ्रम नही रहने पाता। भ्रम तो अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। वस्तु के प्रति जो मोहबुद्धि पाई जाती है, वह भी अज्ञान के कारण ही होती है। ज्ञान उत्पन्न होते ही मोहबुद्धि भी नष्ट हो जाती है। मोहबुद्धि का जव नाश हो जाता है, तब जड–चेतन का विवेक– भेद विज्ञान उत्पन्न होता है। विवेक उत्पन्न हो जाने पर प्रतीत होने लगता है कि पुद्गल जड है, चल हैं और जगत् की जूठन है और चेतन अनन्त शक्तियो से सम्पन्न ज्योतिर्मय है। इस प्रकार विवेक–ज्ञान से सासारिक पदार्थो का वास्तविक स्वरूप समझ मे आ जाता है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि हुये बिना समझ मे नही आ सकता। अतएव आत्मकल्याण के लिए मन को समाधिस्थ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। मन को सत्यमार्ग पर स्थापित किये बिना एकाग्रता नही आती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न नही होती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न न होने के कारण मिथ्यात्व का नाश नही होता तथा सम्यक्त्व की विशुद्धि नही होती। परिणामस्वरूप आत्मा का कल्याण भी नही हो सकता। सक्षेप मे, आत्मकल्याण के लिए मन का निरोध करना आवश्यक हे। मन का निरोध करना कठिन अवश्य है, परन्तु भगवान् कहते है कि अभ्यास करने से मन का निरोध भी किया जा सकता हे। आत्मा का कल्याण मन को समाधिस्थ करने से ही हो सकता हे। अतएव मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करने मे ही कल्याण है।

हम सबका ध्येय आत्मा को सुखी बनाना ही हे। मगर प्रश्न यह हे कि इस ध्येय की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है? शास्त्र मे आत्मा को सुखी वनाने के जो उपाय बतलाए गये है, उन्हे अपनाओ, आत्मकल्याण करो। आत्मकल्याण ही आत्मसुख की चाबी है। ऐकान्तिक ओर आत्यन्तिक सुख प्राप्त करने से ही आत्मा सुखी हो सकता हे। अतएव तुम अगर अपने मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करके अर्थात् समाधिस्थ करके आत्मकल्याण की साधना का प्रयत्न करोगे तो निस्सन्देह निरावाध आत्मसुख प्राप्त कर सकोगे।



# सत्तावनवां बोल

## वचन समाधि

मन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से होने वाले लाभ का वर्णन किया जा चुका है। अब गौतम स्वामी प्रश्न करते है कि वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

प्रश्न– वयसमाहारणयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर– वयसमाहारणयाए ण वय समाहारणदंसण पज्जवे विसोहेइ, वयसमाहारणदसण पज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्त णिव्वत्तेइ दुल्लह बोहियत्त णिज्जरेइ।।57।।

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! वचन के समाधारण से अर्थात् वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– वचन को सत्यमार्ग मे स्थापित करने से जीवात्मा दर्शनपर्याय–सम्यक्त्वपर्याय निर्मल बनाता है और सम्यक्त्व की विशुद्धि करने से सुलभबोधिता प्राप्त करता है तथा दुर्लभबोधिता से निवृत्त होता है।

### व्याख्यान

वचन को खराब कामो से निवृत्त करके, अच्छे कामो मे प्रवृत्त करना ही वचननिरोध का प्रारम्भ है। इस प्रकार वचन का निरोध करने से आत्मा मे अद्भुत शक्ति आती है। वचन का दुरुपयोग न करते हुए, परमात्मा के गुणगान् मे उपयोग करने से स्वाध्याय होता है और स्वाध्याय से आत्मा की शक्ति बढती है।

कहा जा सकता है कि स्वाध्याय तो पाच प्रकार का बतलाया गया है। उसमे परमात्मा के गुणगान् को स्वाध्याय नही गिना। ऐसी स्थिति मे परमात्मा का गुणगान स्वाध्याय कैसे कहा जा सकता है?

इसका उत्तर यह है कि स्वाध्याय दो प्रकार से होता है– भाव से और अर्थ से। परमात्मा का गुणगान करने वाला भाव से तो स्वाध्याय ही करता है। परमात्मा का गुणगान करने मे वचन का सदुपयोग करना अथवा शास्त्र मे णमोकार मन्त्र की बडी महिमा बतलाई है, अत णमोकार मन्त्र का जाप करने मे वचन का सदुपयोग करना भाव–स्वाध्याय ही है। णमोकार मन्त्र मे मन लगाकर वचन द्वारा उसका जाप करना स्वाध्याय ही है। इस प्रकार स्वाध्याय करने से आत्मा का बहुत लाभ होता है।

जिस प्रकार वचन का सदुपयोग करने से आत्मा को एकान्त लाभ होता है, उसका दुरुपयोग करके आत्मा का अहित करना कहा तक उचित है, शास्त्र मे तो वचन का महत्त्व बतलाया ही है, उपनिषद् मे भी वचन का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि वाणी की शक्ति को नष्ट न किया जाये तो आत्मा को बहुत ही लाभ हो सकता है।

इसी अध्ययन के चौदहवे बोल मे गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि स्तव–स्तुति, मगल से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है– स्तव–स्तुति, मगल से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ करता है।

इस प्रकार वचन का समाधारण करने से, अर्थात् वचन का खराब कामो मे दुरुपयोग न करके अच्छे कामो मे सदुपयोग करने से सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है। सम्यक्त्व ओर दर्शन– दोनो पर्यायवाची शब्द है। काया से अच्छे काम न हो सके तो भी अगर वचन को अच्छे कामो मे प्रयुक्त किया जाये तो भी लाभ हो सकता हे।

वचन द्वारा मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होती हे। वाणी के आधार पर मनुष्य के हृदय के भावो का अनुमान किया जा सकता हे। जब साधारण मनुष्य भी वाणी से, मन के भाव जान लेता हे तो क्या परमात्मा वाणी से हृदय के भाव नही जानता होगा? परमात्मा सर्वत्र होने के कारण सभी भाव हस्तामलकवत् जानता हे। अतएव अपने मन ओर वचन को खराब कामो मे प्रवृत्त न करके परमात्मा के गुणगान मे ही प्रवृत्त करो। इसमे तुम्हारी दृष्टि की भी शुद्धि होगी ओर आचरण की भी। परमात्मा के गुणगान मे ही मन ओर

वचन का उपयोग करने से आत्मा का हित किस पकार होता है? इस सम्बन्ध मे एक सुना हुआ दृष्टान्त देकर समझाता हू –

सुनते है, श्रीपति नामक एक कवि ने निश्चय किया था कि मै परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे का गुणगान नही करूगा। वह कवि बादशाह अकबर के दरबार मे रहता था। कुछ लोगो को श्रीपति कवि की इस पतिज्ञा का पता चला। कवि अपनी प्रतिज्ञा मे कितना दृढ है, इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होने बादशाह से कवि की प्रतिज्ञा की बात कही। बादशाह ने कहा– अवसर देखकर कवि की प्रतिज्ञा की परीक्षा करके देखूगा।

एक दिन कवि राजदरबार मे बैठा था। बादशाह ने कवि से कहा– 'कविराज! आज एक समस्या की पूर्ति कीजिए।' श्रीपति कवि बोले– समस्या की पूर्ति करना मेरा काम है, आप समस्या दीजिये। बादशाह ने कहा–

**करो मिल आश अकब्बर की।**

इस समस्या की पूर्ति कीजिये। समस्या सुनकर कवि समझ गया कि आज मेरी प्रतिज्ञा की परीक्षा हो रही है। पर हर्ज क्या है? अगर मै सच्चा कवि हू तो समस्या की पूर्ति भी करूगा और अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी करूगा। इस प्रकार विचार कर कवि ने इस प्रकार समस्यापूर्ति की–

**हरि को यश छाडि औरन को भजे, जिह्वा जो फटो उस लम्बर की।**
**अब की दुनिया गुनिया को रटे, सिर बांधत पोट अटंबर की।**
**श्रीपति एक गोपाल भजे, नहि मानत शक कोउ जब्बर की।**
**जिसको हरि की परतीति नही, करो मिल आश अकब्बर की।,**

अर्थात् श्रीपति कहते हैं कि जो व्यक्ति परमात्मा का भजन करने मे अपनी जीभ का सदुपयोग न करके लोभ–लालच से अथवा किसी अन्य कारण से दूसरे के गुणगान करने मे जीभ का दुरूपयोग करता है, वह दूसरे की झूठी प्रशसा करके वास्तव मे अपने मस्तक पर पाप का बोझा लादता है। ऐसे पापी की जिह्वा फटो। श्रीपति कवि कहते हैं– मै तो सिर्फ गोपाल का ही भजन कर सकता हू और उन्ही का गुणगान् कर सकता हू। जिन्हे परमात्मा पर विश्वास न हो, वे लोग भले ही अकबर की आशा करे, मगर मैं तो गोपाल के सिवाय और किसी से कोई आशा नही करता।

श्रीपति का कवित्त सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ। लोग समझ गये कि श्रीपति अपनी प्रतिज्ञा के पक्के है। बादशाह ने स्वीकार किया कि परमात्मा के सिवाय और कोई बडा नही है।

यह घटना वास्तव मे घटी है या नही, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नही है। हमे तो इस घटना के वर्णन से इतना ही सार ग्रहण करना है कि जीभ का उपयोग अगर परमात्मा का भजन करने मे किया जा सकता है, तो फिर दूसरे सासारिक कार्यो मे उसका दुरुपयोग करने की क्या आवश्यकता है? परमात्मा को छोडकर अन्य कामो मे जीभ का उपयोग करना तो, कवि के कथनानुसार एक प्रकार की धृष्टता है। परमात्मा त्रिभुवननाथ हैं, अत उनका ही गुणगान करना उचित है। परमात्मा तीन भवन के नाथ हैं, अर्थात् तीनो लोको मे रहने वाले समस्त जीवो के स्वामी है। अतएव जगत् मे रहने वाले किसी भी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व की आसातना न करना परमात्मा की प्रार्थना है। जिसमे जो गुण न हो, उस गुण का उसमे आरोप करना भी उसकी आसातना है। जिसमे जो गुण है, उसके यथार्थ गुण का वर्णन करना और अगर अपने मे ऐसा करने की शक्ति न हो तो यह कहना कि 'जिन–भगवान् ने जो कुछ कहा है वह निशक है, सत्य है।' इस प्रकार कहकर आत्मा को परमात्मा के गुणगान मे नियोजित करो। ऐसा करने से समझलो कि तुम्हारा कल्याण तुम्हारे ही हाथ मे है।

भगवान् ने वचननिरोध से अनेक लाभ बतलाये है। जिस व्यक्ति को भगवान् पर भरोसा होगा, वह परमात्मा का गुणगान करने मे ही वचन का सदुपयोग करेगा। इस प्रकार वचन का सदुपयोग और निरोध करने वाला पुरुष अपने आत्मा का अवश्य कल्याण कर सकता है।



# अट्ठावनवां बोल

## कायसमाधि

मन समाधि और वचनसमाधि करने से जीवात्मा को ज्ञानविशुद्धि और दर्शनविशुद्धि का लाभ होता है, इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब कायसमाधि अर्थात् काय का निरोध करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं –

### मूलपाठ

**प्रश्न– काय समाहारणयाए णं भते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– कायसमाहारणयाए ण चरित्त पज्जवे विसोहेई, चरित्त पज्जवे विसोहित्ता अहक्खाय चरित्त विसोहेइ। अहक्खाय चरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।।58।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! कायसमाधि से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– हे गौतम! काया को सत्यभाव से सयम मे स्थापित करने से, अर्थात काया का निरोध करने से जीवात्मा चारित्र के पर्यायो को निर्मल करता है और चारित्र के पर्याय निर्मल करके अनुक्रम से यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि करके चार केवली कर्माशो को खपाता है और तत्पश्चात् वह जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध मुक्त तथा शान्त होकर सब दु खो का अन्त करता है।

### व्याख्यान

काया का निरोध करने से सर्वप्रथम तो चारित्र पर्याय की विशुद्धि होती है। अर्थात उदयभाव के कारण मलीन हुआ क्षायोपशमिक चारित्र निर्मल हो जाता है। उदयभाव की वृद्धि के कारण क्षायोपशमिक चारित्र दब जाता

है और ज्यो–ज्यो उदयभाव घटता जाता है, त्यो–त्यो क्षायोपशमिक भाव बढता जाता है। इस प्रकार जो उदयभाव क्षायोपशमिक भाव को दबाता हे, वह उदयभाव काया का निरोध करने से हीन हो जाता है। फलस्वरूप क्षायोपशमिक भाव की शुद्धि होती है और जीवात्मा यथाख्यात चारित्र प्राप्त करता है।

यथाख्यात चारित्र बाहर से नही आता। वह तो आत्मा के स्वभाव मे ही विद्यमान है। जैसे सूर्य पर बादल आ जाने के कारण सूर्य ढका हुआ या मलीन दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म के प्रभाव से यथाख्यात चारित्र भी ढका हुआ और मलीन रहता है। जब काया का निरोध किया जाता है, तो मोहकर्म के कारण यथाख्यात चारित्र पर चढा हुआ आवरण दूर हो जाता है तथा यथाख्यात चारित्र प्रकट हो जाता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि यथाख्यात चारित्र प्रकट होने से केवली अवस्था मे विद्यमान रहने वाले चार कर्म, नाम, गोत्र वेदनीय और आयुकर्म नष्ट हो जाते हैं। ये चारो कर्म अघाति कर्म कहलाते है, क्योकि ये चारो आत्मा के गुणो का घात नही करते, वरन् मोक्ष–प्राप्ति मे बाधा उपस्थित करते है। इन चारो कर्मो का नाश होने से आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परिनिर्वाण को पाता है।

काया का निरोध करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय पर थोडा–सा विचार किया गया है। काया का निरोध करने के सम्बन्ध मे विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है, कि मन और वचन का निरोध कर लेने के बाद भी काया का निरोध करने की क्या आवश्यकता है? तथा काया स्थूल है और चारित्र के पर्याय सूक्ष्म हैं। ऐसी स्थिति मे स्थूल काया का निरोध करने पर भी सूक्ष्म चारित्र पर्याय किस प्रकार विशुद्ध हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के बीच श्रीभगवती सूत्र मे जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका उल्लेख कर देना सहायक होगा। गोतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया– आया भते! काया वा अण्णे भते! काया अर्थात् हे भगवन्! आत्मा ओर काया एक ही है या अलग–अलग?

भगवान् ने फरमाया– 'गोयमा! आया वि काया अण्णे वि काया' अर्थात् आत्मा ओर शरीर एक भी हें ओर दोनो भिन्न–भिन्न भी हैं।

जिस प्रकार दूध ओर घी एक भी हे और जुदे–जुदे भी है, उसी प्रकार आत्मा और काया एक भी ह ओर भिन्न–भिन्न भी हे। अगर दूध और घी एक ही होता तो दूध मे से घी निकलता ही कसे? ओर निकालने की

आवश्यकता भी क्या थी? और यदि दोनो भिन्न ही हो तो पानी की तरह दूध मे से घी कैसे निकलता? इसी भाति आत्मा और काया एक भी हैं और भिन्न-भिन्न भी है। काया के नाम पर यह प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध मे ही किया गया है, अत काया के सम्बन्ध मे किया हुआ यह जुदा प्रश्न अनुचित नही है।

कुछ लोग आत्मा को काया से सर्वथा भिन्न मानते हैं और कुछ लोग दोनो को सर्वथा एक ही मानते है। परन्तु ये दोनो एकान्तवाद सच्चे नही हैं। क्योकि आत्मा और शरीर किसी दृष्टि से एक भी है, किसी दृष्टि से अलग-अलग भी है। यद्यपि आत्मा और शरीर कदाचित् एक भी है, परन्तु दोनो मे अलग-अलग हो जाने की शक्ति है, और इस कारण वे भिन्न-भिन्न भी हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा और शरीर किसी अपेक्षा से एक हैं तो फिर इन दोनो का सयोग कब से हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन दोनो का सयोग अनादि से है। कहा जा सकता है कि यदि दोनो का सयोग अनादिकाल से है तो अनादि सयोग छूट कैसे सकता है? इस शका का समाधान यह है कि दोनो का सयोग अनादि होने पर भी यह सयोग छूट सकता है। धातु और पाषाण का सयोग तथा घी और दूध का सयोग कब से है? पहले कौन था और पीछे कौन हुआ? इस प्रश्न का यही उत्तर दिया जा सकता है कि दोनो का सयोग एक ही साथ हुआ है, फिर भी उसे भिन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार कर्म के कारण आत्मा और शरीर का सयोग हुआ है। कर्म का भी आत्मा के साथ सयोग अनादि से है। ऐसा कदापि नही हो सकता कि आत्मा कभी कर्मरहित हो गया था और फिर कर्म से युक्त हो गया हो। आत्मा एक बार कर्मरहित जो जाने के बाद फिर कर्म से लिप्त हो जाता है ऐसा मान लिया जाय तो सिद्ध भगवान् जो कर्मो से सर्वथा मुक्त हो चुके है, फिर कर्मो से लिप्त हो जाएगे। वास्तव मे कर्म और आत्मा का सयोग-सम्बन्ध अनादिकालीन होने पर भी, दूध और घी तथा धातु और पाषाण की तरह दोनो अलग-अलग हो सकते है। आत्मा और कर्म का बध है और इसी कारण आत्मा का मोक्ष होता है अर्थात् आत्मा और कर्म का सम्बन्ध टूट जाता है। साख्यमत का कथन है कि आत्मा बधरहित, अर्थात् सिद्ध बुद्ध मुक्त है। उनके मतानुसार आत्मा के साथ कर्म का बध होता ही नही है। किन्तु यदि आत्मा का किसी के साथ बध न माना जाये तो आत्मा का मोक्ष भी नही हो सकता। क्योकि जब बध ही न होगा तो मोक्ष कैसे होगा?

बध है तभी मोक्ष भी है। मोक्ष का अर्थ ही बधन का छूटना है। जहा बन्धन ही न होगा, वहा उसका छूटना किस प्रकार कहा जा सकता है!

कहने का आशय यह है कि आत्मा और कर्म का सयोग अनादिकालीन होने पर भी छूट सकता है। आत्मा कर्म के सयोग से पृथक् हो सकता है। आत्मा और कर्म का जो सयोग अनादिकालीन कहा गया है, वह प्रवाह की अपेक्षा है। जैसे नदी का बहता पानी देख कर कहा जाता है कि यह वही पानी है, जो कल था। परन्तु वास्तव मे कल जो पानी था, वह तो बह गया है, फिर भी पानी के सतत प्रवाह के कारण ऐसा जान पडता है कि आज भी वही कल वाला पानी है। इसी तरह कर्म भी प्रवाहरूप मे आते रहते हैं और इसी कारण उनका सयोग अनादिकालीन है। वास्तव मे कर्म सदा–सर्वदा सरीखे नही रहते। जिस प्रकार नदी का पानी पलटता रहता है। उसी प्रकार कर्म भी बदलते रहते हैं। कर्म प्रवाहरूप से आत्मा मे आते ही रहते हैं, इसीलिये कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल का माना जाता है।

ऐसा समझकर आत्मा को शरीर से पृथक् करना चाहिए। काया को विषमता मे से बाहर निकाल कर समताभाव मे प्रवर्तित करना ही काया का समाधारण कहलाता है।

मन, वचन और काय के सम्बन्ध मे भिन्न–भिन्न रीति से और इसी क्रम के अनुसार प्रश्न करने का कारण यह भी हो सकता है कि केवली भगवान् पहले मनोयोग का निरोध करते हैं, फिर वचनयोग का निरोध करते है ओर तत्पश्चात् काययोग का निरोध करके सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं। अतएव अपने को भी काया का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए। काया के निरोध से हम लोग भी सिद्ध हो सकते हैं। कहा भी है–

**सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।**
**कर्म–मैल का अन्तरा, बुझै विरला कोय।।**
**जीव–कर्म भिन्न–भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय।**
**ज्ञानातम वैराग्य से, धीरज धर्म लगाय।।**

जीव और शिव, अर्थात् सिद्ध मे केवल कर्म का ही अन्तर हे। जीव कर्मसहित हैं और सिद्ध कर्मरहित हे। सिद्ध पहले से ही कर्मरहित नहीं होते, वरन् जीव मे से ही सिद्ध होते हें। जो जीव कर्मरहित हो जाता हे, वही सिद्ध कहलाने लगता है। अतएव जीवात्मा को कर्मरहित होकर सिद्ध बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यह दुर्लभ मनुष्य–जन्म सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए ही प्राप्त हुआ हे। मनुष्य–जन्म मोक्ष का द्वार हे। मोक्ष–मन्दिर मे पहुचने के बाद वहा से फिर वापिस

नही आना पडता। वहा आत्मा अनन्त आनन्द मे रमण करता है। मोक्ष मे जाने के लिए तत्त्व का विचार करके, धर्म की सहायता लेकर जीवात्मा को मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। जीवात्मा कर्म से मुक्त होने का मार्ग जान सके, इसीलिए काय–समाधारणा का पश्न पूछा गया है। शास्त्र मे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होने का जो मार्ग बतलाया गया है, उस मार्ग पर अगर जीवात्मा प्रस्थान करे, तो वह अवश्य ही अपना कल्याण करता है।



# उनसठवां बोल

## ज्ञानसम्पन्नता

आत्मा को परमात्ममय बनाने का श्रेष्ठ साधन ज्ञान है। अतएव ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं

### मूलपाठ

**प्रश्न— नाण सपण्णयाए णं भंते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर— णाण सपण्णयाए णं जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ। नाण सपण्णे ण जीवे चाउरते ससार कंतारे ण विणस्सइ जहा सुई सुत्ता, पडियावि ण विणस्सइ। तहा जीवे ससुत्ते, संसारे ण विणस्सइ। णाण विणय तव चरित्त जोगे सपाउणइ, ससमय परसमय विसारए य सधायणिज्जे भवइ।।59।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन्! ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर— ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और चतुर्गति रूप ससारअटवी मे दु खी नही होता। जेसे सूत्र (सूत—डोरा) सहित सुई गुम नही होती, उसी प्रकार सूत्र—ज्ञान से युक्त ज्ञानी पुरुष ससार मे भूलता नही है और ज्ञान चारित्र, तप तथा विनय के योगो को प्राप्त करता हे। साथ ही अपने सिद्धान्त और दूसरो के सिद्धान्त को ठीक तरह जानने से असत्य मार्ग मे नही फसता हे, शास्त्रार्थ मे स्व सिद्धान्त को सयुक्तिक, सचोट रख सकता हे।

### व्याख्यान

मन, वचन ओर काय के निरोध के विषय मे जो प्रश्नोत्तर हुए हे, उनके विषय मे विवेचन किया जा चुका हे। इन प्रश्नोत्तरो मे ज्ञान, दर्शन ओर

चारित्र की विशुद्धि का खास तौर पर कथन किया गया है। अतएव गौतम स्वामी ने अब ज्ञान की प्राप्ति से होने वाले लाभ के विषय मे प्रश्न किया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते है– ज्ञानसम्पन्न जीवात्मा सभी भावो को अर्थात् तत्त्वो को जान सकता है और तत्त्वो का ज्ञान हो जाने के कारण वह चारगति रूप ससार मे विनष्ट नही होता। जैसे डोरा वाली सूई कदाचित् नीचे गिर जाये तो भी डोरे के कारण जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार जो जीवात्मा श्रुतज्ञानरूप सूत्र से युक्त है। वह भी चतुर्गतिरूप ससार मे विनष्ट नही होता। कदाचित उसे ससार मे भ्रमण करना भी पडता है, तो वह जल्दी ही ससार से बाहर निकल जाता है। इसके सिवाय वह ससूत्र जीव श्रुतज्ञान के प्रभाव से ससार मे रहते हुए भी ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को शीघ्र प्राप्त करके मुक्त हो जाता है और श्रुतज्ञान के प्रभाव से उस जीवात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान– अवधि, मन पर्यव, केवल आदि ज्ञान– भी प्राप्त होते है और विनय, तप तथा चारित्र की भी प्राप्ति होती है। इतना ही नही, वह श्रुतज्ञानी जीव स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और परसमय (पर–सिद्धान्त) का ज्ञाता हो जाने के कारण विद्वानो के समागम मे भी आता है और उनका सशय–निवारण करने मे भी समर्थ होता है।

यहा ज्ञान के विषय के जो प्रश्न किया गया है, उसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ है, क्योकि उद्देश्य, समुद्देश, आज्ञा और अनुज्ञा श्रुतज्ञान मे ही होते है, अर्थात् प्रारम्भ और समाप्ति श्रुतज्ञान की ही होती है। 'श्रुतज्ञान प्राप्त करो' ऐसा उपदेश श्रुतज्ञान के लिए दिया जाता है। मतिज्ञान आदि के लिये ऐसा उपदेश देने की आवश्यकता नही रहती। यहा ज्ञान का सामान्य रूप से कथन किया है। अत पाचो ज्ञानो का उसमे समावेश हो सकता है किन्तु वास्तव मे इस प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ ही है।

इस बोल मे यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ क्या है?

शब्दशास्त्री ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं– भावप्रधानता से, कर्तृप्रधानता से और करणप्रधानता से। 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' अर्थात् वस्तु को जानना भावप्रधान ज्ञान है। 'जानातीति ज्ञानम्' अर्थात् जो वस्तु को जानता है वह कर्तृप्रधान ज्ञान है और 'ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु जानी जाये, वह करणप्रधान ज्ञान है। इस तरह भाव, कर्ता और करण को प्रधानता देकर ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है। परन्तु

शास्त्रकार कहते हैं कि यहा जो ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी मे तीनो पदार्थ गतार्थ हो जाते हैं। ज्ञान के तीनो अर्थ वस्तु–स्वरूप को समझने के लिये है, एक–दूसरे का खडन करने के लिये नही। जिस प्रकार सूत्र साहित्य मे वस्तु–स्वरूप समझने के लिए सात नयो का वर्णन किया गया है। ये सातो नय एक–दूसरे का विरोध नही करते, किन्तु वस्तु–स्वरूप समझने मे सहायता पहुचाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान की तीनो व्याख्याए एक दूसरे का विरोध नही करतीं, किन्तु स्वरूप समझने मे सहायता देती हैं। यद्यपि सामान्यतया सातो नयो मे भेद है, परन्तु नयभेद एक नय द्वारा दूसरे नय का खडन करने के लिए नही है। इसी प्रकार ज्ञान की तीनो व्याख्याए वस्तु–स्वरूप को समझने के लिए है, आपस के खण्डन के लिए नही।

अगर एक नय दूसरे नय का खण्डन करे, तो वह दुर्नय कहलाता है। उसी प्रकार ज्ञान की व्याख्याए भी अगर एक–दूसरी का विरोध करे तो वह भी मिथ्या हो जाएगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप सरलतापूर्वक समझने के लिए ज्ञान आदि की विभिन्न व्याख्याए की जाती है। हमे भी ज्ञान की व्याख्याओ का उपयोग वस्तु–स्वरूप समझने मे करना चाहिये। क्लेशोत्पादक वाद–विवाद करने मे ज्ञान की व्याख्याओ का दुरुपयोग नही करना चाहिये।

अब मूल प्रश्न पर विचार करे। श्रुतज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि श्रुतज्ञान द्वारा जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थभाव को जान सकता है। प्रत्यक्षज्ञानियो ने जो–कुछ देखा है, वह श्रुतज्ञान से ही जाना जा सकता हे। उदाहरणार्थ, हम लोगो ने मेरु पर्वत नही देखा हे, परन्तु जिनके ज्ञान का आवरण हट गया हे और जिन्हे प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होने मेरु पर्वत देखा है। अतएव हम लोग श्रुतज्ञान से मेरू पर्वत जानते है। प्रत्यक्षज्ञानी पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानी, प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा देखे हुए पदार्थो को श्रुतज्ञान से जानकर उन पर श्रद्धा रखता हे। भगवान् महावीर ने जो–कुछ देखा या जाना था, उसे हम प्रत्यक्ष रूप से नही देख सकते। भगवान् द्वारा देखी और जानी हुई वस्तु हम लोग श्रुतज्ञान से जान सकते हैं। इसी कारण श्री दशवेकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन मे श्रुतज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहा हे –

**सोच्चा जाणेइ कल्लाण, सोच्चा जाणेइ पावगं।**
**उभय पि जाणेइ सोच्चा, ज सेय त समायरे।।**

अर्थात्–पुण्य को भी सुनकर जान सकते है और पाप को भी सुनकर जान सकते है तथा पुण्य–पाप को भी सुनकर जान सकते हैं, अतएव श्रुतज्ञान प्राप्त करके, जो कल्याणकारी हो उसी का आचरण करो।

पुण्य–पाप सुनकर ही जाना जा सकता है, परन्तु सुनकर हमे करना क्या चाहिए? इसी सम्बन्ध मे कहा गया है–

**श्रुयतां धर्मसर्वस्व, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।**
**आत्मन प्रतिकूलानि, परेषा न समाचरेत्।।**

अर्थात् सक्षेप मे धर्म का सार सुनकर उसे जीवन मे उतारो। सब धर्मों का सार यही है कि जो कार्य तुम्हे अपने प्रतिकूल जान पडता हो, दूसरो के प्रति उसका आचरण मत करो। श्री सूयगडाग सूत्र मे भी ऐसा ही कहा है–

**एव खु नाणिणो सारं, जं ण हिसई किंचण।**

अर्थात्–ज्ञानीजनो के कथन का सार मात्र यही है कि तुम किसी की हिसा मत करो– किसी को मत सताओ।

श्री उतराध्ययनसूत्र के छठे अध्ययन मे सर्वभूत–समभाव रखने के लिए स्पष्ट रूप से कहा है–

**अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।**
**न हणे पाणिणो पाणे, भय वेराओ उवरए।।**

उत्त–6/7

अर्थात् अपने ही आत्मा की तरह सर्वत्र, सब प्राणियो को देखकर, अर्थात् यह जानकर कि अन्य प्राणियो को भी अपने प्राण उसी प्रकार प्रिय है, जैसे मुझे है, भय और वैर से निवृत्त हुआ आत्मा किसी भी प्राणी के प्राणो का हनन न करे।

शास्त्र के इस सारगर्भित सूत्र को स्पष्ट–रूप से समझाने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण देता हू–

मान लो, कोई क्रूर मनुष्य हाथ मे तलवार लेकर तुम्हे मारने के लिए तैयार हुआ है। इसी समय कोई दयालु मनुष्य आता है और उसे मारने से रोकता है। अब इन दोनो मे से तुम्हे कौन–सा मनुष्य अच्छा लगेगा? इस प्रश्न का निश्चित रूप से तुम यही उतर दोगे कि हमे बचाने वाला मनुष्य ही अच्छा लगेगा। यह बात किसी के कहने से या किसी दूसरे की प्रेरणा से नही कहते। यह कथन आत्मसाक्षी का कथन है, तो जिस प्रकार तुम्हे यह पसन्द नही है कि कोई तुम्हे मारे। उसी प्रकार दूसरे प्राणियो को भी यह पसन्द नही है कि तुम उन्हे मारो। अतएव किसी को न मारना धर्म है। तुम्हारे सामने झूठ बोलकर

कोई तुम्हे ठग ले जाये अथवा तुम्हारी कोई चीज चुरा ले जाय तो क्या तुम यह पसन्द करोगे? तो क्या दूसरो को ठगना या दूसरो की कोई चीज छीन लेना तुम्हारे लिए उचित है? "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"– अतएव जैसा व्यवहार तुम अपने लिए पसन्द नही करते वैसा व्यवहार तुम दूसरो के साथ भी मत करो। इतना ही नही, वल्कि अगर तुम्हारी शक्ति है तो उस शक्ति का उपयोग दूसरो की सहायता के लिए करो। अपनी शक्ति का सदुपयोग करना स्व–पर का कल्याण करना है। शक्ति होने पर भी अगर दूसरो की सहायता मे उसका उपयोग नही करते, तो तुम्हारी शक्ति किस काम की है? शक्ति होने पर भी दूसरो की सहायता न करने वाला कैसा कहलाता है, इस विषय मे एक प्राचीन कथा सुनाता हू।

राजशेखर नामक एक पडित बहुत सकटमय अवस्था मे था। खाने के लिए उसे भरपूर अन्न भी नही मिलता था। ऐसी दु खद अवस्था मे भी उसने धीरज नही छोडा। उसने विचार किया– अगर मैं पुरूषार्थ करूगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी। इस प्रकार विचारकर वह आजीविका की पूर्ति के लिए धारानगरी मे (वर्तमान धार में) आया।

एक दिन राजशेखर पडित मिट्टी के सकोरा मे खराब अनाज साफ कर रहा था। राजा भोज ने घूमने जाते समय यह दृश्य देखा। यह देखकर राजा समझ गया कि यह कोई विद्वान पुरुष जान पडता है। उसकी विद्वत्ता की जाच करने के लिए उसे लक्ष्य करके भोज ने सस्कृत मे कहा– जो लोग अपना पेट भी नही भर सकते, वे इस ससार मे जीवित रहे तो क्या? ओर जीवित न रहे तो क्या?

राजा का कथन सुनकर राजशेखर के हृदय को बडा आघात लगा। उसने सस्कृत भाषा मे ही उत्तर दिया– जो शक्तिशाली होकर भी दूसरो की सहायता नही करते वे इस ससार मे रहे तो क्या ओर न रहे तो क्या?

राजशेखर का करारा उत्तर सुनकर भोज को विश्वास हो गया कि यह कोई विद्वान् पुरुष है। मगर इतना विद्वान् होने पर भी यह इतना गरीब क्यो हे? यह जानने के लिए भोज ने पूछा– किस कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है? राजशेखर न कहा– तुम सरीखे उदार राजा सब जगह नही हे। इसी कारण मेरी यह दशा हुई हे। यह रहस्यपूर्ण उत्तर सुनकर राजा ने मन मे विचार किया– अव मुझे इस विद्वान् की पूरी–पूरी सहायता करनी ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजा हाथी से उतर पडा और हाथी राजशेखर को दे दिया। राजशेखर सोचने लगा– मुझे तो पेटभर खाना नहीं मिलता। तव

मैं इस हाथी को अपने घर कैसे बाधू! इस प्रकार विचार कर राजशेखर ने हाथी के मुख के पास अपने कान लगा दिये और अपना सिर इस तरह हिलाने लगा, मानो हाथी पडित के कान मे कुछ कह रहा हो! यह विचित्र दृश्य देखकर राजा ने पूछा– 'क्या हाथी कुछ कह रहा है?'

राजशेखर– जी हा। हाथी मुझसे कह रहा है कि मुझे लेकर तुम बाधोगे कहा? अतएव भलाई इसी मे है कि तुम राजा को फिर भेट–रूप मे मुझे सौपदो। ऐसा करने से मै भी आनन्द मे रहूगा और राजा द्वारा जो धन तुम्हे पुरस्कार मे मिलेगा, उसे पाकर तुम भी आनन्द मे रहोगे।

राजा भोज राजशेखर का आशय समझ गया। उसने राजशेखर को बहुत–सा धन देकर सुखी बना दिया।

कहने का आशय यह है कि अपने पास शक्ति हो तो प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को दूसरो के दु ख दूर करने मे उसका व्यय करना चाहिए। दूसरो की सहायता करने वाला ही दूसरो से सहायता लेने का अधिकारी है। जो लोग ज्ञान–दर्शन–चारित्र की वृद्धि करने मे सहायक बनते हैं, वे स्व पर का कल्याण करते है।



# साठवां बोल

## दर्शनसम्पन्नता

पिछले बोल मे ज्ञानसम्पन्नता से होने वाले लाभ का विचार किया गया है। ज्ञानसम्पन्नता से जीवात्मा समस्त पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और फलस्वरूप चतुर्गति रूप ससार–अटवी मे दु ख नही पाता। जैसे डोरा वाली सुई गुमर्त नीं, उसी प्रकार ज्ञानी जीव ससार की भूल–भुलैया मे नही पडता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग प्राप्त करता हे। इसी प्रकार अपने और दूसरो के सिद्धान्त को भलीभाति जानकर असत्य मार्ग मे फसता नही है।

भगवान् महावीर ने ज्ञानप्राप्ति का यह मार्ग बतलाया है। सच्चा ज्ञान सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे दर्शन के अभाव मे उत्पन्न नही होता। अतएव अब दर्शन के विषय मे प्रश्न किया जाता है।

ज्ञान और दर्शन का परस्पर मे सहयोग हे। जब ज्ञान होता हे, तो दर्शन भी होता हे। और जब दर्शन होता हे, तब ज्ञान भी होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ज्ञान ओर दर्शन का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है तो दर्शन के विषय मे अलग प्रश्न क्यो किया गया हे? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि श्रुतज्ञान साव्यवहारिक हे। जबकि दर्शन व्यवहारिक नहीं हे। ज्ञान का तो आदान–प्रदान हो सकता ह, पर दर्शन का आदान–प्रदान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान तभी उत्पन्न होता हे, जब सम्यग्दर्शन विद्यमान हो। दर्शन के विना ज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती। शास्त्र मे कहा हे, 'णादसणिस्स नाण'– अर्थात् जिस व्यक्ति मे दर्शन– सम्यक् श्रद्धा नही होती, उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता हे। वही ज्ञान सच्चा हे जो सम्यक्त्व के साथ होता हे। ज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव हे ओर अज्ञान

(मिथ्याज्ञान) भी क्षायोपशमिक भाव है। मगर दोनो मे सम्यक्त्व होने और न होने के कारण ही अन्तर है। अतएव गौतम स्वामी अब दर्शन के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हैं–

**मूलपाठ**

**प्रश्न– दंसणसंपण्णयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ!**

**उतर– दंसणसंपण्णयाए ण भवमिच्छत्तछेयण करेइ। परं ण विज्झायइ, परं अविज्झाएमाणे अणुत्तरेणं णाण दसणेण अप्पाणं सजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ।।60।।**

**शब्दार्थ**

प्रश्न– भगवन्! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– हे गौतम! दर्शनसम्पन्नसम्यग्दृष्टि जीव ससार के मूल मिथ्यात्व– अज्ञान का छेदन करता है। उसके ज्ञान का प्रकाश बुझता नही है और उस प्रकाश मे श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को सयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

**व्याख्यान**

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शन–सम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खुली हवा मे रखे दीप के बुझ ने का भय रहता है उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भ[illegible] बना रहता है। क्षायिक सम्यक्त्व के लिए भय नही रहता है। इसी का[illegible] भगवान् ने उत्तर मे 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय ही नही रहता। दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है।

ससार–भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है। कारण के बिना कार्य नही होता। ससार–भ्रमण रूप कार्य का कारण मिथ्यात्व है। दर्शनसम्पन्नता मिथ्यात्व का नाश करती है और कारण के अभाव मे कार्य किस प्रकार हो सकता है? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का उच्छेद हो जाने से ससार–भ्रमण भी न[illegible] करना पडता।

मिथ्यात्व ससार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता

है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है या भवस्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव मे केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर वह नष्ट नही होता। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञान–दर्शन मे रमण करता है।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं – (1) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला, (2) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और (3) क्षायिक गुण से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व। इन तीनो प्रकार के सम्यक्त्वो मे कितना अन्तर है? यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है। एक पानी ऐसा होता है, जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मैल नीचे जम गया है। दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है, परन्तु उसमे मैल साफ नजर आता है। तीसरे प्रकार का पानी वह है, जो पहले मलीन था, किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है। इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नही है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक मे शान्त हो, किन्तु प्रदेश मे उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है। मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक– दोनो मे शान्त हो, तब उपशम सम्यक्त्व होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक सम्यक्त्व अच्छा है। तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है। जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय– दोनो से पृथक् हो, गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश मे अथवा उदय मे न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

एक सम्यक्त्व के होने से ही आत्मा किस प्रकार उन्नत हो सकता है। इस सम्बन्ध मे श्रेणिक का उदाहरण दिया गया है। सम्यक्त्व होने पर उसके सहायक अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं और उस अवस्था मे आत्मा का भी अभ्युदय होता है।

राजा श्रेणिक की रानी चेलना थी। चेलना की सदैव भावना बनी रहती थी कि मेरा पति किस प्रकार धार्मिक बने? उसकी यह मान्यता थी कि अगर मैं अपने पति को धर्मभावना से ओतप्रोत करू तो ही सच्ची पतिव्रता पत्नी कहलाऊ! दूसरी तरफ श्रेणिक सोचता था– 'पत्नी को अभी से धर्म की लत क्या लगी है! इसे इस लत से किसी प्रकार छुडाना चाहिए।' इस प्रकार पति ओर पत्नी दोनो का ध्येय एक–दूसरे से विपरीत था ओर दोनो ही

अपने–अपने ध्येय के अनुसार कार्य करने मे जुटे हुए थे। रानी सोचती थी कि महाराज मुझे ठगने का प्रयत्न करते हैं और मैं राजा को शुद्ध करने का प्रयत्न करती हू। राजा सोचता था रानी को धर्म की बीमारी लग गई है और मै उसे इस बीमारी से बचाने की कोशिश कर रहा हू।

श्रेणिक राजा रानी को धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए कई बार छल–कपट करता था। अतएव रानी ने सबको सूचना कर दी थी कि जो महात्मा चार ज्ञान के धारक, समर्थ तथा व्रतपालन मे दृढ हो, वे ही यहा पधारे, क्योकि यहा राजा की तरफ से, धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए छल किया जाता है। यहा कोई साधारण साधु न पधारे। इस सूचना पर ध्यान न देकर अगर कोई साधारण साधु यहा पधारेगे तो वे राजा के कपट–जाल मे फस जाएगे और नतीजा यह होगा कि धर्म की अवहेलना होगी। रानी की इस सूचना के कारण श्रेणिक के राज्य मे समर्थ साधु ही आते थे। सामान्य साधुओ ने तो उनके राज्य मे जाना भी बन्द कर दिया था।

एक महात्मा ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह मे पधारे। राजा ने सुना कि रानी के गुरु राजधानी मे आये है। यह सुनकर उसने सोचा–रानी के गुरू को अपमानित करने का यह ठीक अवसर हाथ लगा है। रानी का गुरू भ्रष्ट होगा तो रानी का धर्मगौरव भी हल्का पड जायेगा।

इस प्रकार विचारकर राजा ने एक वेश्या को बुलाकर कहा– तू उस साधु के स्थान पर जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहा आ जा। तू मेरा यह काम कर देगी तो तुझे मुह–मागा इनाम दूगा। वेश्या तो राजा का काम मुफ्त मे भी करने को तैयार थी, तिस पर राजा की सहायता और इनाम मिलने की आशा से उसने तुरन्त हा भर ली। वह सिगार सजकर और कामोत्तेजक अन्य सामान लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने उसे देखते ही कहा– 'खबरदार! रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियो का आना निषिद्ध है। यह कोई गृहस्थ का मकान नही है। यहा साधु रहते हैं।'

वेश्या बोली– महाराज! आपका कहना सही है, मगर आपका कहना वही मान सकती है, जो आपकी आज्ञा माथे चढाती हो। मैं तो दूसरे ही कारण से यहा आई हू। मै आपको किसी प्रकार का कष्ट देने नही आई। आपका मनोरजन करने और आपको सुख पहुचाने के लिए ही आई हू।

इतना कहते–कहते वेश्या, साधु के स्थान मे घुस गई। साधु समझ गये कि यह मुझे भ्रष्ट करने की बुद्धि से यहा आई है। मैं अपने शीलव्रत पर

दृढ हू, किन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत को भग कर आई हू, तब मेरा कहा कौन सुनेगा?

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया। यह देखकर वेश्या धवराई और कहने लगी— महाराज! क्षमा करो। मुझे बचाओ। मै तो राजा श्रेणिक के कहने से यहा आई हू। मैं तो अभी यहा से भाग जाती, मगर क्या करू, लाचार हू। बाहर ताला लग गया है। बाहर निकलने का कोई उपाय नही है। आप मुझ पर दया कीजिये।

उन महात्मा ने वैक्रिय लब्धि द्वारा अपना वेष ही बदल डाला था। शास्त्र मे कारणवश वेष वदल लेने का विधान है। अपवादरूप मे साधुलिग को बदलने का शास्त्र मे कथन किया गया है। चारित्र की रक्षा तो उस समय भी की जाती है, किन्तु अवसर आ जाने पर लिग बदल डालने का अपवाद मार्ग मे कथन है।

एक ओर यह घटना घट रही है। दूसरी ओर राजा रानी से कह रहा है तुम अपने गुरू की इतनी प्रशसा करती थी, अब जरा उनका हाल तो देखो! उन्होंने तो एक वेश्या घर मे घुसेड रखी है।

चेलना ने आश्चर्यपूर्ण स्वर से कहा— ऐसा? मगर जब तक मै अपनी आखो न देख लू, तब तक मान नही सकती। अगर यह बात सच होगी, तो मे उन्हे अपना गुरु नही मानूगी। अपन तो सत्य के उपासक है। आप जैसा कहते है, दिखलाइए।

राजा— मैं तो देख ही चुका हू। अब बात बढाने से क्या लाभ हे?

रानी— जव तक मै अपनी आखो से देख न लूगी, तब तक हरगिज मानने को तेयार नही। अगर मैं ऐसा देखूगी तो उसी घडी उन्हे साधु मानना छोड दूगी।

आखिर राजा चेलना रानी को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया। दरवाजा खोला गया। दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी भागी आई, मानो पीजरा खुलते ही पक्षी भागकर निकला हो? आते ही उसने कहा— आप और कोई भी काम मुझे सौंप दे, मगर साधु के पास जाने का काम मुझे न बताइएगा। आज इन महात्मा के तपस्तेज से मैं भस्म ही हो गई होती, मगर उन्ही की दया से मेरे प्राण वच गए!

वेश्या की बात सुनकर रानी ने राजा से कहा— महाराज! यह वेश्या क्या कह रही हे? इसके कहने से तो मालूम होता हे कि आपने ही इसे यहा भेजा था। भले ही आपने इसे भेजा हो मगर में पहले ही कह चुकी हू कि

मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नही डिगा सकती। पर यह जो कह रही है, उस पर विचार कीजिए।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया। कहने लगा– वेश्या की बातो पर अधिक ध्यान देना ठीक नही है। अब यह बात जाने दो।

रानी ने कहा– ठीक है। यह वेश्या आत्मा की दृष्टि से मेरी बहिन के समान है, फिर भी मै इसकी बात छोड देती हू। मगर आप भी यह बात जाने दीजिए। अच्छा, जरा उन महात्मा के पास तो चले।

दोनो महात्मा के पास पहुचे। देखा, महात्मा किसी दूसरे ही वेश मे थे। यह देखकर रानी ने राजा से कहा– यह देखो, ये मेरे गुरु ही नही है! मै तो द्रव्य और भाव दोनो से जो युक्त हो उसी को अपना गुरू मानती हू। इन महात्मा का वेष मेरे गुरु का वेश नही है, जब मेरे गुरू का वेश ही नही है, तो इन्हे अपना गुरु कैसे मान लूं?

कुछ लोग कहते हैं कि रजोहरण और मुखपत्ती मे क्या धरा है! परन्तु वास्तव मे इनका अधिक महत्त्व है। चिह्न का कितना अधिक महत्त्व है! स्टीमर मोटर आदि पर जो चिन्ह रखा जाता है उनका कितना अधिक महत्व गिना जाता है? इसी प्रकार मुखवस्त्रिका भी जैन धर्म के साधुओ की निशानी है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि को ऋषीश्वर की ध्वजा कहा है। इसी शास्त्र मे कहा है– 'लोगे लिग पयोयण', अर्थात् लोक मे लिग का प्रयोजन है।

कहने का आशय यह है कि धर्मी द्वारा ही धर्म की पहचान होती है। रानी ने राजा से कहा– महाराज! धर्म के प्रति इस प्रकार छल–कपट करना छोड दो। आखिर रानी की बात राजा के गले उतर गई। बाद मे अनाथी जैसे महानिर्ग्रन्थ के ससर्ग मे आने से उन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हुई। राजा श्रेणिक सम्यवत्त्व के प्रभाव से कैसा आत्मलाभ प्राप्त कर सके, इस सम्बन्ध मे ग्रन्थो मे कहा है–

**न सेणिओ आसितया बहुस्सुओ, न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।**
**सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ, समिक्ख पन्नाइ वरं खु दसण।।**

अर्थात्–राजा श्रेणिक एक नवकारसी भी नही कर सका था। वह बहुश्रुत भी नही था। साधुपना उसने धारण नही किया था और न वह वाचक, व्याख्याता ही था। फिर भी शुद्ध सम्यक्त्व के कारण वह भविष्य मे पद्मनाभ तीर्थंकर होगा।

श्रेणिक राजा पहले तो धर्म की आवश्यकता ही स्वीकार नही करता था। किन्तु भगवान् महावीर के तथा महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के ससर्ग मे आने के बाद उसमे वज्रलेप जैसी नि शक श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। धर्म के प्रति निश्चल श्रद्धा होने के कारण ही श्रेणिक आत्मकल्याण साध सके।

राजा श्रेणिक सम्यक्त्व मे बहुत दृढ थे। उनकी धर्मदृढता की प्रशसा सुनकर एक देव ने विचार किया– आखिर तो श्रेणिक एक मनुष्य है। मनुष्य को धर्म से विचलित करना कौनसी बडी बात है? एक दिन जब श्रेणिक राजा बाहर घूमने के लिए निकला, तो वह देव साधु के वेश मे शिकारी का स्वाग सजकर, शकित होता हुआ राजा के पास से निकला। राजा के कर्मचारियो ने साधु वेशधारी शिकारी देव को देखकर राजा से कहा–देखिये महाराज! ये आपके धर्मगुरु जा रहे हैं। हाथ मे मछली पकडने का जाल लिए, जाते हुए साधु वेशधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा– यह क्या है? उसने उत्तर दिया– राजन्! मैं मछलिया पकडने जा रहा हू। मैं तुम्हारी आखो के सामने आ गया हू, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव मे महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर, उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ थी। उसने उत्तर मे कहा– अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो। सब साधुओ को झूठा कलक मत लगाओ। भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नही सकते।

राजा श्रेणिक साधु वेशधारी देव को फटकार बतलाकर थोडा ओर आगे बढे कि वहा उन्होने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी को अपनी ओर आती देखा। साध्वी कभी गर्भवती नही हो सकती, फिर भी साध्वीवेश मे उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा– 'यह कौन अभागिनी हे?' साध्वी वेशधारी देव ने कहा– राजन्! में आज अचानक तुम्हारी दृष्टि मे आ पडी हू। नही तो भगवान् महावीर की सभी साध्विया मुझ जेसी दुराचारिणी ही हें। राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा– 'तुम स्वय दुराचारिणी हो, इस कारण सभी साध्वियो को कलकित करना चाहती हो।'

धर्मश्रद्धा को डिगा देने वाली घटनाए देखकर भी राजा श्रेणिक की निश्चल श्रद्धा मे भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेशमात्र भी सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ ह। देव राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया। अन्त मे उसने

अपना मायाजाल समेट लिया। वह राजा के पास आया और कहने लगा-- महाराज! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैने ये स्वाग रचे थे।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे, अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हे भी सम्यक्त्व मे दृढ रहना चाहिए। इस विषम पचमकाल मे श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बाते सुनी और देखी जाती है, मगर हृदय मे सच्ची श्रद्धा हो तो ससार मे कोई ऐसी शक्ति नही है जो तुम्हे धर्म से डिगा सके। धर्मश्रद्धा मे दृढ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।



# एकसठवां बोल

## चारित्रसम्पन्नता

शास्त्र मे कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र– ये रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग हैं। तत्त्वार्थसूत्र मे भी कहा है– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग । अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र– तीनो मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं। ज्ञान से वस्तु जानी जाती है, दर्शन से जानी हुई वस्तु पर श्रद्धा की जाती है और तब तदनुसार आचरण किया जाता है। गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अब गौतम स्वामी चारित्र के विषय मे भगवान् से प्रश्न करते हैं –

**मूलपाठ**

**प्रश्न– चरित्त संपण्णयाए ण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– चरित्त सपन्नयाए ण सेलेसी भावं जणयइ, सेलेसि पडिवण्णे य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ सव्व दुक्खाणमन्त करेइ ।।61।।**

**शब्दार्थ**

प्रश्न– भगवन्! चरित्रसम्पन्नता से जीवात्मा को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– चारित्र–सम्पन्नता से जीव शैलेशी (मेरू पर्वत की तरह निश्चल) भाव को प्राप्त करता है। शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार बाकी बचे हुए चार कर्मो को खपाता है ओर फिर सिद्ध बुद्ध मुक्त तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दु खो का अन्त करता हे।

**व्याख्यान**

पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीव शेलेशी अवस्था प्राप्त करता है। शैलेशी अवस्था अर्थात् कपन रहित अवस्था प्राप्त करना। जैसे शेल अर्थात्

पर्वत अकपन होता है, उसी प्रकार शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीवात्मा भी निष्कप बन जाता है। शैल का अर्थ पर्वत और ईश का अर्थ प्रधान है। जैसे सुमेरु पर्वत अटल–अडोल–अचल और अकप है, उसी प्रकार पूर्ण चारित्रसम्पन्नता से जीवात्मा मन, वचन तथा काय के योगो को रोककर सुमेरु के समान निश्चलता प्राप्त करता है। चारित्रसम्पन्नता से आत्मा लेश्यारहित अवस्था पाता है, ऐसा अर्थ भी घट सकता है, क्योकि लेश्या के होने पर ही कपन होता है। जीव जब लेश्याहीन हो जाता है, तब वह अचल बन जाता है।

चारित्र का अर्थ है– पूर्ण शील अथवा पूर्ण सवर की प्राप्ति। अहिसा, सत्य आदि उत्कृष्ट सवर की प्राप्ति होना उत्कृष्ट चारित्र है। उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त करके आत्मा तेरहवे गुणस्थान से चौदहवा गुणस्थान प्राप्त करके अडोल–अकप बन जाता है। अर्थात्– मन, वचन तथा काय के योगो का निरोध करके अयोगी बन जाता है। अयोगी होने के बाद जीवात्मा केवली सम्बन्धी चार कर्मो को नष्ट करके पाच लघु अक्षरो के उच्चारण जितनी स्थिति भोगकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीव सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर समस्त दु खो का अन्त करता है।

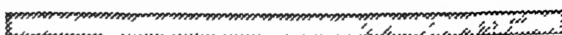
साधारणतया पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का त्याग करना शील समझा जाता है। मगर शास्त्र कहते है कि शील मे समस्त सवर के गुणो का समावेश हो जाता है। सवरगुण मे आना ही शील कहलाता है। सब प्रकार से पूर्ण अहिसक, सत्यवादी, अस्तेयव्रती, ब्रह्मचारी तथा निष्परिग्रही होना ही सम्पूर्ण शील है। शील के इन साधनो को कोई पूर्ण रूप से स्वीकार करते है, कोई आशिक रूप मे। श्री सूयगडागसूत्र मे कहा है– जो व्यक्ति एक देश से भी शील के साधनो को स्वीकार करता है, वह भी मोक्ष का पथिक है। शील का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला ही मोक्ष के मार्ग पर जा सकता है, अन्यथा नही।

शीलवान् बनने के लिए सर्वप्रथम हेय, ज्ञेय और उपादेय वस्तु का विवेक करने की आवश्यकता है। हेय, ज्ञेय तथा उपादेय वस्तु का विवेक करके शील का जितना हो सके उतना पालन निष्कपट भाव से करना चाहिये।

ससार का कोई भी बल चारित्र बल का मुकाबला नही कर सकता। लोग धन–जन आदि के बल को बल मानते है, मगर शास्त्र का कथन है कि चारित्रबल की तुलना कोई बल नही कर सकता। चारित्रबल हो तो दूसरे बल स्वत आ जाते है और चारित्रबल के अभाव मे दूसरे बल निर्बल हो जाते हैं।

राम के पास चारित्रबल को छोडकर और क्या था? लेकिन चारित्रबल की बदौलत सभी बल उनके पास आ जुटे। इसके विरुद्ध रावण के पास धनबल, सत्ताबल, सेनाबल आदि अनेक प्रकार के बल मौजूद थे, सिर्फ चारित्रबल उसके पास नही था। इसी कारण उसके सब बल निर्बल और निष्फल सिद्ध हुए। इस प्रकार चारित्रबल की मौजूदगी मे सभी बल आ जाते हैं और चारित्रबल के अभाव मे सभी बल निष्फल हो जाते हैं। अतएव सिद्ध है कि चारित्रबल सभी बलो मे महान् है। आज लोग दु खी होकर दर–दर भटकते है। इसका प्रधान कारण चारित्रबल का अभाव है। चारित्रबल से ही आत्मा का अक्षय कल्याण होता है।



# बासठ, त्रेसठ, चौंसठ, पैंसठ एवं छासठवां बोल

## इन्द्रियनिग्रह

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रश्नोत्तर मे भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि चारित्र की उत्कृष्टता से जीवात्मा को शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। इसके बाद वह मुक्त हो जाता है। सवर ही चारित्र है। सवर का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र मे कहा है– इन्द्रियो का निग्रह करना ही सवर है। मगर इन्द्रियनिग्रह क्या है? और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय मे अब प्रश्न किया जाता है।

प्रत्येक कार्य का फल तो मिलता ही है और फल जानने के बाद ही कार्य मे शीघ्र प्रवृत्ति होती है। फल दो प्रकार का है– लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक फल की इच्छा करना उचित नही है। लोकोत्तर फल तो धर्म के साथ ही होता है और उसे जान लेने के बाद धर्मकार्य मे प्रवृत्ति हो सकती है।

आत्मदमन करने के लिए इन्द्रियो का निग्रह करना आवश्यक है। इन्द्रियो का निग्रह किये बिना आत्मविजय प्राप्त नही की जा सकती। आत्मा का कल्याण करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय आदि का निग्रह करना आवश्यक है। इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु–इन्द्रिय आदि इन्द्रियो का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस सम्बन्ध मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते है–

### मूलपाठ

प्रश्न– सोइदिय णिग्गहेण भते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर– सोइदिय निग्गहेण मणुण्णा मणुण्णेसु सद्देसु राग–दोस णिग्गह जणयइ। तप्पच्चइय च ण कम्म ण बधइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ।।62।।

प्रश्न– चक्खिन्दिय णिग्गहेणं भते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर– चक्खिन्दिय णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रूवेसु रागदोस णिग्गह जणयइ। तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बधइ, पुव्वबद्ध च णिज्जरेइ।।63।।

प्रश्न– घाणिन्दिय णिग्गहेणं भंते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर– घाणिन्दिय णिग्गहेण मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोस णिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइय च ण कम्म ण बधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।।64।।

प्रश्न– जिब्भिन्दिय णिग्गहेणं भंते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर– जिब्भिन्दिय णिग्गहेण मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु राग दोस णिग्गह जणयइ। तप्पच्चइयं च णं कम्मं ण बधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।।65।।

प्रश्न– फासिन्दिय णिग्गहेणं भते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर– फासिन्दिय णिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु फासेसु रागदोस णिग्गहं जणयइ। तप्पच्चइय च ण कम्मं ण बंधइ, पुव्वबद्ध च णिज्जरेइ।।66।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– हे गौतम! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ या अमनोज्ञ (सुन्दर या असुन्दर) शब्दो मे राग–द्वेषरहित प्रवृत्ति होती है और राग–द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बध नही होता और पहले बंधे हुए कर्मो का क्षय होता है।।62।।

प्रश्न– भगवान्! चक्षु–इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– चक्षु–इन्द्रिय का निग्रह करने से सुन्दर–असुन्दर रूपो (दृश्यो) मे राग–द्वेषरहित प्रवृति होती है और राग–द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मो का बध नही होता और पहले बधे हुए कर्मो का क्षय होता है।।63।।

प्रश्न– भगवन्! घ्राणेन्द्रिय (नाक) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– घ्राणेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव सुगन्ध और दुर्गन्ध मे राग–द्वेषरहित हो जाता है और रागद्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मो का बंध नही होता और पहले बधे हुए कर्मो का क्षय होता है।।64।।

प्रश्न– भगवन्! जीभ का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– जीभ का निग्रह करने से स्वादिष्ट–अस्वादिष्ट रसो मे जीव राग–द्वेषरहित हो जाता है और रागद्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मो का बध नही होता और पहले बधे हुए कर्मो का क्षय करता है।

प्रश्न– भगवन्! स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है?

उतर– स्पर्शन–इन्द्रिय के निग्रह से जीव सुन्दर–असुन्दर स्पर्शो मे राग–द्वेष से रहित हो जाता है और राग–द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मो का बध नही करता और पहले बधे हुए कर्मो का क्षय करता है।

**व्याख्यान**

इन्द्रियो का निग्रह करने का अर्थ यह नही है कि उन्हे नष्ट कर दिया जाये। इन्द्रियनिग्रह का अर्थ है–इन्द्रियो पर काबू पाना– उन्हे अपने वश मे रखना। स्वय इन्द्रियो के वश मे न होना इन्द्रियनिग्रह है। जैसे घुडसवार घोडे को अपने काबू मे रखता है, वह घोडे के वश मे नही हो जाता, उसी प्रकार इन्द्रियो को अपने वश मे रखना ही इन्द्रियनिग्रह है। सवार घोडे को अपने काबू मे नही रखेगा, तो नतीजा यह होगा कि वह नीचे पड जाएगा। इसी प्रकार इन्द्रियो पर काबू न पाने का परिणाम है– आत्मा का पतन। इन्द्रियो का निग्रह करने से आत्मा का उद्धार होता है और निग्रह न करने से पतन अवश्यम्भावी है।

इन्द्रियो का निग्रह करने और न करने मे क्या अन्तर है और क्या हानि–लाभ है? यह बतलाते हुये एक सस्कृत के कवि ने कहा है –

विभेषि यदि ससारान्मोक्षप्राप्ति च काक्षसि।<br>
तदेन्द्रिय जय कर्तुं स्फोरय स्फार पौरुषम्।।<br>
आपदा कथित पन्था, इन्द्रियाणामसयम ।<br>
तज्जय सम्पदा मार्गो, येनेष्ट तेन गम्यताम्।।

**इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्ग नरकावुभौ।**
**निगृहीतानि सृष्टानि, स्वर्गाय नरकाय च।।**

अर्थात् अगर तू इस ससार से डरता हो और मोक्ष प्राप्त करना चाहता हो, तो इन्द्रियो का निग्रह करने का प्रयत्न कर। इन्द्रियो को वश मे न करना आपदा का मार्ग है और उन्हे वश मे करना सपदा का मार्ग है। इन दोनो मे से तुझे जो मार्ग रुचिकर हो, उसी पर तू चल। स्वर्ग और नरक भी इन्द्रियो मे ही है। इन्द्रियो के निग्रह से स्वर्ग मिलता है और निग्रह न करने से नरक मिलता है। इन दोनो मे तुझे जो पसन्द हो, उसे पाने का प्रयत्न कर।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए तो सभी कहते हैं, विकट प्रश्न तो यह है कि इन्दियो का निग्रह किया किस प्रकार जाये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पदार्थों के असली स्वरूप का विचार करके उन्हे निस्सार समझना चाहिए और उन निस्सार पदार्थों से विरक्त होकर, इन्द्रियो को उनकी ओर जाने नहीं देना चाहिए। साथ ही, जिन कामो से आत्मा का कल्याण होता हो, उन्ही कामो मे आत्मा को प्रवृत्त करना चाहिए। इन्द्रियो को वश मे करने का यही उपाय है।

शास्त्र का कथन है कि कान, आख आदि इन्द्रिया स्वर्ग भी दिलाती हैं और नरक भी दिलाती हैं। चारित्र को भ्रष्ट करने वाली बाते कान से सुनना नरक–प्राप्ति का मार्ग है और आत्मकल्याण करने वाली बाते सुनना स्वर्ग–प्राप्ति का रास्ता है। सक्षेप मे, आशय यह है कि इन्द्रियो को बुरे कामो मे प्रवृत्त न करके भले कामो मे प्रवृत्त करना ही इन्द्रियनिग्रह का उपाय है।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि बुरा काम किसे कहना चाहिए और भला काम किसे कहना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि जिस कार्य को करने के लिए तुम्हारे अन्त करण मे विषम भाव उत्पन्न हो, वह बुरा काम हे और जिसे करने के लिए समभाव उत्पन्न हो, वह भला (प्रशस्त) काम है। अगर तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो का दास न होगा, तो वह स्वय ही बुरे–भले काम की परीक्षा कर लेगा। अगर तुम्हारी सत्–असत् का नीर–क्षीर सम विवेक करने की शक्ति का विकास न हुआ हो, तो ज्ञानीजनो की शिक्षा के अनुसार बुरे कामो से हटकर भले कामो मे लगना चाहिए। यो करते–करते एक न एक दिन तुम्हारा आत्मा इन्द्रियो पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए सबसे पहले यह देखो कि चीजे महगी हें या इन्द्रिया महगी हैं? तुम्हारे कान महगे हें या मोती महगे हैं? कहने को तो कह दोगे कि मोती की वनिस्पत कान महगे हें, परन्तु मोती गुम जाने

पर उसके लिए जितनी चिन्ता करते हो, उतनी चिन्ता क्या उस वक्त भी करते हो, जब कान बुरी बाते सुनने को तैयार होता है? साधारण तौर पर कान से अच्छे और बुरे शब्द सुनाई देते है। कहने का आशय यह नही है कि कान का निग्रह करने के लिए कान को नष्ट कर डालो या कानो मे फोहा लगा लो, परन्तु खराब बातो की तरफ कान को जाने मत दो। फिर भी अगर खराब शब्द कान मे आ पडे तो उन पर ध्यान मत दो, उनसे अपने को अलग रख लो, जैसे कि माता–पिता की निन्दा के शब्दो पर ध्यान नही दिया जाता है। कान मे जो शब्द पडे, उनके कारण आत्मा मे राग–द्वेष उत्पन्न नही होने देना चाहिए। शब्दो के कारण राग–द्वेष उत्पन्न न होने देना ही श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के मनोज्ञ (पसन्द) और अमनोज्ञ (नापसन्द) विषय प्राप्त करके, उन पर राग–द्वेष न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह का मार्ग है। आख से माता भी देखी जाती है, बहिन भी देखी जाती है और दूसरी स्त्री भी देखी जाती है। सबको देखने वाली आख एक ही है, पर दृष्टि मे अन्तर होता है। इसी अन्तर के कारण ही राग–द्वेष की उत्पत्ति होती है। अत यह अन्तर न रखते हुए अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियो को माता या बहिन के समान मानने से आख का निग्रह हो सकेगा। आख का निग्रह हो जाने से राग–द्वेष उत्पन्न नही होगा।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय आदि का भी निग्रह करना चाहिए। साराश यह है कि पसन्द या नापसन्द– कोई भी वस्तु सूघने मे, चखने मे या छूने मे आ जाये तो इन्द्रियो को इस प्रकार प्रवृत्त न किया जाये कि इन परिवर्तनशील पदार्थो मे राग–द्वेष उत्पन्न हो। यह विचार करना चाहिए कि वस्तु तो अच्छी से बुरी और बुरी से अच्छी होती ही रहती है। इससे मै राग–द्वेष क्यो करू? इस प्रकार विचार करने से इन्द्रिय विजय प्राप्त होती है। पदार्थ किस प्रकार परिवर्तनशील है, यह बात एक शास्त्र–प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा समझाता हू–

जित्रशत्रु नामक एक राजा था। उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था। सुबुद्धि बडा विचारशील था। एक दिन सुबुद्धि राजा के साथ भोजन करने बैठा था। भोजन स्वादिष्ट था। राजा ने प्रधान से कहा– 'देखो, कितना स्वादिष्ट भोजन है? राजा के इस कथन के उत्तर मे सुबुद्धि ने कहा– इसमे क्या है? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओ का स्वभाव ही है। राजा ने कहा– 'प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पडते हो।

क्या यह भी कभी सम्भव हे कि अच्छी वस्तु वुरी और वुरी वस्तु अच्छी वन जाए?

राजा अपने दूसरे कर्मचारियो से इस सम्बन्ध मे वात करता तो वे सव राजा की ही बात का समर्थन करते थे। मगर सुबुद्धि तो यही कहता हे कि तुम लोग चाहो सो कहो। मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया हे और मैं यही मानता हू कि इष्ट का अनिष्ट ओर अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्गल का स्वभाव है। पुद्गल का स्वभाव नष्ट हो जाना है, अतएव वस्तु का इष्ट–अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की, पर प्रधान ने अपनी वात नही बदली। प्रधान को अपनी वात पर पूरा भरोसा था। उसने राजा से कहा– जिस बात को मैं सत्य मानता हू। उस सत्य को में असत्य कैसे कह सकता हू? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड कर बैठा है। अब इस बात को जाने दिया जाये?

एक दिन राजा नगर–निरीक्षण करने निकला। प्रधान साथ ही था। नगर के चहु ओर खाई थी। पानी भर जाने के कारण खाई मे से वदबू निकल रही थी। राजा ओर प्रधान उसी खाई के पास से निकले। खाई से निकलने वाली दुर्गंध असह्य थी। राजा ने प्रधान से कहा– प्रधान! देखो, इस खाई का पानी कितना वदवूदार है? इतना कहकर राजा ने अपनी नाक दबा ली। उस समय भी प्रधान ने यही उतर दिया– 'महाराज! इष्ट से अनिष्ट ओर अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है। प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा– 'प्रधान तुम वहुत हठी हो। क्या सब चीजे ऐसी हो सकती हैं?' प्रधान वोला– महाराज मैं हठ नही करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हू। आप कुछ भी फरमावे, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना हे ओर वस्तु के प्रति भी समभाव रखना हे।

घर पहुचकर प्रधान ने विचार किया– वस्तु–स्वरूप के सम्बन्ध मे राजा के साथ मेरा मतभेद वढता चला जा रहा हे। मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी वात की खातिरी करा देना चाहिए कि में जो कुछ कहता हू, वह सत्य हे असत्य नही। इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेजकर, खाई का वदवूदार पानी एक घडा भरवाकर मगवाया। प्रधान ने उस पानी को अपने 49 प्रयोगो द्वारा परिष्कृत किया। तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया ओर कहा– 'महाराज जव भोजन करने वेठे तो पीने के लिए यह पानी रख देना।'

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिए रख दिया। पानी पीकर राजा ने कहा— अरे, यह पानी तो बहुत मीठा है। यह कहा से भर लाया है? आदमी ने उतर दिया— 'यह पानी प्रधानजी ने भेजा है।' राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा— तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिये आज यह भिजवाया है। प्रधान ने कहा— 'इस पानी मे ऐसा क्या है? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट से इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है।'

राजा ने कहा— फिर वही बात करने लगे?

प्रधान— मै जो कहता हू, ठीक कहता हू। यह पानी उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा— वह बदबू वाला पानी इतना मीठा कैसे हो सकता है?

प्रधान— महाराज! मै प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हू।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मगवाया। प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए कहा। प्रधान ने पहले की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया। इसी घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु मे परिवर्तन हो सकता है। राजा ने प्रधान के सिद्धान्त को स्वीकार करके कहा— प्रधानजी! आप धर्मज्ञ और विचारशील हैं। अत मुझे केवली—प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था। उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया। श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वय ज्ञाता हो, तभी दूसरो को समझा सकता है। सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझकर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना। धीरे—धीरे उसने आत्मकल्याण किया।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नही करता वह समभाव ही रखता है। वह भलीभाति जानता है कि जो वस्तु थोडी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है, उसके लिए मै अपने आत्मा मे— मन मे राग—द्वेष क्यो उत्पन्न होने दू? वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती है। वस्तु के निमित्त से जब आत्मा मे राग—द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था मे आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का

उत्थान होता है। जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यो बनाया जाये?

इस प्रकार विचार कर इन्द्रियो का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इन्द्रियो के निग्रह की बात करते हैं। इस विषय मे प्राय किसी का मतभेद नही है। सभी लोगो का कथन है कि इन्द्रियो का निग्रह करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। गीता मे भी कहा है– हे अर्जुन! तुझे आत्मा का कल्याण करना हो तो सबसे पहले इन्द्रियो का निग्रह कर, इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियो के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है। अतएव इन्द्रियो को वश मे रखो। उन्हे पदार्थों के प्रलोभन मे मत जाने दो। पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाये तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा? इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शात करके दु ख–मुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियो का निग्रह करो। इन्द्रियनिग्रह ही आत्मविजय का अमोध साधन है।



# सड़सठवां बोल

## क्रोधविजय

पिछले बोल मे इन्द्रियनिग्रह के सम्बन्ध मे विवेचन किया गया है। इन्द्रियो का निग्रह करने से राग और द्वेष जीते जा सकते हैं और इसी कारण लोग इन्द्रियो को जीतने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियनिग्रह से न जीते जाने वाले राग और द्वेष से क्रोध, मान, माया और लोभ उत्पन्न होता है। इसलिए अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते है कि क्रोध आदि कषाय किस प्रकार जीते जा सकते हैं और उनके जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

**प्रश्न– कोह विजएण भते! जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– कोह विजएणं खति जणयइ। कोहवेयणिज्ज कम्म ण बधइ, पुव्वबद्ध च णिज्जरेइ।।67।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! क्रोध को जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– गोतम! क्रोध को जीतने से जीव क्षमागुण प्राप्त करता है। क्रोध से उत्पन्न होने वाले कर्मो का बन्ध नही करता और पहले बधे हुए कर्मो का क्षय करता है।

### व्याख्यान

भगवान् ने क्रोध को जीतने से क्षमागुण का प्रकट होना कहा है। नाम से तो क्षमा को सभी लोग जानते है, मगर वास्तविक क्षमा कैसी होती है, यह बहुत कम लोगो को मालूम है। क्रोध की उत्पत्ति के कारण और क्रोध के चरितार्थ करने की शक्ति मौजूद होने पर भी क्रोध न पैदा होने देना ही असली क्षमा है।

क्षमा धारण करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन काम है। कभी–कभी शस्त्र का आघात सहन कर लेना सरल होता है, परन्तु वचन का आघात शस्त्र के आधात की अपेक्षा अधिक दु खदायक होता है। इसी कारण कटुक वचन सुनकर क्षमाशील रहना मुश्किल हो जाता हैं। शास्त्रकार कहते हैं– लोहे के तीखे बाण सह लेना सरल है, पर वचन–बाण सहना कठिन है। शास्त्र मे कहा है –

**मुहुत्तदुक्खा उ हवति कटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।**
**वाया दुरुताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।।**

**(दश 9 3–7)**

लोहे के काटो को सह लेना, उन्हे निकाल कर बाहर फेक देना तथा उनकी पीडा से मुक्त हो जाना इतना ज्यादा कठिन नही है, मगर वचन–बाण का आघात महाभयानक, दु खदायक तथा वैर का अनुबन्ध कराने वाला होने के कारण सहन करना कठिन है।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है। क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले बहुत थोडे होते है। क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है? इस सम्बन्ध मे शास्त्र मे कहा है–

**कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणय णासणो।**
**मायामित्ताणि णासेइ, लोहो सव्व विणासणो।।**

**दश 8,37**

इस गाथा मे शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है, तो प्रीति नष्ट हो जाती है ओर अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है। इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए। क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है ओर क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है। इस प्रकार क्रोध विजय और क्षमा मे अन्योन्य सम्बन्ध है।

जव कोई कटुक वचन कहता हे, तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती हे। कहा भी हे–

**जी जी कर बतलावता काने क्रोध न आय।**
**आडा टेढा बोलता खबर क्षमा की थाय।।**

अर्थात् जब कोई नम्रतापूर्वक बोल रहा हो, तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा? यह क्रोधी हे या क्षमावान् हे, इस बात की परीक्षा तो तभी होती ह जब उससे आडे–टेढे वचन बोले जाए।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो। ऐसी दशा मे हमे क्रोध क्यो उत्पन्न होगा? हा, कही बाहर जाने पर हमे कटुक वचन सुनने पडे और उस वक्त भी हम क्रोध न करे, वरन् क्षमा रखे तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय प्राप्त करली है।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी है कि हमारे अन्त करण मे क्षमा है या नही? कसौटी पर चढाने से ही खरे सोने का पता चलता है। इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होती है।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानिया होती हैं, इस विषय मे कहा है–

**कोहो अप्पीइकरो उव्वेयकरो य सुगइनिद्दलणो।**
**वेरणुबधज्जलणो जलणो वरगुणगण–वणस्स।।**
**कोहधा निहणति पुतं मित गुरु कलत्तं च।**
**जणय जणणि अप्पि पि, निग्वणा किं च न कुणति।।**
**कोहग्गी पज्जलिओ, न केवल दहइ अप्पणो देहं।**
**सत्ताविईय परविहु पहवइ परभव विणासाय।**
**ता कोह महाजलणो विज्झवियव्वो खमाजलेण सया।।**

यहा कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पैदा करता है और सद्गति का नाश करता है। क्रोध वैरानुबन्ध का बाप है और सद्गुणो के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है। क्रोधाध व्यक्ति पुत्र, मित्र, गुरु पत्नी जनक और जननी आदि की भी क्या घात नही कर देता है? वह क्रोधाधीन बना क्या–क्या नही कर देता है? क्रोधाग्नि दूसरो को ही नही जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है। क्रोध यह भव भी बिगाड देता है और पर भव भी बिगाड देता है। अत इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है। अग्नि एक ही भव का नाश करती है मगर क्रोध इह–परभव दोनो का विनाशक है। अर्थात् दोनो भवो को बिगाडता है। क्रोध की यह आग आत्मा मे ही उत्पन्न होती है। अपना आत्मा स्वत क्रोध को पैदा करता है। क्रोध से क्रोध बढता ही जाता है। इस कारण अनेक भवो का वैरानुबन्ध क्रोध से ही होता है। जब प्रीति का नाश हो तो समझना चाहिए कि मुझमे क्रोध उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार उद्वेग होने पर

भी यही समझना चाहिए कि मुझमे क्रोध पैदा हुआ है, क्योकि अप्रीति या उद्वेग उत्पन्न होने का कारण क्रोध ही है। क्रोध ही दुर्गति मे ले जाता है। जैसे अग्नि थोडे ही समय मे रुई के ढेर को भस्म कर डालती हैं, उसी प्रकार क्रोध भी आत्मा के समस्त शुभ कर्मों सद्गुणो को भष्म कर देता है। क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य आखे होते हुए भी अन्धा बन जाता है। तब वह क्रोधाध मनुष्य अपने पुत्र, मित्र, गुरु तथा स्त्री आदि स्वजनो को भी नष्ट कर देता है। उस समय कोधाध मनुष्य मे से दयाभाव निकल जाता है।

सुना है, मेवाड के एक गाव मे किसी मनुष्य ने क्रोध के आवेश मे आकर पसेरी से अपनी स्त्री का सिर फोड डाला था। यह देखकर उसकी लडकी चिल्लाई– मेरे पिता मेरी मा को मार रहे हैं। लडकी की चिल्लाहट सुनकर वह अपनी लडकी पर भी क्रुद्ध हो गया। उसने लडकी को पत्थर पर पछाड दिया और अन्त मे आप भी अपघात करके मर गया।

क्रोध के आवेश मे ऐसे–ऐसे न जाने कितने अनर्थ होते रहते है। अतएव क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। सूत्र मे भी कहा है–

**उवसमेण हणे कोह!**

अर्थात् उपशम– क्षमा से क्रोध का नाश करना चाहिए।

जब अग्नि बढती जा रही हो तो उसे बुझाने के लिए उसके विरोधी पदार्थ पानी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा का ही अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। क्रोध करने से दूसरो को जो हानि होती है उसकी अपेक्षा स्वय क्रोध करने वाले को अधिक हानि उठानी पडती है। क्रोधी मनुष्य क्रोध करते समय समझता है कि मै दूसरे की हानि कर रहा हू, परन्तु यह मान्यता पडौसी का घर जलाने के लिए अपने घर मे आग लगाने के समान मूर्खतापूर्ण है। अपने घर मे आग लगाने से पडौसी का घर जल भी सकता है और नही भी जल सकता, किन्तु अपना घर तो जल ही जाता है। इसी प्रकार क्रोध करने से दूसरो की हानि हो या न हो, मगर क्रोध करने वाले को हानि तो हो ही जाती है।

स्व केशरीचन्दजी भडारी ने मुझे अग्रेजी की एक पुस्तक दिखाई थी। उस पुस्तक मे यह बतलाया गया था कि क्रोध उत्पन्न होने पर शरीर से बर्छी, कटार छुरी आदि शस्त्रो सरीखे पुद्गल निकलते हैं। जिस मनुष्य पर क्रोध किया जाता है, उसे अगर क्रोध न आये अर्थात् उसमे क्षमाभाव हो तो वे शस्त्र सरीखे पुद्गल शात हो जाते हें। अगर सामने वाले मे भी क्रोध उत्पन्न हुआ तो उस दशा मे दोनो के वे शस्त्र सरीखे पुद्गल आपस मे टकराते हें ओर फलस्वरूप सग्राम

मच जाता है। शास्त्र मे कहा है कि कषायसमुद्घात से भयकर सग्राम हो जाता है। क्रोध हो तो सग्राम होता ही है। इसीलिए शास्त्रकार ऊचे स्वर मे कहते हैं– क्षमा के द्वारा क्रोध को जीतो। अगर तुम्हारे भीतर क्षमाभाव होगा तो दूसरे का क्रोध आप ही शात हो जाएगा। परन्तु लोग थप्पड का जवाब घूसे और गाली का उत्तर गाली से देना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि रगडे–झगडे बढते चले जाते हैं। शास्त्रो मे और ग्रथो मे कहा है कि वैर से वैर बढता है और क्रोध करने से क्रोध अधिक–अधिक बढता जाता है। अतएव क्रोध का जवाब क्रोध से न देकर और गाली का बदला गाली से न देकर क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। इसी मे आत्मा का कल्याण है। कहा भी है–

**दीधा गाली एक है, पलटे होय अनेक।**
**जो गाली पलटे नही, रहे एक की एक।।**

अर्थात् किसी ने किसी को गाली दी और गाली खाने वाला अगर बदले मे गाली नही देता है तो वह गाली एक की एक ही रह जायेगी और गाली देने वाला आखिर शान्त हो जाएगा। इससे विपरीत अगर गाली का बदला गाली से दिया गया तो गालियो की परम्परा बढती ही जायेगी और झगडा हुए बिना नही रहेगा। अत क्रोध उत्पन्न होने पर उसे क्षमा से जीतना उचित है। शास्त्र मे साधु के लिए तो यहा तक कहा कि हे साधु! अगर किसी के साथ तुम्हारा क्लेश हुआ है, तो जब तक तुम उसे उपशात नही कर लेते, तब तक तुम आहार–पानी लेने के लिए नही जा सकते। क्रोध को उपशात किये बिना तुम लाये हुए आहार–पानी का उपभोग नही कर सकते, विहार नही कर सकते, यहा तक कि शौच के लिए भी नही जा सकते। कदाचित् तुम कहोगे कि जिसके साथ क्लेश हुआ है, उसे क्षमा कर मैं उपशाति करता हू, लेकिन सामने वाला शात नही होता तो मै क्या करू? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है– सामने वाला उपशात हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु तुम तो क्षमा का याचन–प्रदान करके उपशात बनो। इससे तुम आराधक ही रहोगे।

क्रोध को जीतने का सरल उपाय क्षमा ही है। दस प्रकार के यति धर्म मे भी क्षमा को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। कारण यह है कि जैसे समस्त पदार्थो के लिए पृथ्वी ही आधार है, उसी प्रकार क्षमा ही समस्त गुणो का आधार है। आधारभूत पृथ्वी ही स्थिर न रहे तो आधेय पदार्थ किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे? इसी प्रकार सब गुणो का आधार क्षमा ही न रही तो दूसरे गुण

किस प्रकार टिक सकेगे? अतएव क्षमा की सर्वप्रथम आवश्यकता है। साधुओ का वर्णन करते हुए कहा है–

**पहलुं लक्षण साधुनु, क्षमा तणो भंडार।**
**कठिन वचन सहे जगतना, क्रोध न करे लिगार।।**

तुम लोग प्रतिक्रमण मे 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोलते हो कि 'हे क्षमाश्रमण! मै तुम्हे वन्दन करता हू।' साधुओ मे क्षमा के साथ और–और गुण भी होते है, मगर क्षमागुण की प्रधानता के कारण ही उन्हे 'क्षमाश्रमण' कहते है। साधु का प्रधान गुण क्षमा ही है और इसी कारण दस प्रकार के यति–धर्म मे क्षमा को पहला स्थान दिया गया है।

जैसे साधुओ के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है, उसी प्रकार श्रावको के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है। साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध सघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है। अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा।



# अड़सठवां बोल

## मानविजय

मानव–जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिये शास्त्रकारो ने चार कषायो का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। कषाय का सामान्य अर्थ है– ससार। मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय ससार की वृद्धि करते हैं। ससार से मुक्त होने के लिये कषाय का त्याग करना आवश्यक है। कषायो का त्याग न करने से ससार की वृद्धि होती रहती है। शास्त्र मे कहा भी है–

**कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोहो य पवड्ढमाणा।**
**चत्तारि एए कसिणा कसाया। सिचति मूलाइ पुणब्भवस्स।।**

**(दश 8, 40)**

अर्थात् क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभ दिन–प्रतिदिन बढते ही जाते है। सक्षेप मे ये चारो कषाय ससार के मूल का सिचन करते रहते है।

मुमुक्षु जीवो को ससार की असारता जानकर चारो कषायो का त्याग करना चाहिये। चारो कषायो को जीतने का उपाय शास्त्रकारो ने यह बतलाया है–

**उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।**
**मायमज्जव भावेण, लोह सतोसओ जिणे।।**

**(दश 8, 39)**

क्रोध को क्षमा द्वारा जीतना चाहिये, मान को मृदुता नम्रता से जीतना चाहिये माया को सरलता से जीतना चाहिये और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये।

क्रोध को जीतने से जीवात्मा को क्षमागुण की प्राप्ति होती हे, क्रोध से उत्पन्न होने वाले नवीन कर्मो का बध नहीं होता और पूर्वकर्मों की निर्जरा होती है। क्रोध को जीतने से आत्मा को यह अपूर्व लाभ होता है। अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते है कि मान किस प्रकार जीता जा सकता है और उसे जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता हे?

### मूलपाठ

**प्रश्न– माणविजएण भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्ज कम्म ण बधइ, पुव्वबद्ध च णिज्जरेइ।।68।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! मान जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– मान को जीतने से आत्मा मे मृदुता का अपूर्व गुण प्रकट होता है, मानजन्य कर्म का बन्ध नही करता और पहले बधे कर्म का क्षय करता है।

### व्याख्यान

मृदुता एक महान गुण है। शास्त्र मे कहा है कि मान पर विजय प्राप्त करने से ही मृदुता का महान् गुण प्रकट हो सकता है। जिसमे नम्रता होती हे, वह व्यक्ति महान् समझा जाता है। धातुओ मे सोना इस कारण कीमती माना जाता है कि उसमे नम्रता होती है। सोने को जितना ज्यादा पीटा जाता है, वह उतना ही नम्र बनता जाता है और जब वह एकदम निर्मल और नम्र हो जाता है, तब वह कुन्दन कहलाता है। रत्न को ग्रहण करने की शक्ति कुन्दन मे ही होती है। इसीलिये पहले के लोग रत्न को सोने मे जडने के लिये कुन्दन का उपयोग करते थे। जिस प्रकार नम्र बनाया हुआ सोना, रत्न को पकड लेता हे, उसी प्रकार गुणरूपी रत्न को वही ग्रहण कर सकता हे, जिसमे नम्रता हो। नम्रता प्राप्त करने के लिये मान को जीतने की आवश्यकता हे। मान को जीतने से ही नम्रता आती हे और जब नम्रता आती हे तब मानजन्य नवीन कर्मो का बन्ध नही होता ओर मान के कारण पहले वधे हुए कर्मो की भी निर्जरा होती हे।

शका की जा सकती हे कि मानजन्य बधे हुए कर्म तो भोगने ही पडते हें? इसका समाधान यह हे कि अगर मान के कारण पहले वधे हुए कर्मो की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र मे ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले वधे हुए कर्मो की निर्जरा होती हे।

यहा यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र मे एक जगह ऐसा कहा है कि–

**कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि**

अर्थात् किये कर्मो को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। इससे विपरीत यहा यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बधे हुए कर्मो की निर्जरा होती है। इन दोनो कथनो मे परस्पर विरोध जान पडता है। इसकी सगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है।

कर्म भोगने तो पडते है, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके है। पहला तरीका यह है कि कर्मो को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाये और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना अबाधाकाल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय मे आये और तब भोगे जाये। उदाहरणार्थ रोगी को रोग का दु ख तो सहन करना ही पडता है, परन्तु दवा का उपयोग करने से रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है। इसी प्रकार कर्म भोगने तो पडते है, परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय मे आते हैं, वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते है। लेकिन जिन कर्मो की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है, वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते है। कर्मो को प्रदेश से भोगना भी भोगना है, और विपाक से भोगना भी भोगना है। दोनो प्रकार से कर्म भोगे जाते है। परन्तु ज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया और लोभ आदि को जीतकर तथा तपश्चर्या द्वारा कर्मो की निर्जरा करके आत्मा को उज्जवल बनाते है। इस प्रकार धर्मक्रिया रूपी आग मे अगर कर्माकुर दग्ध न किये जाए तो उन्हे विपाक से भोगना पडता है और तब महान् कष्ट होता है। इस तरह जब कर्म सरलता पूर्वक भोगे जा सकते है तो फिर उन्हे महाकष्टपूर्वक क्यो भोगना चाहिए? इस प्रकार विचार करके ज्ञानीजन कर्म की निर्जरा करने का प्रयत्न करते है। जब थोडा–सा प्रयास करने से ही कर्मविपाक का घोर कष्ट टल सकता है तो पहले थोडा–सा कष्ट सहन न करके विपाक के समय महा दुख सहना कौनसी बुद्धिमत्ता है? कर्मविपाक के महान् कष्ट से बचाने के लिये ही भगवान् ने मान को जीतने का उपदेश दिया है। क्योकि मान को जीतने से जीवन मे नम्रता आएगी और नम्रता से कर्मो की निर्जरा होगी, इस शास्त्रीय विषय को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण लीजिये–

एक रोगी को भयकर रोग हुआ। उसने वैद्य से शरीर की परीक्षा करवाई। वैद्य ने रोगी से कहा– अगर तुम्हे 'इन्जेक्शन' लगा दिया जाये तो

तुम रोग की भयकरता से बच सकते हो। तुम एक–दो इन्जेक्शन लगवा लो। यह सुनकर रोगी ने वैद्य से कहा– 'मेरा शरीर वहुत कोमल है, इन्जेक्शन कैसे ले सकता हू? कोई पीने की दवा दे दो।' वैद्य बोला– 'जैसी तुम्हारी मर्जी। मैने तो तुम्हे रोग से मुक्त होने का उपाय बताया है।' रोगी ने इन्जेक्शन नही लिया और परिणाम यह हुआ कि उसका रोग भयकर हो गया। आखिरकार रोग से परेशान होकर वह फिर वैद्य के पास पहुचा और बोला– 'इन्जेक्शन देना हो तो भले दे दीजिये, मगर इस भयकर रोग को शात कीजिये।'

वैद्य ने कहा– अब यह रोग इन्जेक्शन से भी नही मिट सकता। रोग बहुत बढ गया है। अब तो ऑपरेशन करना पडेगा। पहले इन्जेक्शन लगवा लिया होता तो मिट सकता था।

ऑपरेशन की बात सुनकर रोगी घबरा गया। वह वैद्य से कहने लगा–ऑपरेशन कराने के लिये मेरा जी नही चाहता।

वैद्य ने कहा– जैसी तुम्हारी मर्जी!

रोगी का रोग दिन–दिन बढता गया। वह बेहद परेशान हो गया। तब वह फिर वैद्य के पास पहुचा। बोला– वैद्यराज! इन्जेक्शन या आपरेशन– जो कुछ करना हो करो, मगर मुझे इस महामुसीबत से उबारो।

वैद्य ने फिर शरीर की जाच की। उसे मालूम हुआ कि रोगी का सारा शरीर सड गया है। अब सारे शरीर को चीरना पडेगा। उसने रोगी को अपना विचार बतलाया। अग की **शस्त्रक्रिया** करानी पडेगी, यह सुनकर रोगी बहुत घबराया और बोला मै अपने प्रिय शरीर पर **शस्त्रक्रिया** कैसे करा सकता हू!

वैद्य ने अन्तिम चेतावनी देते हुए कहा– अभी तो अग चीरने से ही शरीर ठीक हो सकता हे, लेकिन बाद मे अग चीरने पर भी ठीक नही होगा। यह रोग ही ऐसा भयकर है कि फिर वह प्राण लिये बिना शात नही होगा।

अब अगर रोगी को अपने प्राणो की रक्षा करनी हे, तो उसे अपने अग पर **शस्त्रक्रिया** करानी ही होगी। पहले इन्जेक्शन लेने मात्र से स्वस्थ हो सकता था, पर तब उसने वेद्य का कहना नही माना। अब शस्त्रक्रिया कराने का समय आ गया। अगर अब शस्त्रक्रिया नही कराता हे तो प्राण जाने का वक्त आजाएगा।

इसी प्रकार इस समय कर्मरूपी जो रोग लगा हे, वह धर्मक्रिया रूपी दवा का नियमित सेवन करने से शान्त हो सकता हे। अगर धर्मक्रिया रूपी दवा सेवन न की गई या सेवन करने मे देरी की गई तो कर्मरोग बढ जायेगा आर परिणामस्वरूप इतना दु ख सहन करना पडेगा कि उसका कहना भी

कठिन है। अतएव कर्मरोग को उपशात करने के विषय मे गम्भीर विचार करो। ज्ञानीजनो ने तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक औषधो द्वारा उसे शान्त करने का जो अमोघ उपाय बतलाया है, उसे भलीभाति काम मे लाओगे तो तुम्हारा कर्म–रोग शात हो जायेगा और अधिक दु ख भी सहन नही करना पडेगा।

कुछ लोग कहते है कि धर्मक्रिया करने मे कष्ट सहन करना पडता है। परन्तु ज्ञानियो का कथन है कि कष्ट धर्म करने से नही, वरन् पूर्वकर्म से होता है। अगर धर्माराधन करते समय होने वाले कष्ट सहन कर लिये जाये तो कर्मोदय के कारण होने वाले कष्टो से सहज ही छुटकारा मिल सकता है। ऐसी दशा मे अगर थोडा कष्ट सहकर भी भविष्य मे आने वाले भयानक दु खो से बचाव हो सके तो क्या बुराई है?

कहने का आशय यह है कि अगर मानजन्य कर्मो की निर्जरा करनी हो तो मान को जीतने का प्रयत्न करो। मान बडो–बडो को पतित कर देता है। इसलिए अभिमान त्यागो। इस विषय मे एक कवि ने ठीक ही कहा है–

**मान रे मानव! मान बुरो अति, मान गुमान न मान न नीको।**
**मान मिटे सम्मान बधे परमान, करो शुभ वाक्य यति को।।**
**मान किया अपमान लहै, न विमान लहे वर देवपुरी को।**
**मानव देह समान नही कुछ, धर्म सु मान के जाति वली को।।**

इस कविता का भावार्थ यह है– हे पुरुष! मान–अभिमान करना बहुत बुरा है। अभिमानी व्यक्ति को अपमान का दु ख भोगना पडता और अभिमान का त्याग करने वाले को बदले मे सम्मान प्राप्त होता है। निरभिमानी व्यक्ति को इन्द्र भी नमस्कार करता है। यह बात सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे एक ऐतिहासिक उदाहरण उद्धृत किया है–

**दसण्णरज्ज मुदिय चइत्ताण मुणी चरे।**
**दसण्णभद्दो णिखतो सक्ख सक्केण चोइओ।।**

**उत्त. 18/44**

अर्थात् शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने से प्रसन्न और पर्याप्त दशार्ण–राज्य को त्याग कर दशार्णभद्र ने त्यागमार्ग अपनाया।

दशार्णभद्र राजा ने अभिमान त्यागकर किस प्रकार त्यागमार्ग अपनाया। इस विषय मे निम्नलिखित कथा प्रचलित है–

आजकल जिसे मन्दसौर कहते है, उसका प्राचीन नाम दशार्णपुर है। दशार्णपुर का राजा दशार्णभद्र था। राजा धर्मनिष्ठ और भावनाशील था। उसने

विचार किया— मुझे जो ऋद्धि—सिद्धि मिली है, उसका उपयोग भगवान् की ऐसी सेवा मे करना चाहिए। जैसी सेवा आज तक किसी भी राजा ने न की हो। अपनी इस शुभ भावना को कार्यरूप मे परिणत करने का भी राजा को सुयोग मिल गया। राजा ने सुना— भगवान् महावीर इस ओर पदार्पण कर रहे हैं। यह समाचार पाते ही राजा की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने बडे उत्साह के साथ प्रजाजनो को आज्ञा दी कि भगवान् को वन्दना करने के लिए जाते समय ऐसी तैयारी की जाये, जैसी आज तक किसी ने न की हो। जब राजा मे इतना उत्साह हो तो प्रजा के और उसके नौकर—चाकर वर्ग मे भी उत्साह हो आना स्वाभाविक है। भगवान् को वन्दना करने के लिए राजा दशार्णभद्र ने अपूर्व तैयारी की और प्रस्थान किया। राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अभिमान हुआ कि मेरे समान ऐसी तैयारी करके भगवान् को वन्दना के लिए और कौन गया होगा? लोगो को नवीन कपडा या जूता मिल जाने पर भी जब अभिमान हो जाता है, तो राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अगर अभिमान उत्पन्न हुआ तो आश्चर्य ही क्या है? मगर लोगो को समझना चाहिए कि ऐसे राजा का अभिमान न रहा तो दूसरो की तो बात ही क्या है?

राजा दशार्णभद्र सबको दान—मान—सम्मान आदि से सन्तुष्ट करता हुआ अपनी ऋद्धि—सम्पदा के साथ भगवान् की वन्दना के लिए निकला। दूसरी तरफ शक्रेन्द्र भी भगवान् की वन्दना के लिए आये थे। इन्द्र ने राजा को ऋद्धि के साथ वन्दना करने आते देखा, पर उसने राजा के हृदय के अभिमान को भी जान लिया। ज्ञानी इन्द्र ने विचार किया— राजा का अभिमान दूर कर देना चाहिए और उसे सत्यमार्ग दिखलाना चाहिए। इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि से एक ऐसा हाथी बनाकर उतारा कि उसके सामने राजा की सारी ऋद्धि फीकी पड गई।

राजा अभिमान के वश होकर विचारने लगा— इन्द्र ने मेरी ऋद्धि की तुच्छता दिखलाई हे ओर एक प्रकार से मुझे पराजित किया हे। ऐसी स्थिति मे मुझे क्या करना चाहिए? में इन्द्र की होड नही कर सकता, क्योकि इन्द्र अपनी वेक्रिय लब्धि से इच्छानुसार ऋद्धि बना सकता हे। तो फिर इन्द्र को जीतने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? यह ठीक हे कि मंने अभिमान किया सो उचित नही था, मगर अव पकडी हुई टेक किस प्रकार सिद्ध की जाये? इन्द्र को जीतने का मेरे पास एक ही उपाय हे— त्याग। त्याग के अतिरिक्त आर किसी भी उपाय से वह पराजित नही हो सकता।

इस प्रकार विचार कर दशार्णभद्र राजा ने सर्वविरति सयम स्वीकार किया। अब बेचारा इन्द्र क्या करे? उसने सोचा– प्रथम तो मैं दीक्षा ही नही ले सकता– ऐसा त्याग ही नही कर सकता। कदाचित् दीक्षा ले लू तो भी मुझे इन मुनि से लघु शिष्य ही बनना पडेगा। अतएव श्रेयष्कर यही है कि इन मुनि से क्षमायाचना करके पवित्र हो जाऊ।

इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने मुनि को नमस्कार किया और कहा– 'भगवन् की वन्दना करने के लिए आप सरीखी तैयारी वास्तव मे किसी ने नही की है और अब आपका त्याग भी अपूर्व है। आपके त्याग से मै प्रभावित हुआ हू।' इस प्रकार कहकर इन्द्र ने राजा के त्याग की प्रशसा की और मुनि से क्षमायाचना की।

त्याग करने की शक्ति मनुष्य मे ही होती है। देव मे मनुष्य जितनी त्याग–शक्ति नही होती। इसी कारण देवभव की अपेक्षा मनुष्यभव बहुमूल्य माना गया है। मनुष्य अभिमान न करे तो देवो को भी जीत सकता है। श्रीदशवैकालिकसूत्र मे भी कहा है–

**देवा वि त णमसंति जस्स धम्मे सया मणो।**

अर्थात् जिसका मन सदा धर्म मे अनुरक्त रहता है। उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

धर्म का आचरण करने के लिए मनुष्य को जैसी सामग्री प्राप्त है, वैसी देव को भी प्राप्त नही है। अगर देवो को भी जीतना है तो मान को जीतो। मान करके दशार्णभद्र राजा इन्द्र को नही जीत सका। त्याग करके उसने इन्द्र को पराजित कर दिया। मुनिवन्दन करते समय आजकल भी उनका नामस्मरण किया जाता है –

**दर्शनभद्र राजा, वीर वद्या धरी मान,**
**पछि इन्द्र हरायो, दियो छ काया ने अभयदान।**

यह बात ध्यान मे रखकर तुम भी अभिमान को तजो। धर्म के प्रताप से ही इन्द्र एक राजा के चरणो मे नतमस्तक हुआ था। राजा ने अभिमान छोडा तो इन्द्र को भी उसके चरणो की वन्दना करनी पडी। अत अभिमान त्यागो। इसी मे आत्मा का कल्याण है। जो अभिमान का त्याग करता है, वह अपने आत्मा का उत्थान करता है और जो अभिमान करता है वह अपने आत्मा को पतित करता है।

वृक्षो मे भी जो वृक्ष नम्र रहता है, वह अच्छा समझा जाता है और जो अकडा रहता है वह ठूठ कहलाता है। नम्र वृक्ष मे फल भी रसीले और मीठे

लगते हैं, जबकि अकडे रहने वाले वृक्ष के फल कटुक और खराब होते हैं। उदाहरणार्थ, आम और एरण्ड को देखो। आम नम्र होता है तो उसके फल मधुर और सुन्दर होते हैं। एरण्ड अकडा रहता है तो उसके फल कटुक होते हैं। इस प्रकार जहा नम्रता होती है, वहा अन्यान्य गुण भी आ जाते है। कहावत भी है– 'जो नमता है वह परमात्मा को गमता है।' अर्थात् जो नम्रता धारण करता है, वह परमात्मा का भी प्रिय बन सकता है।

इसलिए तुम अपने जीवन मे नम्रता को स्थान दो। नम्रता स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए भी धारण की जाती है। मगर स्वार्थ की पूर्ति के लिए धारण की गई नम्रता मे और अभिमान के त्याग से आने वाली नम्रता मे बहुत अन्तर है। यहा जिस नम्रता की बात चल रही है, वह अभिमान का त्याग करके उत्पन्न करनी है। अभिमान करने से आत्मगौरव की भी रक्षा नही हो सकती। आत्मगौरव की रक्षा तो अभिमान त्यागने से ही होती है। इसके अतिरिक्त अभिमान त्यागने से तथा जीवन मे निरभिमानता तथा नम्रता को स्थान देने से मानजन्य कर्म भी नही बधते और मान के कारण पहले बधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतएव अभिमान त्यागने का प्रयत्न करो और नम्रता धारण करो। ऐसा करने मे ही मनुष्यजन्म की सार्थकता और सफलता है।



# उनहत्तरवां बोल

## माया–विजय

जीवन को निष्कपट बनाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय है। इन चारो कषायो से आत्मा का पतन होता है। आत्मा का उत्थान करने के लिए चारो कषायो पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्षमागुण की प्राप्ति होती है और मान को जीतने से नम्रता–गुण की। क्रोधविजय और मानविजय से होने वाले लाभो पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते है कि माया को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है?

### मूलपाठ

**प्रश्न– माया विजएण भंते! जीवे किं जणयइ?**

**उत्तर– माया विजएण अज्जव जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्म ण बधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।।69।।**

### शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! माया को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर– गोतम! माया को जीतने से जीव को आर्जव (सरलता) की प्राप्ति होती है ओर माया से वेदे जाने वाले कर्मो का बन्ध नही होता और पहले बधे हुए कर्मो की निर्जरा होती है।

### व्याख्यान

जो माया को जीतता है। वही सरलता रख सकता है और जो सरलता रखता है वही माया को जीत सकता है। भावो की वक्रता ही माया कहलाती है शास्त्र मे कहा है–

मायी मिच्छादिट्ठी, अमायी सम्मादिट्ठी।

अर्थात् कपट ही मिथ्यात्व है और सरलता ही सम्यक्त्व है। यही बात ध्यान मे रखकर माया का त्याग करना चाहिए। माया का त्याग करने से ही आत्मा मे सरलता आयेगी और जब सरलता आएगी— माया न रह जाएगी— तब आत्मा का कल्याण होने मे देरी नही लगेगी।

ससार मे प्राय अनेक लोग जान—बूझकर मायाजाल मे फसते हैं। जो मायाचार करना जानता है, उसे आज 'पोलिटिकल' जैसा सुन्दर विशेषण लगाया जाता है। मगर शास्त्र मे मायाचारी मनुष्य की निन्दा की ही गई है। मायाचारी अपनी माया से भले ही दूसरो को ठगता हो, पर उसकी आत्मा तो भलीभाति जानती ही है कि मै कपट का सेवन कर रहा हू। कोई अपने छल—बल से किसी अपढ आदमी को पाच और पाच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले, मगर वह स्वय तो जानता है कि पाच और पाच दस होते है। मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हू। इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है। आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरो को ठगने मे चतुर हो। वकील वही होशियार गिना जाता है, जो झूठे को सच्चा और सच्चे को झूठा साबित कर सकता हो।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था। इतने मे उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये। वकील ने अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी। मगर पत्नी मुह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी। वकील ने रोने का कारण पूछा। कहा— 'क्यो, अपने घर मे किस बात की कमी है? देखो, आज ही पचास हजार रुपये आये हे। मे कितना होशियार हू ओर मेरी कितनी ज्यादा कमाई हे, यह सब जानते बूझते भी तुम रो रही हो?

वकील की पत्नी ने कहा— में तुम्हे देखकर रो रही हू।

वकील—क्यो? मैंने कोई बुरा काम किया हे?

वकील पत्नी— आपने सच्चे को झूठा ओर झूठे को सच्चा बनाया हे। यह क्या कम खराब काम हे? आप पचास हजार पाकर फूले नही समाते, मगर जिसके एक लाख डूब गये ओर एक लाख घर से देने पडे, उसके दु ख का क्या पार होगा? मुझे नही मालूम था कि आप इस प्रकार पाप का पेसा पाकर आनन्द मान रहे ह।

वकील— हमारा धन्धा ही ऐसा हे। ऐसा न करे तो काम केसे चले?

पद्धति तभी लाभदायक हो सकती है जब कपट का त्याग करके सत्यता और सरलता को जीवन मे स्थान दिया जाय। सत्यता और सरलता रखना ही सुमति है तथा कूड–कपट और माया–ममता रखना ही कुमति है। अगर हम सुमति चाहते है तो कपट का त्याग करना अनिवार्य है।

जो लोग सत्यता और सरलता का महत्त्व समझते हैं, वे मस्तक पर अनेक सकट आ पडने पर भी सत्यता और सरलता का परित्याग नही करते। शास्त्र मे इस बात के ज्वलन्त उदाहरण मौजूद हैं कि सत्यता और सरलता के द्वारा किस प्रकार आत्मा का कल्याण किया जा सकता है। उन उदाहरणो मे से अनेक उदाहरण तुम्हे सुनाये भी गये हैं। फिर भी तुम इस ओर उपेक्षा ही धारण किये हो, यह उचित नही। सत्यता और सरलता की उपेक्षा करने का परिणाम आखिर बुरा ही आता है। रावण ने साधु का वेश पहनकर कपटपूर्वक सीता का हरण किया और राम की मर्यादा का उल्लघन किया था। मगर जब उसका कपट खुल गया तो कितना भीषण परिणाम आया? कपट प्रकट होने पर दुष्परिणाम होता ही है। अतएव कपट का त्याग करके सरल–सत्य व्यवहार करो। इससे अन्त मे तुम्हारा भला ही होगा। अजना मे कपट होता और सरलता न होती तो अन्तत वह प्रकट हुए बिना न रहता। मगर उसमे सरलता थी और साथ ही सत्यता थी, अतएव वह यही विचारती थी कि आखिर तो **'सत्यमेव जयते नानृतम्'** अर्थात् विजय सत्य की ही होती है, झूठ की नही।

श्री भगवतीसूत्र मे भगवान् से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है–

प्रश्न– से णूण भते! अथिर पलोट्टइ, थिर न पलोट्टइ?

उत्तर– हता, गोयमा!

अर्थात् हे भगवान्! अस्थिर पलटता हे और स्थिर नही पलटता हे। यह बात सच है? भगवान् उत्तर देते हे–हा गोतम! यह सच हे।

यही वात सत्य के विषय मे समझनी चाहिए, क्योकि सत्य भी स्थिर और शाश्वत है। सत्य सदा साथ ही रहता है। अतएव सत्य को जीवन मे स्थान दो। सत्य को अपनाना भगवान् को अपनाना हे।

कहते हैं एक बार कबीर ने चलती चक्की देखी और उसमें से गेहू का आटा निकलते देखा। यह देखकर उन्होंने कहा–

**चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।**
**दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय।।**

कबीर चलती चक्की देखकर रो पडे और कहने लगे– इस पृथ्वी और आकाशरूपी विश्वव्यापी चक्की के दो पाटो मे से कोई भी जीव नही बच सका। सभी को मरना पडा है। कबीर का यह कथन पास मे खडे एक मनुष्य ने सुना और वह बोला–

**चक्की चले तो चलन दे, पीसपीस मैदा होय।**
**कीले से लाग्यो रहे, बाल न बाकां होय।।**

अर्थात् चक्की चलती है और गेहू का आटा हो रहा है तो होने दो। अगर परमात्मा या सत्यरूपी कील को पकडे रहोगे तो तुम्हारा बाल भी बाका नही हो सकता। कहा भी है–

**परिवतने हि ससारे, मृत को वा न जायते।**

अर्थात् इस परिवर्तनशील ससार मे जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है।

परन्तु जो सत्य की कीली को पकड रखता है, उसका कुछ भी नही बिगडता है। उसकी रक्षा अवश्य होती है। अतएव परमात्मा रूपी कीले को पकडे रहो तो तुम्हारी रक्षा होगी। परमात्मा के सान्निध्य मे आना ही योग है। कहा भी है–सयोगो योग इत्युक्त । अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग होना ही योग कहलाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है। तुमसे कुछ अधिक नही हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो। सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है। तुम चाहे जैसी दु खमय अवस्था मे होओ, अगर तुम परमात्मा रूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए बिना नही रह सकता।



# सत्तरवां बोल

## लोभ–विजय

परमात्मा का सच्चा नाम–सकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय मे कषाय–भावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नही हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और मायाविजय से होने वाले लाभो पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है? इस विषय मे गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते है–

**मूलपाठ**

**प्रश्न– लोह विजएण! भते? जीवे कि जणयइ?**

**उत्तर– लोहविजएण सतोस जणयइ। लोह वेयणिज्जं कम्म ण बधइ, पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ।।70।।**

**शब्दार्थ**

प्रश्न– भगवन्! लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता हे?

उत्तर– लोभ को जीतने से आत्मा सन्तोष प्राप्त करता है, लोभ–वेदनीय कर्मो का बध नही करता और पहले बधे कर्मो की निर्जरा करता है।

**व्याख्यान**

अवगुणो मे लोभ सबसे बडा अवगुण है। लोभ से लोकिक हानि भी होती हे और लोकोत्तर हानि भी होती हे। लोभ का कही थोभ (विश्राम) नही होता। इसी कारण लोभ को वेतरणी नदी की उपमा दी गई हे। लोभ–तृष्णा केसी हे? इस विषय मे एक कवि ने कहा हे –

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरगाकुला,
रागग्राहवती वितकगहना धैर्य–द्रुमध्वसिनी।
मोहावर्त्त सुदुस्तरऽतिगहना प्रोत्तुचिन्ता तटी,
तस्या पारगता विशुमनसो नन्दति योगीश्वरा ।।

इस श्लोक मे कवि कहता है कि आशा– नदी वैतरणी नदी के समान है। तृष्णा, लोभ, आशा, ये सब पर्यायवाची शब्द है। जो लोग इस तृष्णा नदी के पवाह मे फस जाते है, उनके हृदय मे ऐसे अनेक सस्कार उत्पन्न होते है, जिनके कारण दु ख भोगने पडते है और ससार मे परिभ्रमण करना पडता है।

आशारूपी नदी मे मनोरथरूपी जल भरा है। नदी के पानी का तो अन्त आ सकता है, परन्तु मनोरथ का अन्त नहीं आ सकता। श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है– दो मासा सोने की इच्छा रखने वाले की करोडो की सम्पत्ति से भी आशा– तृष्णा शान्त नही हुई। इस प्रकार आशा– तृष्णा रूपी नदी के मनोरथ रूपी जल से बाहर निकलना बडा कठिन है। बडी–बडी नदियो को पार करने मे तो बहुत–से लोग समर्थ हुए होगे, पर आशा नदी को पार करने मे कोई विरले ही समर्थ हो पाते हैं। साधारण लोग इस नदी को पार नही कर सकते।

आशा–नदी मे मनोरथरूपी जो पानी भरा हुआ है, उसमे तृष्णा की तरगे उठती हैं। जैसे नदी मे मगरमच्छ होते हैं, उसी प्रकार आशा नदी मे भी द्वेषरूपी मगरमच्छ होते हैं। आपस मे ही एक–दूसरे को वे खा जाते है। वे यह विचार नही करते कि जैसे मैं दूसरे को खा जाता हू या खा जाना चाहता हू वैसे ही दूसरा कोई मुझे भी खा जायेगा। इसी प्रकार ससार मे पडे लोग राग–द्वेष के वश होकर एक–दूसरे पर आक्रमण करना चाहते हैं। वे यह नही विचारते कि जिस प्रकार हम दूसरे पर आक्रमण करना चाहते है, उसी प्रकार दूसरे हमारे ऊपर भी आक्रमण करेगे।

नदी मे जब पूर आता है, तब किनारे के छोटे–छोटे पौधे भी बह जाते है। आशा–नदी भी अपने किनारे पर उगे हुए धैर्य आदि गुणरूपी पौधो को बहा ले जाती है। नदी मे भवर पडते हैं और उनमे बडे–बडे आदमी भी डूब जाते है, उसी प्रकार आशा–नदी मे भी मोहरूपी भवर पडते हैं, जिनमे बडे–बडे सद्गुण डूब मरते हैं। आशा–नदी के दोनो और चिन्तारूपी दो किनारे है। अन्य नदियो को तो नौका आदि द्वारा पार किया जा सकता है, लेकिन आशा–नदी को पार करना अत्यन्त कठिन है। इस दुस्तर नदी को कोई शुद्ध मन वाला योगीश्वर ही पारकर सकता है।

नाव मे बैठकर कोई भी दुस्तर नदी पार की जा सकती है, बल्कि ऐसी अवस्था मे नदी एक क्रीडास्थली बन जाती है। इसी प्रकार जो लोग शुद्ध भावना के साथ परमात्मा की शरण ग्रहण करते है। उनके लिए यह ससार भी क्रीडाधाम बन जाता है। परमात्मा के शरण मे जाने पर यह दु खमय ससार भी सुखमय बन जाता है। अतएव अगर दु खमय ससार को सुखमय बनाना चाहते हो, तो परमात्मा का तथा परमात्म–प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करो।

कहने का आशय यह कि आत्मा को आशा–नदी पार करनी चाहिये। अगर तुम आत्मा को आशा–नदी के परले पार पहुचाना चाहते हो, तो परमात्मा के शरण मे जाओ और कुछ भी न बन पडे तो परमात्मा का नाम–कीर्तन ही करो। शास्त्र मे कहा है–

**एको वि णमुक्करो जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।**
**संसार–सागराओ तारेइ, नरं वा नारि वा।।**

परमात्मा को किया गया एक भी नमस्कार जब आत्मा को ससार–समुद्र से पार करा देता है तो फिर एक नदी को पार करा देना कोनसी बडी बात है? अत ससार–समुद्र को पार करने के लिये परमात्मा के शरण मे जाना चाहिये। परमात्मा के शरण मे जाने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है।

आज केवल कहने का जमाना नही रहा। अब कार्य कर दिखाने का समय आ गया है। इसलिए तुम सुनने या कहने मे ही न रहो, वरन् आत्मा का कल्याण करने वाले कार्यो मे लगो। पूज्य श्रीलालजी महाराज कहा करते थे– अपना शरीर नष्ट करने के लिए तो एक सूई की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरो का शरीर नष्ट करने के लिए तलवार, बन्दूक आदि बडे शस्त्रो की जरूरत पडती हे। इसी प्रकार जब दूसरो को उपदेश देना हो तो हेतु– दृष्टान्त आदि की आवश्यकता रहती है, परन्तु जब अपनी ही आत्मा का कल्याण करना हो तो अधिक कहने की आवश्यकता नही रहती, सिर्फ आत्मा को सरल बनाकर आत्मा का कल्याण करने वाले अनुष्ठान करने की ही आवश्यकता होती हे।

यहा एक प्रश्न उपस्थित होता हे कि जब परमात्मा का नाम–सकीर्तन करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता हे, तो फिर लोभ को जीतने के विषय मे भगवान् से क्यो प्रश्न किया गया हे? इस प्रश्न का उत्तर यह हे कि

लोभ को जीतने से ही परमात्मा के नाम का सच्चा सकीर्तन हो सकता है। लोभ मे पडे हुए लोग परमात्मा का सकीर्तन करते–करते दूसरे प्रलोभनो मे फस जाते हैं और तुच्छ वस्तु के लिये महान् वस्तु का त्याग कर देते हैं। जैसे मूर्ख मनुष्य थोडे–से लाभ के बदले कीमती वस्तु का त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार बहुत से लोग नौ निदानो मे से किसी प्रकार के निदान द्वारा अपनी धर्मक्रिया बेच डालते हैं। जब लोभ जीत लिया जायेगा तो इस प्रकार की भूल नही होगी। लोभ विजयी पुरूष महान् परिश्रम से प्राप्त वस्तु व्यर्थ नष्ट नही करेगा।

कल्पना कीजिये, किसी को खान खोदते समय एक कीमती हीरा मिला। अब दूसरा आदमी उससे कहता है– 'यह हीरा मुझे दे दो, मैं तुम्हे पाच सेर मिठाई देता हू।' हीरे वाले पुरुष को भूख भी लगी है। फिर भी क्या वह मिठाई के बदले हीरा दे देगा? इसका उत्तर नकार मे ही मिलेगा। वह यही सोचेगा कि मेरा हीरा कीमती है। मैं मामूली कीमत की मिठाई के बदले अपना मूल्यवान हीरा कैसे दे दू? अगर वह हीरे की कीमत समझता हुआ भी मिठाई के बदले मे दे देता है तो उसे मूर्ख ही कहना होगा। इसी प्रकार नाम–सकीर्तन रूपी रत्न को तुच्छ वस्तु के बदले मे दे देना मूर्खता ही है। जो लोग नाम–सकीर्तन को कीमती समझकर ससार के किसी भी पदार्थ से साथ उसकी अदल–बदल नही करते, वे ही उसका महान् फल प्राप्त कर सकते हैं। पर यह महान् फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोभ पर विजय प्राप्त करली जाये। इस प्रकार लोभ को जीते बिना परमात्मा के नाम सकीर्तन का यथेष्ट लाभ प्राप्त नही हो सकता।

अगर कोई सौ रुपया देकर तुम्हे भगवान् महावीर को गाली देने के लिये कहे तो क्या तुम भगवान् को गाली दोगे? नही, भले ही तुम्हे रुपयो की आवश्यकता है, फिर भी तुम भगवान् को गाली नही दोगे। ऐसा करने का कारण यही है कि तुमने भगवान् के लिये सौ रुपये का लोभ त्याग दिया है। जैसे तुमने सौ रूपये का लोभ छोड रखा है, उसी प्रकार कोई हजार का लोभ छोडने वाला भी मिल सकता है। इसी प्रकार जो महान् लोभ त्याग देता है, वही नाम–सकीर्तन का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जो लोभ नही तजता वह तुच्छ वस्तु के बदले मे नाम–सकीर्तन के महालाभ से वचित

हो जाता है। अरणक श्रावक को देव ने कुण्डल की दो जोडिया दी थीं, लेकिन अरणक ने उन्हे अपने पास नही रखा, क्योकि उसके परिग्रह की मर्यादा से बाहर थी। अगर अरणक ने लोभ न जीता होता, तो क्या वह मर्यादा मे स्थिर रह सकता था? जो व्यक्ति अपनी वस्तु को अनमोल मानकर पुद्गल के मोह मे नही पडता है, वही अपनी वस्तु की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा के नाम–सकीर्तन के फल की रक्षा भी वही कर सकता है जो नाम–सकीर्तन के बदले मे ससार की कोई भी वस्तु नही चाहता।

तुम मे से कोई कह सकता है कि हम परमात्मा के नाम सकीर्तन के बदले मे सासारिक पदार्थो की इच्छा करते ही कहा हैं? ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अनेक लोग हमारे पास आते और कहते हैं– मुझे अमुक काम के लिये जाना है, अत मागलिक सुनना चाहता हू। हालाकि साधु को किसी भी समय मागलिक सुनाने मे कोई बाधा नही है, फिर भी देखना चाहिए कि सुनने वाले की भावना क्या है? वह तो मागलिक सुनकर अपने सासारिक कार्य की सफलता ही चाहता है। पर इस तरह सासारिक पदार्थो के प्रति ममता रखकर मागलिक सुनना तो परमात्मा के नाम–सकीर्तन को सासारिक पदार्थो के बदले मे बेचने के समान है। इसलिये आत्मा को निर्मल रखना चाहिये और सासारिक पदार्थो के प्रति उत्पन्न होने वाली इच्छा को दबा रखना चाहिये। हम लोगो को आत्मकल्याण का यह सुयोग प्राप्त हुआ है। इस सुयोग को वृथा न जाने देकर परमात्मा का नाम–सकीर्तन करके आत्महित साध लेना चाहिये। परमात्मा के नाम–सकीर्तन का महत्त्व कुछ कम नही हे। शास्त्र मे कहा है–

**तहा रूवाण अरिहताण भगवंताण णाम गोय सवणयाए वि महाफल।**

अर्थात् तथारूप अरिहन्त भगवान् के नाम, गोत्र का श्रवण करने से भी महान् फल प्राप्त होता है। इस महान् फल की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो सकती है, पर लोग परमात्मा का नाम–सकीर्तन न करके फिजूल कामो मे समय का दुरुपयोग करते हैं। लोग रेल मे बैठकर एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। उस समय रेल मे कोई खास काम नही रहता। फिर भी लोग क्या परमात्मा का स्मरण करने मे वह समय लगाते हे? उस समय मे परमात्मा का नाम–स्मरण किया जाये तो क्या हानि हो सकती है? ऐसा न करने का कारण

नाम–स्मरण के प्रति उनकी लापरवाही है। मै तुम सबको परमात्मा का नाम–स्मरण करने का उपदेश देता हू। परन्तु जब तक तुम्हारी आत्मा मे जागृति न आये तब तक सिर्फ मेरा उपदेश क्या असर कर सकता है? जमीन मे बीजारोपण करने पर वर्षा हो जाये तो बीज उग सकता है। अगर बीजारोपण ही न किया हो तो वर्षा होने पर भी उससे क्या लाभ है? अतएव मुझे तुमसे यही कहना है कि अपने अन्तरात्मा मे पररमात्मा का नाम–कीर्तन करने की जागृति उत्पन्न करो। लोभ का त्याग करके परमात्मा का नाम–सकीर्तन करने से आत्मा का कल्याण हुए बिना नही रहेगा।



# एकहत्तरवां बोल

## राग–द्वेष–मिथ्यादर्शन–विजय

आत्मा को स्वतन्त्र बनाने के उद्देश्य से ही शास्त्र मे सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम करने के लिए कहा गया है। सम्यक्त्व मे पुरुषार्थ करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

पराक्रम, शक्ति, सामर्थ्य या पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीवात्मा मे विद्यमान है, मगर उसका उपयोग भिन्न–भिन्न रूपो मे हो रहा है। जो पुरुष शस्त्र का प्रयोग दूसरे पर न करके अपने ही ऊपर करता है, उसकी गणना मूर्खों मे की जाती है। इसी प्रकार ससार से तिरने के जो साधन प्राप्त हुए हैं, उन साधनो से ससार मे डूबने वाला जीव बालजीव कहलाता है।

जब यह बालभाव मिटता है तो साथ ही दृष्टि मे भी परिवर्तन होता है। इस परिवर्तित दृष्टि को जैन–दर्शन सम्यग्दृष्टि कहता हे। इस दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् जो पुरुषार्थ होता है, वही सच्चा पुरुषार्थ हे।

जीवन का सच्चा पुरुषार्थ प्रकट करने के लिये शास्त्रकारो ने सम्यक्त्व–पराक्रम नामक उनतीसवे अध्ययन मे 73 उपाय बतलाये हैं, इनमे से सत्तर उपायो पर विस्तार के साथ विवेचन किया जा चुका हे। सडसठवे से सत्तरवे बोल तक कषाय का त्याग करने के लिये कहा गया हे। राग, द्वेष ओर मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कषाय का त्याग नही हो सकता। इसलिये गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से राग–द्वेष मिथ्यात्व के त्याग के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं –

### मूलपाठ

**प्रश्न– पिज्जदोस मिच्छादंसण विजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

उत्तर– पिज्जदोस मिच्छादसण विजएण णाणदसण चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठि विमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणु पुव्वीए अट्ठवीसइ विह मोहणिज्ज कम्म उग्घाएइ, पचविह णाणावरणिज्जं, णवविहं दसणावरणिज्ज, पंचविह अन्तराइयं एए तिण्णि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणतं कसिण पडिपुण्ण णिरावरण वितिमिरं विसुद्ध लोगालोगप्पमाव केवलवरणाणदसण समुप्पादेइ। जाव सजोगी हवइ ताव इरियावहियं कम्मं निबधइ सुहफरिस दुसमयठिइय तंजहा पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइय तइय समये णिज्जिण्णं, त बद्धं पुट्ठ उदीरिय वेइय णिज्जिण्णं सेयाले य अकम्म यावि भवइ।।71।।

## शब्दार्थ

प्रश्न– भगवन्! राग–द्वेष तथा मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर– हे गौतम! राग–द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से, सर्वप्रथम तो जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे उद्यमी बनता है, फिर आठ प्रकार के कर्मो की गाठ से मुक्त होने के लिए क्रमपूर्वक अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्मो का क्षय करता है। उसके अनन्तर पाच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म, नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म और पाच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् श्रेष्ठ, सम्पूर्ण, आवरणरहित, अन्धकाररहित, विशुद्ध और लोक–अलोक मे प्रकाशक केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है, केवलज्ञानी और केवलदर्शनी होने के बाद जब तक सयोगी होता है। तब तक ईर्यापथिक कर्म बधता है। उस कर्म का स्पर्श सिर्फ दो समय की स्थिति वाला और सुखकर होता है। वह कर्म पहले समय मे बधता है दूसरे समय मे वेदन किया जाता है और तीसरे समय मे नष्ट हो जाता है। परिणामत वह कर्म अकर्म रूप हो जाता है।

## व्याख्यान

शास्त्र मे कहा है– **रागो य दोसो य बीय कम्मबीय'** अर्थात् राग और द्वेष– यह दोनो कर्मबीज हैं। ससार से मुक्त होने के लिए इस कर्मबीज को दग्ध कर देना आवश्यक है। द्वेष को जीतना जितना कठिन है, उसकी अपेक्षा राग को जीतना और अधिक कठिन है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने मे राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व, ये तीनो बाधक है। यहा राग–द्वेष

और मिथ्यात्व को एक साथ बतलाकर उनका कार्य–कारण सम्बन्ध प्रकट किया गया है।

बाह्य दृष्टि से राग–द्वेष को जीत लेने से ही यह नही कहा जा सकता है कि वास्तव मे राग–द्वेष जीत लिए गये हैं। जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना हो, तभी समझना चाहिए कि राग–द्वेष पर विजय हो चुकी है। अगर इस रत्नत्रय की भलीभाति आराधना नही होती, तो समझना चाहिए कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व को लोकदिखाऊ ही जीता है, वास्तविक रूप से नही।

जिस काम को करने मे कोई कष्ट नही होता, लोग उसे करने के लिए तैयार हो जाते है। मगर कष्टकारी कार्य करने के लिये लोग तैयार नही होते। जैसे एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करना भी शास्त्रसम्मत है, किन्तु एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए जितना पुरुषार्थ करना पडता है। उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा पुरुषार्थ पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा के लिए करना पडता है और पचेन्द्रियो मे भी पशुओ की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करने मे सबसे ज्यादा श्रम करना पडता है। जीवत्व की दृष्टि से तो एकेन्द्रिय भी जीव हैं और पचेन्द्रिय भी जीव है, परन्तु पचेन्द्रिय को और उसमे भी मनुष्य की रक्षा करने मे राग–द्वेष को अधिक मात्रा मे जीतना पडता है। इसलिए समस्त प्राणियो मे सबसे पहले मनुष्य रक्षा का पात्र है। परन्तु आज तो उलटी गगा बह रही है। आज लोग एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए तो तैयार हो जाते हैं, लेकिन पचेन्द्रिय और मनुष्य की रक्षा करने मे उपेक्षा बतलाते है। एक बकरे को छुडाकर पीजरापोल मे भेज देना सरल है, इस कारण उसकी रक्षा करने के लिए लोग तैयार हो जाते है, मगर मनुष्य की रक्षा करने का अवसर आने पर विचार मे पड जाते हैं। बकरे को पीजरापोल मे भेजकर लोग अपनी जिम्मेवारी से छूट जाते हैं लेकिन विचार करो कि राग–द्वेष को अधिक कहा जीतना पडता हे? बकरे की रक्षा करने मे अधिक राग–द्वेष जीतना पडता हे या मनुष्य की रक्षा करने मे? कदाचित् लोग मनुष्य के प्रति दया दिखलाते भी हैं तो पैसा, आधा पैसा देकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं। वे यह नही सोचते कि मनुष्य के प्रति हमारी गहरी जिम्मेदारी हे। वास्तव मे मनुष्य की दया किस प्रकार की जा सकती है ओर मनुष्य की दया करने की हमारे ऊपर कितनी जिम्मेवारी है यह बात स्पष्ट करने के लिए एक सुना हुआ उदाहरण इस प्रकार ह –

कहते है, अमेरीका मे दो मित्र गिरजाघर जा रहे थे। इस गिरजाघर के बाहर कुछ लूले–लगडे भिखारी पडे थे। एक लगडे को देखकर एक मित्र को दया आई। दया तो दोनो के हृदय मे उत्पन्न हुई थी, मगर एक ने अपनी दया सफल करने के लिए जेब से कुछ पैसे निकालकर भिखारी को दे दिये। यह देखकर दूसरे ने कहा– तुमने इस लगडे भिखारी पर दया तो की, किन्तु यह तो भिखारी का भिखारी ही रहा! हृदय मे दया उत्पन्न होने पर भी और पैसे देने पर भी भिखारी का भिखारीपन तो मिटा नही!

सुनते हैं, मुम्बई, कलकाता आदि बडे शहरो मे लोग प्राय अन्धो को पैसा देते है, आख वालो को बहुत कम देते हैं। अतएव अनेक भिखारी अपने बालको की आखे इसलिए फोड डालते हैं कि वे अन्धे हो जाएगे तो उन्हे ज्यादा पैसे मिलेगे।

दूसरे मित्र ने पैसे देने वाले से कहा– अगर हमारे अन्त करण मे उस भिखारी के प्रति सचमुच अनुकम्पा हो तो हमे सिर्फ कुछ पैसे देकर ही छुटकारा नही पा लेना चाहिए, वरन् उसका भिखारीपन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। भिखारी पर दया करके तुमने पैसे का, ममत्व का त्याग किया है, सो तो ठीक है, मगर तुमने सच्ची दया का परिचय नही दिया।

पहले मित्र को इस प्रकार कहकर दूसरा मित्र उस लगडे भिखारी को अपने घर ले गया और बनावटी पैर लगाकर उसे इस योग्य बना दिया कि वह चलने–फिरने मे समर्थ हो गया। इसके बाद उसे कोई काम सिखलाकर ऐसा बना दिया कि उसे भीख न मागनी पडे।

इस घटना पर विचार करो। सोचो कि दोनो मे से किसकी अनुकम्पा अच्छी और ऊची है? इस प्रश्न का यही निश्चित उत्तर मिलेगा कि जिसने राग–द्वेष को जीतने का विशेष पुरुषार्थ किया है, उसी की दया उच्च है। शास्त्र की दृष्टि से एकेन्द्रिय या पचेन्द्रिय प्राणी मे जीवात्मा की अपेक्षा से कोई भेद नही है। परन्तु जितनी दया बडे प्राणियो पर की जाएगी, उतना अधिक राग–द्वेष जीतना पडेगा।

कहने का आशय यह है कि लोग राग–द्वेष को जीतने की बात तो करते है मगर सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना होने पर ही माना जा सकता है कि राग–द्वेष पर विजय प्राप्त की गई। ऊपर से राग–द्वेष को जीतने की बात करना और भीतर–भीतर क्रोध या राग–द्वेष से जलना, राग–द्वेष जीतने का चिह्न नही है। आत्मा भीतर से भी शात हो और बाहर से भी शात हो तभी राग–द्वेष पर विजय पाना कहा जा सकता है।

एक आदमी ने तीन आदमियो को गाली दी। गाली सुनकर एक ने सोचा– मैं यही नही जानता कि गाली किसे कहते हैं? गाली देने वाला मुझे गाली नही, किन्तु उपदेश दे रहा है। वह मुझे लुच्चा कह रहा है, अगर मुझ मे लुच्चापन है तो मुझे उसका त्याग कर देना चाहिए और सचमुच मुझ मे लुच्चापन है, और यह आदमी उसकी निन्दा करता है तो क्या बुरा करता है? इस प्रकार विचार करके पहला मनुष्य शात रहा। उसके हृदय मे लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न नही हुआ।

दूसरे आदमी ने कहा– यह मुझे गालिया दे रहा है। यह कहकर उसने गाली देने वाले को दण्ड दिया।

तीसरे आदमी को गालिया असह्य मालूम हुई। पर उसने सोचा– गाली देने वाला बलवान् है और मैं निर्बल हू, अगर मैं उसे कुछ कहूगा तो वह मुझे मार देगा।

इन तीन तरह के मनुष्यो मे से तुम किसे अच्छा और किसे बुरा कहोगे? इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जायेगा कि पहले मनुष्य ने पूरी तरह अहिसा का पालन किया और गाली के विषय मे राग–द्वेष जीत लिया है। जब कि तीसरे आदमी ने अहिसा का सिर्फ ढोग ही किया है। उसमे वास्तविक अहिसा नही है। उसने दिखावटी तौर पर क्रोध को जीता है, दरअसल नही। उसके दिल मे क्रोध है, बदला लेने की भावना है, पर अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है। इस प्रकार की अहिसा या क्षमा तमोगुणी है। पहले मनुष्य ने जिस अहिसा का परिचय दिया, वह अहिसा सतोगुणी हे।

हृदय मे राग–द्वेष उत्पन्न न होना, अपूर्व शाति रहना सतोगुणी क्षमा हे। हृदय मे जब सतोगुणी क्षमा रहती है, तभी सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र के पर्याय उत्पन्न होते हैं। अतएव अगर तुम सिद्धान्त के अनुसार राग–द्वेष को जीतना चाहते हो तो बाहरी तोर पर ही राग–द्वेष को जीतने मे मत लगे रहो। पर भीतर से ही उन्हे जीतने का प्रयत्न करो। भीतर और बाहर से आत्मा को जीतोगे तो तुम्हारी आत्मा का अवश्य कल्याण होगा।

कर्म का बन्धन एक महाबन्धन हे। जब तक जीवात्मा कर्मबन्धन से बद्ध हे, तब तक उसे सच्चे सुख की प्राप्ति नही हो सकती। शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त होना चाहिए। बन्धन मे दु ख और मुक्ति मे सुख हे।

कर्मबन्धन के कारण ही प्राणी अनेक प्रकार की सासारिक दु ख परम्पराए सहन करते हैं। प्राणी जिस सुख–दु ख का अनुभव करते हें, उसका मुख्य कारण शुभ–अशुभ कर्म हे।

कर्म अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ व्यापार है और उनसे बद्ध होने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गल। प्राणी मन, वचन और काय से जो शुभ या अशुभ प्रवृत्तिया करते है और इन प्रवृत्तियो के अनुसार ही शुभ–अशुभ फल रूप मे सुख–दु ख उन्हे प्राप्त होता है।

ससार मे कोई गरीब, कोई अमीर, कोई दु खी, कोई सुखी, कोई राजा तो कोई रक है। इस विचित्रता का मुख्य कारण कर्म है। जीवात्मा मानसिक और वाचिक तथा कायिक कर्मदण्ड से ही दण्डित होता है और फलत जुदी–जुदी योनियो मे भ्रमण करता है।

कर्म का बडा–भारी दण्ड, ससार के जजाल मे से मुक्त न होने देना है। ससार मे रहकर अनेक प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि, जन्म, जरा, मरण आदि की वेदनाओ वाली अवस्थाए प्राप्त करना और दुस्सह दु ख भुगतते रहना ही कर्म का महान् दण्ड है।

यह कर्म–दण्ड प्रत्येक प्राणी को सहन करना ही पडता है। कर्म के इस अपराध का दण्ड समभाव से सहन किये बिना कोई भी प्राणी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नही हो सकता। शास्त्रकार तो स्पष्ट शब्दो मे कहते है–

**कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।**

अर्थात् किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही मिलता।

कर्मबन्धन के कारण ही जीवात्मा नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति– इन चार गतियो मे तथा चौबीस दण्डको मे और चौरासी लाख जीव–योनियो मे भ्रमण करता है और शुभाशुभ कर्मानुसार सुख–दु ख का कडुवा–मीठा अनुभव करता है।

इन कर्मबन्धनो का मूल कारण तो राग और द्वेष ही हैं। अगर राग और द्वेष रूपी इन दो कर्मबीजो को निर्मूल कर दिया जाये तो जीवात्मा कर्मबन्धनो से मुक्त हो सकता है। शास्त्रकार फिर कहते है–

**रागो य दोसो य बिय कम्मबीयं।**

अर्थात् राग और द्वेष, ये दोनो कर्मो के बीज हैं।

राग और द्वेष को दूर करने के लिए शास्त्रकारो ने कर्मबन्धन के कारणो को दूर करना आवश्यक बतलाया है। मुख्य रूप से कर्मबधनो के पाच कारण है– (1) मिथ्यात्व, (2) अविरति (3) प्रमाद, (4) कषाय और (5) योग।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु मे श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु मे श्रद्धा होना। अविरति अर्थात् दोषो से विरत न होना। प्रमाद अर्थात् मद, विषय कषाय निद्रा विकथा आदि। कषाय अर्थात् राग–द्वेष। योग अर्थात्

मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति। इन पाच कारणो से जीवात्मा कर्म–परमाणुओ को ग्रहण करते हैं। अतएव इन कर्मबन्धन के कारणो को दूर करना उचित है।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्यागा जाता है।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म–बीज दुखोत्पत्ति का कारण है। यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हे दूर करने से क्या लाभ होता है?

राग–द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है। राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमे विद्यमान अनन्त शक्ति–सामर्थ्य प्रगट हो जाता है। जीवात्मा मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तवीर्य आदि विद्यमान हैं, किन्तु कर्म के आवरण के कारण आत्मा की शक्तिया तिरोहित हो रही है।

प्रश्न किया जाता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मो को किस प्रकार ग्रहण करता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप मे परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारो द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओ को ग्रहण करता हे ओर उनके कर्मरूप परिणमन मे निमित्त बनता है। आत्मा के प्रदेशो के साथ इन कर्म–परमाणुओ का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है।

यद्यपि आत्मा स्वभावत अमूर्त हे तथापि अनादिकाल से कर्म से सबद्ध है। अतएव मूर्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओ को ग्रहण करता हे। वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का हे। वह इस प्रकार हे–

(1) ज्ञानावरणीय कर्म– विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म।
(2) दर्शनावरणीय कर्म– वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढकने वाला कर्म।
(3) वेदनीय कर्म– सुख और दु ख का अनुभव कराने वाले कर्म।
(4) मोहनीय कर्म– श्रद्धा ओर चारित्र का नाश करने वाला कर्म।
(5) आयुष्य कर्म– चारगतियो मे भ्रमण कराने वाला कर्म।
(6) नाम कर्म– गति, शरीर आकृति वर्ण आदि निश्चित करने वाला कर्म।

जिस वृक्ष की जड सूख जाती है, पानी सीचने पर भी वह [illegible]
सकता, विकसित नही हो सकता। इसी प्रकार कर्मोत्पत्ति का मूल [illegible]
मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म उत्पन्न नही होते।

आठ कर्मों मे चार घाती हैं और चार अघाती हैं। घाती कर्म आत्मा के मूल गुणो का घात करते हैं, अतएव उन्हे सर्वप्रथम जीतना आवश्यक है। मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये चार कर्म घाती हैं। ज्यो–ज्यो इन कर्मों को आत्मा जीतता है, त्यो–त्यो उसके गुणो का विकास होता जाता है। कर्मों के विनाश के साथ आध्यात्मिक विकास होता रहता है। कर्मों का जब सम्पूर्ण क्षय हो जाता है तभी परमपद– मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक थोडा–सा भी योग अर्थात् मानसिक, वाचिक या कायिक व्यापार जारी रहता है, तब तक पूर्ण आध्यात्मिक विकास नही हो पाता। चौदहवे गुणस्थान मे अयोगीपन होता है। बारहवे और तेरहवे गुणस्थान मे योग मौजूद रहता है। घाती कर्मों के क्षय के साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन का आविर्भाव होता है। इस अवस्था मे भी योग की विद्यमानता के कारण ऐर्यापथिकजन्य कर्म का आस्रव होता है। मगर वह कर्म प्रथम समय मे बधता है, दूसरे समय मे ही वेदन हो जाता है। तीसरे समय मे तो उसकी निर्जरा होती है।

जो वीतराग और वीतद्वेष है, वह शोकरहित है। जैसे कमल की पखुडी जल मे रहती हुई भी जल से लिप्त नहीं होती उसी प्रकार वीतराग ससार मे रहते हुए भी सासारिक दु खप्रवाह से लिप्त नही होते। शब्दादि

इन्द्रियो के विषय कैसे भी क्यो न हो, उनके मन को लेशमात्र भी न भेद सकते हैं और न ही विकृत कर सकते हैं।

जिस प्रकार जले हुए बीज से अकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार नष्ट हुए कर्मबीजो से भवरूपी अकुर उत्पन्न नही होता।

वीतराग और वीतद्वेष पुरुष किस प्रकार कर्मो का नाश करते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्र मे कहा गया है कि–

अपने राग–द्वेष तथा मोहरूप सकल्पो का स्वरूप विचारने मे उद्यत उन वीतराग पुरुषो को क्रमश समता प्राप्त होती है। फिर विषयो का सकल्प हट जाने पर उनकी काम–गुणो की तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है।

इस प्रकार वीतराग होकर कृतकृत्य हुए उन पुरुषो के ज्ञान–दर्शन को आच्छादित करने वाले तथा अन्य अन्तराय कर्म क्षण–भर मे क्षीण हो जाते हैं और तब वे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बन जाते है।



# बहत्तरवां–तेहत्तरवां बोल

## शैलशी तथा निष्कर्मता

वीतराग पुरुष किस प्रकार मुक्त दशा प्राप्त करते हैं, इस विषय मे भगवान् महावीर ने फरमाया है कि–

**मूलपाठ**

**अह आउयं पालइत्ता अन्तो मुहुत्तद्धाव सेसाए जोग निरोहं करेमाणे सुहुम किरियं अप्पडिवाइ सुक्कझाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं णिरुभइ, मण जोग णिरुभित्ता वइजोगं णिरुंभइ, वइ जोगं णिरुंभित्ता कायजोग णिरुमइ, कायजोगं णिरुभित्ता आणापाणणिरोहं करेइ आणापाण णिरोह करेइत्ता ईसि पंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिण्णकिरिय अणियट्टि सुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउय णाम गोय च एए चतारि कम्मंसे जुगवं खवेइ।।72।।**

**तओ ओरालिय तेयकम्माइं च सव्वाहि विप्पजहणाहि विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एग समएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ परिणिव्वायइ सव्व दुक्खाणं अन्त करेइ।।73।।**

**शब्दार्थ**

(वीतराग पुरुष) आयु पूर्ण करने मे जब अन्तमुर्हुर्त जितना समय शेष रहता है तब योग का निरोध करते हैं और अप्रतिपाती शुक्लध्यान धर कर सबसे पहले मनोयोग का निरोध करते है, तदनन्तर क्रमश वचनयोग और काययोग को रोकते हैं, फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते हैं। तत्पश्चात् जितने समय मे पाच लघु अक्षर बोले जाते हैं, उतने समय की स्थिति भोगकर तथा शुक्लध्यान के समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथे पाये का ध्यान करके वेदनीय कर्म आयुकर्म नामकर्म और गोत्रकर्म– इन शेष रहे हुए चार अघाती कर्मों का एक ही साथ क्षय कर डालते है।।72।।

उसके बाद औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरो का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त करके ऊर्ध्व अफुसमान (सीधी) गति करते हैं और साकार उपयोग से युक्त होकर सिद्ध बुद्ध तथा मुक्त हुए दु ख रहित परिनिर्वाण को प्राप्त होते है।।73।।

**व्याख्यान**

एकहत्तरवे बोल के साथ बहत्तरवे और तेहत्तरवे बोल का घनिष्ट सम्बन्ध है, अत इन अन्तिम दोनो बोलो को एक ही साथ किया जाता है।

71वे बोल से 73वे बोल मे राग–द्वेष तथा मिथ्यादर्शन के त्यागने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे विशेष विचार किया गया है।

ससार का मूल कारण कर्म है और कर्म का मूल कारण राग–द्वेष है, अतएव राग–द्वेष को निर्मूल कर देने से ससार–भ्रमण का अन्त होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार राग–द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से परम्परा से तो मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु आरम्भ मे ही तेरहवा गुणस्थान प्राप्त होता है। तेरहवा गुणस्थान मोक्ष–महल की अन्तिम सीढी है। वहा पहुचने के बाद अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

बारहवे और तेरहवे गुणस्थान का वर्णन लगभग समान है, क्योकि दोनो गुणस्थान क्षायिक भाव के हैं। मोह का क्षय होने पर ही बारहवे गुणस्थान की प्राप्ति होती है। अतएव आत्मा का वहा से पतन नहीं होता, किन्तु तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान पर आरूढ होकर आखिर मोक्ष प्राप्त करता ही है। इसलिये राग–द्वेष जीत लेने के बाद क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध मे कोई प्रश्न नहीं किया गया है, क्योकि रागादि को जीतने वाला मोक्ष प्राप्त करता ही है और इसी कारण यही अन्तिम प्रश्न है।

राग–द्वेष पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने से केवलज्ञान प्राप्त होता है, फिर तेरहवे गुणस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट जितनी स्थिति होती हे, उसमे से अन्तमुर्हूर्त आयु शेष रहने पर वे वीतराग पुरुष योग का निरोध करते है। सबसे पहले अप्रतिपाती शुक्लध्यान का तीसरा चरण धारण करके पहले–पहल मनोयोग का निरोध करते है। मन सज्ञी पचेन्द्रिय को होता है। इस मनोयोग मे जघन्य लोग समझना चाहिये। मनोयोग के असख्यात भेद करके प्रत्येक समय मे प्रत्येक भेद का निरोध करते हैं और असख्यात् समयो मे सम्पूर्ण मनोयोग का निशेध हो जाता हे। वचन योग मे भी जघन्य योग समझना चाहिये। इसी प्रकार जघन्य काययोग के असख्यात भेद करके असख्यात समय मे उसका पूर्ण निरोध करते हैं। इसके पश्चात् पाच लघु अक्षरो के उच्चारण मे जितना समय लगता हे, उतने समय की स्थिति भोग कर

समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद का आलम्बन ले करके शेष रहे हुए वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म और गोत्र का क्षय करते हैं।

मोहनीय कर्म का क्षय होने से तीन घाती कर्म तो नष्ट हो जाते हैं पर चार अघाती कर्म बाकी रह जाते हैं। इन चारो का एक साथ क्षय करके औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त होकर 'अफुसमानगति' से जाते हैं। अर्थात् सिद्ध भगवान् टेढी गति नहीं करते, सीधी गति करते है। 'अफुसमानगति' का अर्थ यह नहीं है कि वे आकाश के प्रदेशो का स्पर्श नही करते। टेढी–मेढी गति न करके सीधी गति करना ही इसका अर्थ है।

टेढी–तिरछी गति कर्म के निमित्त से होती है। वीतराग पुरुष जब मुक्तदशा प्राप्त करते हैं, तब उनके सभी कर्म नष्ट हो चुके होते हैं। अतएव वे सीधी और साकार उपयोगपूर्वक गति करते हैं।

उपयोग के दो प्रकार हैं– साकार उपयोग और निराकार उपयोग। साकार उपयोग ज्ञान का होता है और निराकार उपयोग दर्शन का होता है। कुछ आचार्य ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होना कहते हैं, परन्तु शास्त्र के पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दोनो उपयोग एक साथ प्रयुक्त नहीं होते। सिद्ध होने वाले आत्मा ज्ञानोपयोग से सिद्ध होते हैं। ज्ञान और दर्शन के उपयोग का समय एक ही नही हो सकता। दोनो का उपयोग भिन्न–भिन्न समय मे होता है। अतएव ज्ञानोपयोग मे ही सिद्ध होते हैं।

साकार उपयोग मे सीधी गति करके मुक्तात्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिपूर्ण अवस्था प्राप्त करके निरावरण धर्म प्राप्त करते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा यदि अकर्मा अर्थात् कर्मरहित बन गया है, तो फिर गति किस प्रकार कर सकता है? अगर आत्मा गति करता है तो गति का कारण अवश्य होना चाहिये अर्थात् कर्म होने चाहिये।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गति करना तो आत्मा का स्वभाव है। अपने स्वभाव से आत्मा सीधी गति करता है, टेढी–तिरछी गति कर्म के कारण होती है। मुक्तात्मा सीधी गति करता है और ऐसा करना आत्मा का स्वभाव है।

उदाहरणार्थ, दीपक की शिखा हमेशा ऊपर ही जाती है, क्योकि यही उसका स्वभाव है। दीपक की शिखा को नीचे की ओर करना हो तो दूसरे प्रयोग से ही सम्भव है। इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से सीधी गति करता है और कर्म के निमित्त से टेढी–तिरछी गति होती है।

लेप वाला तूबा लेप हटते ही ऊपर की ओर आता है। जब तक उस पर लेप चढा रहता है, तब तक वह पानी मे डूबा रहता है। इसी प्रकार आत्मा

जब तक कर्मयुक्त रहता है, तब तक टेढी गति करता है। जब कर्मरहित हो जाता है, तो सीधी गति करता है। कहने का आशय यह है कि आत्मा मे गति करने का स्वभाव है। आत्मा स्वभावत ऊर्ध्वगमन ही करता है। अतएव आत्मा कर्मरहित होने पर भी सीधी गति करता है।

अद्वैतवादी लोग सब जीवो मे एक ही आत्मा होना कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन युक्तिसगत प्रतीत नही होता। अगर आत्मा एक ही हो तो एक आत्मा के सिद्ध होने पर समस्त जीवात्माओ को सिद्ध होना मानना पडेगा। इसी प्रकार एक के मुक्त होने पर सभी का मुक्त होना मानना पडेगा। पर वास्तव मे ऐसा नही होता। सब मे एक ही आत्मा है, यह कथन पूर्वोक्त कारणो से तथा अन्य अनेक कारणो से युक्तियुक्त नहीं जान पडता। अतएव सबका आत्मा अलग–अलग है। यही मानना उचित है।

शास्त्रकार ने राग–द्वेष और मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने का फल परम्परा से सिद्ध गति प्राप्त होना बतलाया है। जो अवस्था सिद्ध भगवान् ने प्राप्त की है, वही अवस्था प्राप्त करने का हमारा भी प्रयास होना चाहिये। सिद्धिगति प्राप्त करने का दृष्टिबिन्दु सामने रखकर सतत अभ्यास किया जाये तो सहज ही वह प्राप्त हो सकती है। जिन महापुरुषो ने यह अवस्था प्राप्त की है, उन्होने भी अभ्यास करते–करते ही प्राप्त की है। जो महापुरुष सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं, जिन्होने राग–द्वेष पर विजय प्राप्त करली है और जो देह मे रहते हुए भी विदेह की भाति रहते हैं, उन महापुरुषो द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने से अपन भी वह अवस्था प्राप्त कर सकते है। हा, उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करना अपना काम है। पुरुषार्थ करते रहने से जब सिद्ध गति प्राप्त हो जाती है, तब कोई भी काम करना शेष नही रहता।

मार्गदर्शक मार्ग प्रदर्शित कर देता है, मगर उस मार्ग पर चलने का काम तो प्रवासी को ही करना पडता हे। केवलज्ञानी महापुरुषो ने मोक्ष का मार्ग हमे बतलाया है। उस पर चलने का पुरुषार्थ हमे ही करना पडेगा। पुरुषार्थ किये बिना सिद्धि नही मिल सकती।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ही उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है। श्री उपासकदशागसूत्र के सकडालपुत्र के अध्ययन मे इसी सिद्धान्त का महत्त्व प्रदर्शित किया गया हे। गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नही हैं, जो होनहार हे वही होता हे। इस मत के विरुद्ध भगवान् का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकर तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता हे। सक्षेप मे, भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी था।

एक बार भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र से कहा– आत्मा [illegible] बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से सिद्ध होता है। इस कथन के [illegible] सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्मा सिद्ध नहीं होता [illegible] वाला हो तो हो जाता है।

सकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था। इस कारण [illegible] गोशालक के मत का समर्थन किया। एक दिन सकडालपुत्र ने अपनी दु[illegible] मे से मिट्टी के बर्तन बाहर निकाले और धूप मे सुखा दिये। तब [illegible] महावीर ने उससे कहा– हे सकडाल! ये मिट्टी के बर्तन किस तरह बने हैं?

सकडालपुत्र ने बर्तनो के बनने का क्रम बतलाते हुए कहा– जगल से मिट्टी लाया। फिर उसमे दूसरी चीजो का मिश्रण करके मिट्टी का पि[illegible] बनाया। उसे चाक पर चढाया। और तब बर्तन बनाये हैं।

भगवान् ने कहा– ये बर्तन उत्थान आदि से ही बने हैं न?

सकडाल– नही, होनहार ही होता है।

भगवान्– अगर कोई तुम्हारे बर्तनो को फोड डाले तो?

सकडाल– मेरे बर्तन फोडने वाले को मै बिना मारे नही छोडूगा। मैं उसके हाथ–पैर तोड दूगा।

भगवान्–सकडाल! तुम उसे इतना दण्ड क्यो दोगे? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है, फिर तुम दण्ड क्यो दोगे? तुम्हे अपने मन्तव्य के अनुसार तो यही मानना चाहिये कि लकडी के सयोग से बर्तन फूटने वाले थे सो फूट गए।

भगवान् का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार मे पड गया। इतने मे ही भगवान् ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा– हे सकडालपुत्र! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है, तो तुम क्या करोगे?

सकडालपुत्र ने कहा– मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक–कान काट लूगा, यहा तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूगा।

भगवान्– हे सकडालपुत्र! तुम्हारे मत के अनुसार तो होनहार ही होता है। फिर तुम्हे उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नही देना चाहिये।

भगवान् की युक्तिसगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया। उसने भगवान् से कहा– 'भगवन्! मैं धर्म श्रवण करना चाहता हू।' भगवान् ने उसे धर्म का श्रवण कराया। भगवान् की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारी श्रावक बन गया। जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा [illegible] था तब तक उसमे मताग्रह था। जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध

हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्य धर्म स्वीकार किया। सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान् ने उसे श्रावक बनाया। क्या ऐसा करना ठीक था? उन्होने कुम्भार को श्रावक बनाकर ससार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई भी किसी भी वर्ण या जाति का क्यो न हो, मुझे किसी भी प्रकार का पक्ष नहीं है। मैं सबका कल्याण चाहता हू। भगवान् के इस कथन पर तुम भी थोडा विचार करो।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है। उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिये गोशालक उसके पास पहुचा। गोशालक ने विचार किया– सकडालपुत्र तो महावीर भगवान् का पक्का श्रावक बन गया है। तब उसने भगवान् की प्रशसा करना आरम्भ किया।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा– 'क्या यहा महामाहण, महायान, महानिर्यामिक महागोप तथा महासार्थवाह आये थे?'

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणो का अर्थ पूछा। गोशालक ने अर्थ समझाया। तब सकडालपुत्र ने कहा– तुमने मेरे गुरु की प्रशसा की है, इस कारण मेरी दुकान मे ठहरो और पाट आदि जो चाहिये सो लेलो। यह सब मैं तुम्हे गुरु मानकर नही देता हू, वरन् अपने गुरु भगवान् महावीर की प्रशसा करने के कारण दे रहा हू।

कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर का सिद्धान्त उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का है। 'जो होनहार है, सो होगा' यह नियतिवाद गोशालक का मत है। हम भगवान् महावीर के उपासक हैं, अतएव सिद्धगति प्राप्त करने के लिये हमे पुरुषार्थ करना चाहिये।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त भवितव्यता– नियतिवाद का एकान्त निषेध भी नहीं करता। भगवान् के सिद्धान्त का मन्तव्य यह हे कि भाग्य के भरोसे बैठकर पुरुषार्थ मत छोडो। पुरुषार्थ करते रहो। पुरुषार्थ करने पर भी जो होना होगा सो होगा। मगर होनहार के भरोसे पुरुषार्थ त्याग देना उचित नही है। पुरुषार्थ के बिना कार्य की सिद्धि नही होती। पुरुषार्थ बिना ही सिद्धगति प्राप्त हो सकती तो शास्त्र की या धर्मोपदेश की क्या आवश्यकता थी? जो कार्य आप ही हो जाये उसके लिये श्रम करने का उपदेश क्यो दिया जाये? वास्तव मे प्रत्येक कार्य पुरुषार्थ के अधीन हे, अतएव पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।



# उपसंहार

सम्यक्त्वपराक्रम नामक 29 वा अध्ययन समाप्त हो रहा है। इस अध्ययन की समाप्ति करते हुए कहा गया है–

**मूलपाठ**

**एस खलु सम्मत्त परक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेण भगवया महावीरेणं आघविए, पण्णविए, परूविए, दसिए, णिदंसिए उवदसिए।।74।। त्ति वेमि। इअ सम्मत्तपरक्कमे अज्झयणे समत्ते।**

**शब्दार्थ**

इस सम्यक्त्व–पराक्रम नामक अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान् महावीर ने सामान्य मे विशेष और विशेष मे सामान्य निरूपण करने हेतु, फल आदि के द्वारा प्रकाशित किया है, उसका स्वरूप बतलाया है, उपदेश दिया है, दृष्टान्त आदि द्वारा समझाया है।

इस सूत्रपाठ के साथ ही यह अध्ययन समाप्त होता है। इस अध्ययन मे सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम करने को कहा गया है। यह बतलाया गया है कि सम्यक्त्वपूर्वक किये गये पराक्रम का फल क्या होता है? समकित अर्थात् सच्ची श्रद्धा होने पर ही सब पराक्रम सार्थक होते हैं। जैसे एक का अक हो तो ही शून्य का महत्त्व होता है– अकेले शून्य का नही। इसी प्रकार समकितपूर्वक किया गया पराक्रम ही मुक्ति के लिये सार्थक होता है। कहा भी है–

**एका से शून्य दस गुनी, एका–विन सब शून्य।**
**जा घर एका पाइये, बाकां भारी पुण्य।।**

अर्थात् एक (1) अक पर शून्य (0) हो तो वह एक को दस बनाता है पर अक के बिना अकेले शून्य का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार मोक्ष

प्राप्ति के लिये किये गये पराक्रमो का मूल्य तभी है जब वह पराक्रम सम्यक्त्वपूर्वक हो। समकित के अभाव मे सभी पराक्रम व्यर्थ हैं।

एक का अक होने पर भी इस बात का खास तौर पर ध्यान रखना पडता है कि शून्य उसके आगे लगाया जाये या पीछे। इसी प्रकार सम्यक्त्व होने पर भी इस बात का विचार करना आवश्यक है कि पराक्रम किस प्रकार किया जाये? इस अध्ययन मे यही विचार किया गया है कि सम्यक्त्व मे किस प्रकार पराक्रम करना चाहिए। श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थरूप से यह अध्ययन फरमाया है और गणधरो ने सूत्ररूप मे इसे ग्रथित किया है। इसमे जो–कुछ भी कहा गया है वह सम्यक्त्व मे पराक्रम करने के लिये ही। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद किस प्रकार पराक्रम किया जाये, जिससे सरलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त हो सके, यही अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रत्येक धर्मक्रिया का मूल सम्यक्त्व है। अन्य क्रियाए उसकी शाखाए हैं। मूल के अभाव मे शाखाए नही हो सकती। साथ ही मूल सूख जाने पर शाखाए भी सूख जाती हैं। अतएव मूल का सुरक्षित होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व का सामान्य अर्थ है– श्रद्धा। धर्मक्रिया करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा होना आवश्यक है। श्रद्धा होने पर ही धर्मक्रिया सफल होती है। इसलिए शास्त्र मे कहा है–

**सद्धा परमदुल्लहा**

अर्थात् श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। ससार मे अनेक वस्तुए दुर्लभ मानी जाती हैं, परन्तु शास्त्रकारो ने मुख्य रूप से चार वस्तुए दुर्लभ बतलाते हुए कहा है–

**चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जतुणो।**
**माणुसत्तं सुई सद्धा, सजमम्मि य वीरियं।।**

अर्थात् ससार मे प्राणियो को इन चार वस्तुओ की प्राप्ति परम दुर्लभ है– (1)मनुष्यत्व, (2) धर्मश्रवण, (3) धर्मश्रद्धा और (4) सयम मे पराक्रम।

ससार मे सम्पत्ति पाना, सत्ता पाना आदि दुर्लभ माना जाता है परन्तु शास्त्रकार फरमाते हैं कि यह दुर्लभ मानी जाने वाली वस्तुए तो सुलभ हो सकती हैं, परन्तु मनुष्य–देह मिल जाना और फिर उसमे मनुष्यत्व प्रकट होना, सत्यधर्म का श्रवण, सत्यधर्म के प्रति श्रद्धा और सयम मे पराक्रम होना, ये चार वस्तुए तो अत्यन्त ही दुर्लभ हें।

सद्धर्म पर जब सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती हे, तो धर्म के लिये आत्मसमर्पण करने की भावना का उद्भव होता हे। जिस कार्य पर श्रद्धा

उत्पन्न हो जाती है वह भले ही कठिन हो, फिर भी उसे सम्पन्न किया जा
है। इसके विपरीत जिस पर श्रद्धा नही होती, वह कार्य सरल होने पर भी कठ
मालूम होता है। अतएव जो कार्य करना हो, उसके प्रति दृढ श्रद्धा होना
अत्यावश्यक है। श्रद्धापूर्ण कार्य के लिये किसी की पेरणा की भी आवश्यक
नही रहती। उदाहरणार्थ, पुत्र का विवाह करने के लिये कौन पेरणा करता है?
पुत्र के विवाह सम्बन्धी कार्यो मे कठिनाई पेश आती है, परन्तु उस कार्य मे
श्रद्धा होने से दूसरे की प्रेरणा के बिना ही वह कठिन कार्य सरलतापूर्वक किया
जाता है। जब व्यवहार मे श्रद्धा की आवश्यकता है तो धर्म मे श्रद्धा की
आवश्यकता क्यो न होगी? व्यावहारिक कार्य भी श्रद्धा के अभाव मे सम्पन्न
नही होते तो मोक्ष सम्बन्धी कार्य बिना श्रद्धा के किस प्रकार सम्पन्न हो सकते
हैं? अतएव भगवान् का कथन ध्यान मे रखकर सम्यक्त्वपूर्वक मोक्ष के लिये
पराक्रम करना चाहिये। अगर हम पूर्ण रूप से भगवान् की वाणी को अभी
आचरण मे नही ला सकते हो, तो भी शक्ति के अनुसार तो उसे स्वीकार करना
ही चाहिये। भगवान् की सम्पूर्ण वाणी तो गणधर भी नही धारण कर सकते।
वे भी भगवद्-वाणी का कुछ अग ही ग्रहण कर पाते हैं। ऐसी स्थिति मे हमारे
लिये तो यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? अत भगवान् की वाणी पर हमे
यथाशक्ति अमल करना चाहिये। हम अधिक न कर सके तो कम से कम उस
वाणी पर श्रद्धा तो रख ही सकते हैं। आचरण समान न होने पर भी श्रद्धा तो
चौथे गुणस्थान और तेरहवे गुणस्थान वाले के समान ही हो सकती है। पक्षी
अपनी चोच मे समुद्र नही भर सकते, मगर उस पर श्रद्धा तो सभी पक्षी रख
सकते हैं। इसी प्रकार अगर तुम भगवद्-वाणी का यथावत् पालन नही कर
सकते तो उस पर श्रद्धा रक्खो और जितनी बन सके, उतना पालन करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि हमे किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिये?
आप जो कहते हैं, वही दूसरे लोग भी कहते हैं। ऐसी दशा मे किस धर्म पर
श्रद्धा रखनी चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाठशालाए अलग-अलग
होने पर भी कुछ बाते ऐसी होती हैं, जो प्रत्येक पाठशाला मे एक समान मानी
जाती है। उदाहरण के लिये- पाच और पाच दस होते हैं, यह बात प्रत्येक
पाठशाला मे समान रूप से सिखलाई जाती है। अन्य बातो मे मतभेद हो
सकता है मगर इसमे किसी प्रकार का मतभेद सम्भव नही है। इसी प्रकार
वीतराग भगवान् के कहे हुए कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो सबको समान रूप से
मान्य है। उनके विषय मे किसी का मतभेद नही है। दूसरे जो सिद्धान्त हैं,
उनकी अन्य मतो के सिद्धान्तो से तुलना करके देखो और विवेक-बुद्धि द्वारा

उन पर विचार करो। तुम्हे स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि वीतराग भगवान् का कथन ही यथार्थ है। वीतराग भगवान् के कथन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य मतो मे भी अगर कोई अच्छी बात है, तो वह भी अपने लिये ग्राह्य है। दूसरो के नय की उत्थापना न करके अपने नय की स्थापना करना ही स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद सातो नयो को स्वीकार करता है। वह सातो का सग्रह करके यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करता है। स्याद्वाद किसी नय का निषेध नही करता। इससे विपरीत अन्य लोग कोई एक बात पकड बैठते हैं और दुराग्रह करते हैं। जैन दर्शन किसी बात का दुराग्रह नही करता। वह सबकी दृष्टि का यथोचित् समन्वय करके पदार्थ का निरूपण करता है। अन्य मत जब पदार्थ का निरूपण एक ही दृष्टि से करते हैं, तब भी जैन दर्शन को सभी दृष्टिया मान्य हैं। यह बात समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। इससे जैन धर्म की विशालता और मौलिकता का पता चलेगा।

किसी गाव मे एक हाथी आया। उसे देखने के लिये गाव के लोग जमा हो गये। उस गाव मे कुछ अन्धे भी रहते थे। वे भी हाथी देखने चले। रास्ते मे किसी ने उनसे कहा— तुम्हारे आखे नही हैं, हाथी कैसे देख सकोगे? अन्धो ने कहा— हम हाथ फेर कर हाथी देख लेगे।

अन्धे हाथी के पास पहुचे और हाथ फेर कर उसे देखने लगे। एक अन्धे के हाथ मे हाथी का दात आया वह कहने लगा— मैं समझ गया, हाथी कैसा होता है? हाथी मूसल जैसा होता है।

दूसरे अन्धे के हाथ मे हाथी की सूड आई। वह पहले अन्धे से कहने लगा। तेरा कहना गलत है। हाथी मूसल जैसा नही, कोट की बाह सरीखा होता है।

तीसरे अन्धे के हाथ मे हाथी का पेर आया। उसने कहा— तुम झूठे हो। हाथी खम्भा सरीखा हे।

चोथे के हाथ मे हाथी का पेट लगा। वह बोला— तुम तीनो झूठ कहते हो हाथी तो कोठी सरीखा होता हे।

पाचवे अन्धे के हाथ मे हाथी के कान आये। वह बोला— तुम सभी झूठे हो। हाथी तो सूप (छाजला) सरीखा हे।

इस प्रकार ओर भी अधे एक—दूसरे को झूठा कहने लगे ओर आपस मे झगडने लगे। इतने मे वहा आख एक वाला मनुष्य आ पहुचा। आख वाले ने उन अधो से कहा— तुम लोग आपस मे लडते क्यो हो? तुम सब एक—एक

उतना ही अधिक वाद–विवाद कर सकेगा और वाद–विवाद करते–करते जीवन ही समाप्त हो सकता है। अतएव वाद–विवाद मे न पडकर भगवान् के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने मे ही सम्यक्त्वपूर्वक पराक्रम करना चाहिये।

निस्पृह होकर अपने आत्मा की तराजू पर भगवान् की वाणी तोलोगे तो भगवान् के वचन की सत्यता प्रतीत हुए बिना नही रहेगी। आत्मा स्वय ही सत्य–असत्य तोलने के लिये तराजू है। अगर आत्मा कुटिलता का त्याग करके सरलता धारण करे तो अवश्य ही यह निर्णय करने मे समर्थ बन सकता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? आत्मा वास्तव मे सिद्ध के समान है, मगर इस समय मोह मे पडा है। इस मोह को हटा देना ही सिद्ध के समान बनने का उपाय है। आत्मा का कल्याण आत्मा के पास ही है। यह बात ध्यान मे रखकर सम्यक्त्व के विषय मे पराक्रम करो। इससे अवश्य ही स्व पर का कल्याण होगा।

महावीर भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करके जिस धर्म की प्ररूपणा की है और जिसका वर्णन इस अध्ययन मे किया गया है, उसका परिपूर्ण विवेचन तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है। साधारण व्यक्ति के बूते का यह काम नही है। फिर भी आकाश का पार न पाने पर भी पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार आकाश मे उडते ही हे। मै आकाश का पार नही पा सकता', यह सोचकर पक्षी आकाश मे उडना नही छोड देता। इसी प्रकार यहा अपनी शक्ति और मति के अनुसार सम्यक्त्व–पराक्रम अध्ययन का विवेचन किया गया है। अगर सूत्र का विवेचन पूरी तरह तुम्हारी समझ मे न आया हो तो भी जितना समझो, उतना ही जीवन मे उतारो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

सर्वप्रथम वीतराग देव निर्ग्रन्थ गुरु ओर केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करो। यही कल्याण का मार्ग हे।



# श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

## – एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा एक महान् क्रातिकारी सत हुए है। आषाढ शुक्ला अष्टमी, सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए है। आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो से सकलित, सम्पादित ग्रथो को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणो का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा है। इसमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

सस्था द्वारा एक पुस्तकालय का सचालन किया जाता है, जिसमे लगभग 5000 पुस्तके एव लगभग 400 हस्तलिखित ग्रथ है। इसी से सम्बद्ध वाचनालय मे दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक– कुल 30 पत्र–पत्रिकाए उपलब्ध करवाई जाती है। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इससे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र मे पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र मे प्रतिष्ठित है।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का सचालन किया जाता है, जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई, बुनाई, कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों मे योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बाठिया की जन्म–जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयो पर प्रवचन आयोजित किए जाते है।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।